

प्राक्-कथन

वर्तमान में वेदों की ११ शाखाएं उपलब्ध हैं। जिनमें से शाकल-शाखा प्रसिद्ध ऋग्वेद है। माध्यन्दिनी शाखा उत्तर-भारत में तथा तत्तिरीय-शाखा दक्षिण-भारत में प्रसिद्ध यजुर्वेद है। कौथुम-शाखा प्रसिद्ध सामवेद और शौनक-शाखा प्रसिद्ध अथर्ववेद है। इन्हीं वेदों का अब यत्र तत्र पठन-पाठन का सम्प्रदाय है।

‘पडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च’ इस आगम के द्वारा विधान किया गया है कि छः अङ्गों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष) के सहित वेदों के शुद्ध पाठ का अभ्यास एवं ज्ञान का लाभ करना चाहिए। बिना अर्थ-ज्ञान के केवल पाठ को ही अच्छा नहीं समझा गया। यही भावना “यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव, शुष्कैधो न तज्ज्वलति कश्चित्” (=जो पढ़ा और जाना नहीं, केवल पाठमात्र से उच्चारण किया जाता है, उसका उसी भाँति प्रकाश नहीं होता, जैसे अग्नि-रहित स्थान में रखा हुआ सूखी लकड़ियों का ढेर नहीं जलता) इस आप्त वचन में पाई जाती है।

वेदों में पद-पदार्थों के आधार पर ही उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की व्यवस्था पाई जाती है और उन्हें हृदयगम कराने के लिए ही शाखा-भेद से अक्षरों के ऊपर-नीचे भिन्न-भिन्न रेखाओं का संकेत मिलता है। इन स्वर-चिह्नों का ज्ञान हुए बिना वेदों का अर्थ-ज्ञान नहीं हो सकता।

शाखा-भेद से प्रत्येक वेद के स्वर-चिह्नों का दिग्दर्शन कराते हुए वेद-पाठियों तथा वेदार्थ-बोध के निमित्त वैदिक-स्वरों के जिज्ञासुओं के लाभ के लिए यह ‘वैदिक स्वर-समीक्षा’ नाम की पुस्तक अधिकारी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें विशेष प्रसन्नता होती है। इसे हमारे संस्थान के विशिष्ट विद्वान् पण्डित अमरनाथशास्त्री व्याकरणाचार्य ने प्रातिशाख्य शिक्षा, निरुक्त तथा पाणिनीय-व्याकरण के महाभाष्य, काशिका, सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रमुख ग्रन्थों के वर्षों निरन्तर आलोचन के पश्चात् लिखा है।

यह पुस्तक दस अध्यायों में लिखी गई है। प्रथम अध्याय में उपलब्ध वेद-राशि तथा वैदिक-स्वर का महत्त्व बताया गया है। द्वितीय

अध्याय में संहिता-पाठ के विशेष अङ्ग संहिता दीर्घ, संहिता-अनु-
नासिक, कम्प-स्वर आदि विषयों का विश्लेषण है। तृतीय-अध्याय
में शाकल्य के पद-पाठ की विशेषता दिखाते हुए वेद-शाखाओं के
उपलब्ध पद-पाठों की तुलनात्मक समीक्षा है, तथा पद-पाठ
में 'इति' के योग एवं अवग्रह के साधक-बाधक नियमों का उल्लेख
है। चतुर्थ-अध्याय में उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय का विवेचन
तथा पद-पाठ में गति-स्वर का निर्देश-प्रकार बताया गया है। पञ्चम
अध्याय में आमन्त्रित (संबोधन) के स्वर का तथा षष्ठ-अध्याय
में विभिन्न वेद-शाखाओं के उदात्त और अनुदात्त के स्वर-चिह्नों का
विवेचन है। सप्तम-अध्याय में एकश्रुति का महत्त्व दिखाया है।
शेष अष्टम, नवम, दशम, तीन अध्याय क्रम से उदात्त, अनुदात्त,
स्वरित स्वरों की समीक्षा के हैं। अष्टाध्यायी की स्वर-प्रक्रिया का
ही संक्षिप्त हिन्दी-संस्करण अष्टम और नवम अध्याय को कह सकते
हैं। उदात्त स्वर के 'तिङन्त-स्वर' शीर्षक में नव गणों की किस क्रिया
पर उदात्त-स्वर क्यों किस नियम से होता है, यह प्रसङ्ग विशेष
उल्लेखनीय है। समास-स्वर से पृथक् 'नञ्-स्वर' तथा 'सु-स्वर'
का विवेचन भी उल्लेख-योग्य है। स्वरित स्वर का विवेचन मुख्य-
रूप से प्रातिशाख्यों के आधार पर किया गया है और साथ ही, शाखाओं
के स्वरित-चिह्नों का वैदिक उदाहरणों में विश्लेषण किया है।

सब प्रतिपाद्य विषय वैदिक उदाहरणों से पुष्ट किए गए हैं। अधिक
उदाहरण ऋग्वेद के शब्दों के हैं। जिस शाखा का जो स्वर
सम्प्रदायानुगत है, या पद पाठ सम्प्रदायानुगत है, उन्हें उसी प्रकार
से दिखाया गया है।

टिप्पण-भाग में नीचे उद्धृत सूत्र तथा सन्दर्भ या मन्त्र-वाक्य
आदि ज्यों के त्यों संस्कृत में प्रस्तुत किए गए हैं।

- हमें पूर्ण आशा है कि योग्य लेखक के चिरकालिक स्वाध्याय
और परिश्रम का फल स्वरूप यह उत्तम ग्रन्थ सर्वत्र वैदिक-विद्या के
अध्यापकों एवं छात्रों तथा अन्य सब जिज्ञासु जनों के लिए अत्यन्त
उपयोगी सिद्ध होगा और वे इससे सदा लाभान्वित होते रहेंगे।

वि. वं. दोष सस्थान,
होशियारपुर
२९-५-६४

द्विपद
(द्विपदन्तु)

प्रकाशक का निवेदन

भागीरथी के तट पर हरिद्वार में अखिल भारतीय शिक्षण संस्था ऋषिकुल विद्यापीठ ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना आज से ५८ वर्ष पूर्व महामना श्रीमदनमोहन मालवीयजी की प्रेरणा से श्रीदुर्गादत्त पन्त और सरदार इन्द्रराजशर्मा ने की थी। ऋषिकुल में ब्रह्मचर्याश्रम, संस्कृत-महाविद्यालय, आयुर्वेदिक-कालेज, आयुर्वेदिक फार्मसी, यातुरालय, वेद-कर्मकाण्ड-विद्यालय आदि विभाग उत्तम रीति से कार्य कर रहे हैं। ऋषिकुल के साथ देश के मान्य नेतृत्वों तथा शिक्षा शास्त्रियों का प्रारम्भ से विशेष सम्पर्क रहा है। यहाँ समस्त भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों के बालक संस्कृत, आयुर्वेद, ज्योतिष, वेद कर्मकाण्ड, अंग्रेजी हिन्दी, गणित आदि विषयों की शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस संस्था से सहस्रों योग्य स्नातक शिक्षा प्राप्त करके उत्तम पदों पर प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। यह संस्था भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों से मान्य एवं सहायता प्राप्त है।

गत वर्ष से पूज्य महामना मालवीयजी की पुण्य-स्मृति में भारत सरकार की सहायता से ऋषिकुल में मालवीय अनुसन्धान विभाग की स्थापना हुई है। इसके संचालन के लिए निम्न-लिखित व्यक्तियों की एक समिति बनाई गई है, जिसके निरीक्षण में वेद, संस्कृति और पुराण इन तीन विषयों पर अनुसन्धान कार्य हो रहा है। इन विषयों पर योग्य विद्वानों ने अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों की रचना की है। इन ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा है।

मालवीय-अनुसन्धान-समिति

१. कुलपति—(प्रधान सभापति) श्रीसत्यनारायणसिंह केन्द्रीय मंत्री
भारत सरकार।
२. उपकुलपति—(अध्यक्ष) श्रीस्वामी आनन्द जी।
३. उपाध्यक्ष—श्रीस्वामी वेदव्यास जी।
४. „ —श्रीसिद्धगोपालशास्त्री जी।
५. प्रधान-मन्त्री—श्रीआनन्दप्रकाश वाशिष्ठ पण्डासरदार।
६. मन्त्री व निदेशक—श्रीचन्द्रशेखरशास्त्री साहित्यायुर्वेदाचार्य
७. सदस्य—श्रीआचार्य प्रभाकर मिश्र एम ए.।

अभी तक इन तीन ग्रन्थों की रचना अनुसन्धान विभाग में हुई है।

१. वेद-विषय मे—'वैदिक-स्वर समीक्षा'—लेखक—विद्याभास्कर श्रीअमरनाथ शास्त्री व्याकरणाचार्य ।
२. संस्कृति-विषय मे—'भारतीय संस्कृति'—लेखक—श्रीअमरचन्द्रशास्त्री साहित्याचार्य विद्यावाचस्पति ।
३. पुराण विषय मे—'पुराण-मीमांसा'—लेखक—श्रीप्रेमाचार्यशास्त्री साहित्याचार्य एम ए ।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों पर भी अनुसन्धान का कार्य आगे भी चलता रहेगा। मालवीय-अनुसन्धान भवन का निर्माण केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार की सहायता से किया गया है। पुस्तक तथा पर्नीचर आदि के लिए भारत सरकार ने सहायता दी है। भविष्य में यह विभाग दिनोंदिन केन्द्रीय सरकार की सहायता से अत्यधिक उन्नति करेगा, यह हमें पूर्ण आशा और विश्वास है।

अन्त में मैं अनुसन्धान विभाग की ओर से "वैदिक स्वर समीक्षा" पुस्तक के लेखक श्रीअमरनाथशास्त्रीजी का अनेक धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने दिन-रात अथक परिश्रम करके इस महत्त्वपूर्ण उपयोगी ग्रन्थ की रचना की है। साथ ही माननीय आचार्य श्रीविश्वबन्धुशास्त्री एम ए., एम. ओ. एल. का भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने "प्राक् कथन" लिखकर हमें आशीर्वाद दिया है और अने प्रैत में इस ग्रन्थ का मुद्रण कराया है।

चन्द्रशेखर शास्त्री

प्रस्तावना

१. ग्रन्थ की आवश्यकता—भारतवर्ष की धर्मप्राण जनता का जीवन-चक्र साङ्गोपाङ्ग वेद-राशि की धुरी के चारों ओर घूमता है। जन्म से मृत्युपर्यन्त वेद मन्त्रों के बिना श्वास लेना भी मानो वर्जित है। क्योंकि धर्म का महान् अनादि ज्योति-स्तम्भ वेद को ही माना गया है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (मनुस्मृति २, ६)। इसी लिए महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण-शास्त्र के प्रयोजनों की विवेचना करते हुए—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मं पढढो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' (=ब्राह्मण को निष्कारण से साङ्गोपाङ्ग वेद पढना चाहिए और उसका अर्थ-ज्ञान करना चाहिए) इस आगम को मुख्य लक्ष्य माना है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी बहुत नहीं तो कम से कम ऋग्वेद को विश्व का सब से पुराना पहला ग्रन्थ माना है।

साहित्य तात्कालिक समाज का दर्पण होता है, जो कुछ भले बुरे सिद्धान्त तात्कालिक समाज के अङ्ग होते हैं, वी साहित्यकार की लेखनी से साहित्य में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। महर्षि की लेखनी ही इस तथ्य में प्रमाण है कि पुष्पमित्र के समकालीन (लगभग दो सौ वर्ष ईसवीपूर्व) महर्षि के काल में द्विज वंश विशेष कर ब्राह्मण वेद पढने-पढाने में अपना गौरव समझते थे। भारत के नगर नगर ग्राम ग्राम तथा मोहल्लों में घर घर ब्रह्म-धोष सुनाई पड़ता था। यही वेद ज्ञान का स्वर्ण-युग बहुत काल नहीं बीता, गोस्वामी तुलसीदास-जी के जीवन-काल में मुलरित था। इसलिए अपने रामचरितमानस में वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए स्थान-स्थान पर टर्रं टर्रं करत हुए मैदकों की उपमा उन्होंने घर घर वेद ध्वनि करत हुए बटु समुदाय से दी है—

'दादुर धुनि चहु दिसा सुहाई। वेद पढहिं जनु बटु समुदाई ॥

(रामायण क्रिष्णपाकाण्ड)

आज दुर्भाग्य से देश की स्वतन्त्रता के साथ वेद-राशि की महिमा बिना-शोन्मुख हो गई। स्यात् हरिद्वार या ऋषीकेश में कहीं या फिर बनारस में ब्रह्म धोष सुनने को मिले तो मिले, अन्यथा उत्तर भारत ने मानों वेद को देश-निकासना सा दे दिया है। दक्षिणार्थों ने आज भी कुछ लाज रली हुई है। यह तो रही वेद-पाठ की चर्चा।

वेद का अर्थ ज्ञान तो समस्त सदियों पूर्व से भारतवर्ष से विदा हो चुका है। वेद-पाठ में भी बालकों को गुरु-सम्प्रदायानुगत हस्त-चालन की विधि ही

सिखाई जाती है। जिसका याज्ञवल्क्य-शिक्षा में कुछ आभास मिलता है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वर यथार्थ में क्या हैं। किसी शब्द में आद्युदात्त या मध्योदात्त क्यों है, इस विषय की खोज नहीं होती। युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में पाठ्य-क्रम के रूप में अवश्य सिद्धान्तकौमुदी की वैदिक-स्वर-प्रक्रिया को स्थान दिया हुआ है, बनारस की परीक्षाओं में परीक्षार्थी मनोयोग से उसका अध्ययन करते भी हैं, परन्तु भविष्य में उसका कोई उपयोग नहीं होता। पंजाब युनिवर्सिटी ने भी शास्त्री और आचार्य के पाठ्य-क्रम में वैदिक-स्वर-ज्ञान को प्राञ्जल स्थान दिया है, परन्तु प्रायः छात्रों की रुचि उधर न-गम्य है। सरकृत एम० ए० की परीक्षा में इस विषय को अनिवार्य निश्चित किया हुआ है। एम० ए० के विद्यार्थी परिश्रम और रुचि से इस विषय को समझना भी चाहते हैं, किन्तु संहिता-पाठ और पद-पाठ की विशेषताओं के साथ वैदिक-स्वरों की उपपत्ति समझाने वाला कोई ग्रन्थ हिन्दी-भाषा में उपलब्ध नहीं। डाक्टर मैकडोनल्ड की 'वैदिक-ग्रामर' अंगरेजी में अवश्य है, उसी से अभी तक निर्वाह भी हो रहा है, परन्तु एक प्रकार से वह स्वर-नियमों का समग्रमात्र है, फिर है भी अंग्रेजी में। वैदिक-स्वर क्या हैं, इस बात का उस ग्रन्थ में प्रति-पादन है। 'क्यों हैं' इसकी उपपत्ति नहीं मिलती। आवश्यकता है वेद के अर्थों के समझने के लिए उदात्त स्वर क्यों है ? अनुदात्त कैसे कहाँ होता है ? स्वरित कैसे किन नियमों से सप-न होता है ? इन प्रश्नों का समाधान ढूँढने की। इसके अतिरिक्त श्रीयुधिष्ठिरजी 'मीमांसक' ने भी 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' नाम की पुस्तक बनारस से प्रकाशित कराई है। परन्तु लेखक विद्वान् ने जितना स्थान उसमें देशी-विदेशी वैदिक विद्वानों की समालोचना को दिया है, उतना वस्तु तत्त्व को नहीं। इन नुटियों को पूर्ण करने के लिए हमारा यह लघु प्रयास है। इस ग्रन्थ में भी आचार्यों की समालोचना है, परन्तु स्वल्प। प्रयत्न यही किया गया है कि एक वेदार्थ का जिज्ञासु भी किस प्रकार से वेद-पाठ के अद्भूत संहिता-पाठ के नियमों, पद-पाठ के नियमों, पद-पाठ की विशेषताओं, पद-पाठ के तुलनात्मक-अध्ययन की सूक्ष्मताओं, आमन्त्रित-स्वर, गति-स्वर तथा कर्मप्रचनीय का मूद्धम-विवेचन तथा एक-श्रुति का अन्वगहन करता हुआ उदात्त-स्वर के प्रत्येक सति शिष्टस्वर तथा तिङन्त स्वर आदि भेदों की उपपत्ति तथा सिद्धि के साथ, अनुदात्त तथा स्वरित के ज्ञान में योग्यता प्राप्त कर सके और वेद मन्त्रों के शब्दों के ऊपर-नीचे लगी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित की रेखाओं का परिचय प्राप्त कर सके।

२. ग्रन्थ का प्रारम्भ— बहुत समय से एक मौलिक तथा अत्यन्त आवश्यक ग्रन्थ लिखने की उत्कट इच्छा थी। सरकृत साहित्य

के विषयों पर दृष्टि दीजिए, सारे ही उत्तमोत्तम भाष्य, टीका, टिप्पण से सम्पन्न । यहाँ तक कि विद्वानों ने उन पर कुञ्जिया भी लिख मारीं । मेरे गरीब के लिये लिखने को क्या रहा । उन दिनों लाहौर में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान में मैं श्रौत-सूत्र आदि के पदानुक्रम-ज्ञोप का कार्य कर रहा था और नित्य-प्रति प्रातिशाख्य, शिक्षा, निरुक्त तथा पाणिनीय व्याकरण के ग्रन्थों के आलोचन का स्वर्ण अवसर प्राप्त था । स्वाध्याय से जो सामग्री मिलती, उन्हें पर्चियों में लिखकर संग्रह कर लेता । यहाँ होशियारपुर में सामग्री का संग्रह पुष्कल हो गया, और मौलिक ग्रन्थ को लिखने के लिये वैदिक-स्वरो पर समीक्षा का भाव हृदय में साकार हुआ । सन् १९५७ में उपलब्ध सामग्री के चयन का लघु प्रयास किया । ४०-४५ बड़ी पर्चियों पर सामग्री ग्रथित भी की । छोटी पुस्तिका-सी लिखी गई । परन्तु इतना परिश्रम क्यों करें, कौन छुपवायेगा, सन्दूक में ही सरस्वती-शयन कराने से क्या लाभ, ऐसी निराशा ने निरुत्साहित सा कर दिया, और आगे लिखना ठप्प । सन् १९५८ में भ्रमणार्थ मैं ज्वाला-मुखी जी गया, इस भावना से कि खाली समय में इस पुस्तक को आगे बढ़ाऊँगा, पुस्तक भी साथ घैले में लेता गया । वहाँ के दिन थे, व्यास नदी यौवन पर था, एक जगह सड़क पर दरिया के २० फुट चौड़े भाग को छाती तक पानी में पार करने लगा कि नीचे से पत्थर खिसक जाने से गठरी और घैला पानी में । भटपट सब वस्तुएँ संभाल कर देखा तो पुस्तक दरिया में कुछ दूर बह गई थी । दुरन्त पॉन कदम आगे बढ़कर पुस्तक जा पकड़ी, परन्तु भ्रमण-काल में कोई प्रगति नहीं हुई । फिर निराशा में ।

सन् १९६३ में अपने मकान की व्यवस्था के लिये मैं दिल्ली गया । वापिसी में एक रात ऋषिकुल के मान्य स्नातक प्राफेसर श्रीसिद्धगोपालजी शास्त्री के घर तिलक्या कालज क्वार्टर्स फ़रोलराग में ठहरा । दैवयोग से ऋषिकुल हरिद्वार के मन्त्री धीचन्द्रशेखरशास्त्रीजी भी अगले दिन मुझे आ मिले, और उन्होंने विशेष आग्रह किया कि वेद-विषय पर यदि आपका कोई ग्रन्थ तैयार हो, चाहे एक सी पृष्ठ का ही हो, तो हम दाजिये, ऋषिकुल कमेटी वह छुपवायेगी । मुझे कुछ उत्साह मिला, मैंने उस छोटी पुस्तिका को पूर्ण करके उन्हें देने का वचन दिया, और आज वह मेरा सकल साकार हुआ है ।

३. सहायक ग्रन्थ—यह ग्रन्थ लिखने में निम्न-लिखित ग्रन्थों से सहायता ली गई है—

१. ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, २. शुक्ल-यजुर्वेद-प्रातिशाख्य (दोनों पर उव्वट-भाष्य), ३. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, ४. अथर्व प्रातिशाख्य, ५. शौनक-चतुरध्यायी, ६. भाषिक-सूत्र, ७. याज्ञवल्क्य-शिक्षा, ८. कौहड-शिक्षा, ९. शैशिरीय-शिक्षा, १०. पाणिनीय-शिक्षा, ११. निरुक्त (दुर्ग-भाष्य तथा स्कन्दस्वामि-भाष्य-सहित), १२. महाभाष्य (प्रदीप तथा उत्प्रेत व्याख्या सहित), १३. वाक्यपदीय, १४. काशिका, १५. सिद्धान्त-कौमुदी (तत्त्व-बोधिनी तथा बालमनोरमा-टीका सहित), १६. लघुशब्देन्दुशेखर, १७. भागवत-पुराण, १८. वेङ्कटमाधव, स्कन्दस्वामी और सायणाचार्य के ऋग्वेद-भाष्य आदि।

४. ग्रन्थ के आधारभूत ज्ञातव्य—१. इस ग्रन्थ में स्वर नियमों के मुख्य आधार अष्टाध्यायी के सूत्र हैं। प्रातिशाख्यों के जटिल तथा कठिन स्वर-नियमों को अस्मिन् और-प्राञ्जल पाणिनीय स्वर-प्रक्रिया में गूथ-सा दिया गया है।

२. जो पाणिनीय सूत्रों से लभ्य नहीं, उस सामग्री का प्रातिशाख्य और शिक्षाओं से चयन किया गया है।

३. हिन्दी-भाषा में हो सपूर्ण ग्रन्थ सामग्री का सफल होने के कारण उपवादक शास्त्रीय-प्रमाण मन्त्र, सूत्र या गण-पद्य के रूप में नीचे टिप्पण में ज्यों के त्यों उद्धृत किये गये हैं।

४. स्वर-ज्ञान के लिये अष्टाध्यायी के अत्यावश्यक सामान्य स्वर-नियमों को ही संकलित किया है, सपूर्ण स्वर-प्रक्रिया का अक्षरशः अनुवाद नहीं है।

५. वैदिक उदाहरण भी वेदों की सम्पूर्ण शाखाओं तथा शतपथ और काव्य-ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय-आरण्यक से सामान्यतः काशिका और सिद्धान्त-कौमुदी के आधार पर ही संकलित हैं। जो इनमें उपलब्ध नहीं, उनका प्रयत्न से अन्वेषण करके संग्रह किया गया है।

६. ऋग्वेदीय मन्त्रों के ही सत्र वेद-शाखाओं में अनुस्यूत होने तथा उसके पद-पाठ के अत्यन्त सरल और स्पष्ट होने के कारण प्रायः उदाहरण दूढ़ दूढ़कर ऋग्वेद से दिये गये हैं।

७. पद-पाठ भी जित वेद-शाखा का सम्प्रदायानुसार जैसा प्रचलित है, वैसा ही दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

८. जित वेद-शाखा या ब्राह्मण में उदात्त आदि स्वरों के प्रदर्शन का जो अन्त-अन्त सम्प्रदाय है, उसका अनुसार उन-उन शाखाओं से उद्धृत मन्त्रों या उदाहरणों में उदात्त आदि स्वरों का अंकन किया गया है। जैसे

महायणी संहिता के सम्प्रदायानुसार मैत्रायणी से उद्धृत उदाहरणों में उदात्त का चिह्न (L) ऊर्ध्व-रेखा और शतपथ-ब्राह्मण के उदाहरणों में उदात्त-स्वर, या चिह्न नीचे पडी रेखा (-) दिखाया गया है।

६. समास-स्वर्गों का दिग्दर्शन मात्र कराने के लिए 'उदात्त प्रकरण' (अष्टम अध्याय) में ही यथा-स्थान उनका संक्षेप से समावेश कर दिया है। अनावश्यक रूप से समास-स्वर प्रक्रिया के संपूर्ण सूत्रों को संकलित नहीं किया है।

१०. सूत्र नियमों के उदाहरण भी निदर्शनमात्र संगृहीत हैं। एक-एक वर्ग के संपूर्ण उदाहरणों का संग्रह इस परिमिताकार ग्रन्थ में अशक्य है।

५. कृतज्ञता-प्रकाशन—सर्व-प्रथम मैं श्रीविश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-स्थान के आदरी सचालक श्रेष्ठेय आचार्य श्रीविश्वबन्धुशास्त्रीजी का हृदय में कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने 'प्राक्-कथन' लिखने की मेरी प्रार्थना स्वीकार करके मेरे उत्साह को और ग्रन्थ के महत्त्व को बढ़ाने की कृपा की है। फिर अपिप्लुत हरिद्वार के योग्य स्नातक, मालवीय-अनुसन्धान-विभाग के प्रधान निदेशक पण्डित श्रीचन्द्रशेखरजी शास्त्री का हृदय से आभारी हूँ, जिनकी उत्साहपूर्ण तरारता के पलायनरूप यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सना है।

मुद्रक श्रीमान् देवदत्तजीशास्त्री, प्रैस वे मनेजर तथा कम्पोजिटर्स का भी मैं हार्दिक धन्यवादी हूँ, जिनकी कार्य-तत्परता एवं दक्षता के कारण यह ग्रन्थ यथा समय छप सना है।

इस प्रसङ्ग में मेरे पास अपनी पृथग्व्या रजर्गीया बुध्या 'माता लक्ष्मी' के अभिनन्दन के लिये कोई योग्य शब्द नहीं हैं, जिन्होंने मुझ मानु-पितृ-हीन दुध-मुह बालक का लालन-पालन करके मुझे यह ग्रन्थ लिख सन्ने की योग्यता तथा क्षमता प्रदान की, और जो मेरे जीवन के प्रेरणा-स्रोत हैं।

६. पाठकों से याचना—वैदिक-स्वर-नियम की जटिलता, तथा ग्रन्थ-मुद्रण के प्रारम्भ में ही मेरी निरन्तर शोचनीय दम्भता के कारण ग्रन्थ में कई प्रकार के अनुद्धियाँ समाहित हैं। यद्यपि अन्त में अशुद्धि-शोधरूप पत्र लगाया है, तथापि विज्ञान समाज नामक दृष्टि में ग्रन्थ-नियम का परिशीलन करने की कृपा, करेजो, और किसी भी दृष्टि पर मेरा ध्यान आह्वय करके ग्रन्थ का तथा मेरा महान् उत्तरार परेंग।

इस ग्रन्थ से वैदिक-वर्गों का ज्ञान की दिया में पाठकों को उत्पन्न भी लाभ हुआ तो मैं क्षमा परिधम स्वनन्दनम् ।।

वैशाख पूर्णमासी, १. अठ, संवा २०२१,

२६ मार्च सन् १९६४

अमरनाथ

[अ]

ग्रन्थनाम-संक्षेप

ग्रन्थ में अनाद्यतक विस्तार से बचने के लिये संपूर्ण उद्धृत ग्रन्थों का नाम-संक्षेप संक्षेप में दिया गया है, जो कि निम्न-निर्दिष्ट है—

अप्रा.	अथर्ववेद-प्रातिशाख्य
ऋ.	ऋग्वेद
ऋप्रा.	ऋग्वेद-प्रातिशाख्य
का., काण्व.	काण्व-संहिता (शुक्ल-यजुर्वेदीया)
काठ.	काठक-संहिता (कृष्ण-यजुर्वेदीया)
काण्ड.	काण्वशास्त्रीय-शतपथ-ब्राह्मण
कौ.	कौषुम-संहिता (प्रसिद्ध सामवेद)
कौशि.	कौण्डिन्य-शिखा
तै.	तैत्तिरीय-संहिता (कृष्ण-यजुर्वेदीया)
तैत्रा.	तैत्तिरीय-आरण्यक
तैप्रा.	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तैत्रा.	तैत्तिरीय-ब्राह्मण
पपा.	पद-पाठ
पा.	पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्र
पाग.	पाणिनीय-गणपाठ
पावा.	पाणिनीय-पार्श्विक (कात्यायन-कृत)
पाशि.	पाणिनीय-शिखा
पै.	पैप्पलाद-संहिता (अथर्ववेदीया)
भास्.	भाषिक-सूत्र
मा.	माध्यन्दिनी संहिता (प्रसिद्ध यजुर्वेद)
माश.	माध्यन्दिनशास्त्रीय-शतपथ-ब्राह्मण
मै.	मैत्रायणी संहिता (कृष्णयजुर्वेदीया)
वाशि.	वाशनेरुक्म्य-शिखा
शत्रा.	शतपथ-ब्राह्मण
शुवा.	शुक्लयजुर्वेदीय-प्रातिशाख्य
शैशि.	शैशरीय-शिखा
शौ.	शौनक-संहिता (प्रसिद्ध अथर्ववेद)
शौच.	शौनक-चतुरध्यायी
सपा.	संहिता-पाठ
सावे.	सामवेद

विषय-सूची

१. प्रथम अध्याय	
१. वेद-राशि	पृष्ठ
— २. वैदिक-स्वर	
— ३. स्वर-निर्वचन	
. द्वितीय अध्याय	
— १. संहिता-पाठ	६०
२. संहिता-पाठ में दीर्घ श्रुति	१३-
३. संहिता-पाठ में अनुन सिक-श्रुति	१६-
४. संहिता पाठ में शाखाद्वय-अनुनासिक-भेद	
५. संहिता-पाठ में अन्य विशेष	२१-
— ६. संहिता-पाठ में कम्प-स्वर	२२-
तीर्थ अध्याय	
१. पद-पाठ	
२. पदपाठ-कर्म	
३. शाकल्य की पदपाठ-शैली	२६-३
४. पदपाठ शैली का तुलनात्मक अध्ययन	३२-३
५. पद-पाठ की तीन अस्यद्धि	३६-४
६. पद-पाठ में 'इति' का योग	४१-४
७. पद-पाठ में अवसद-नियम	४३-४
८. अवसद के उपवाद	४६-४
. चतुर्थ अध्याय	
१. उपसर्ग-मञ्जा	४८-५
२. गति-मञ्जा	५
३. कर्मप्रदान-श्री-मञ्जा	५१-६
४. निगात्मक उपसर्ग	६०-६
५. पद-पाठ में गति-निर्देश	६१-६१
. पञ्चम अध्याय	
सामन्वित स्वर	६६-७३
. षष्ठ अध्याय	
वैदिक-गदित्पदों में विविध स्वर-विद्य	७४-७८

७. सप्तम अध्याय

१. एक-श्रुति का महत्त्व	पृष्ठ ७६-८१
२. स्वर-संचार-प्रकार	८१-८३

८. अष्टम अध्याय

१ उदात्त-परिभाषा	८४-८६
२ सति शिष्टस्वर	८६-९१
३ तिन्न्त-स्वर	९१-१०६
(क) विस्मरण-भेद से नौ गणों की निष्पत्ति	९३-९७
(ख) णिजन्तादि-स्वर	९७-९८
(ग) लसार्धधातुक-स्वर	९८-१०७
(घ) आर्धधातुक-स्वर	१०७-१०९
४ उदात्त स्वर	१०९-११०
५ आद्युदात्त स्वर	११०-१११
६ आद्युदात्तस्वर विधायन-नियम	१११-११३
७ मध्योदात्त-स्वर	१२३-१२६
८ अन्तोदात्त स्वर	१२६-१३१
९ विभक्ति स्वर	१३१-१३६
१० समास-स्वर	१३६-१४८
११ नञ् स्वर	१४६-१५०
१२ सु स्वर	१५१-१५२
१३ आद्यन्त उदात्त स्वर	१५३
१४ द्वि उदात्त स्वर	१५३
१५ त्रि उदात्त स्वर	१५३

९. नवम अध्याय

१ अनुदात्त स्वर	१५४-१६२
२ अनुदात्त-स्वर के अपवाद	१६२-१६४
३ सन्तर्ग की विशेषता	१६४-१६५

१०. दशम अध्याय

१ स्वरित स्वर	१६६
२ नित्य स्वरित	१६६-६८
३ सधि स्वरित	१६८-१७०
४ सङ्घिता-स्वरित	१७०-१७१
५ पदपाठीय स्वरित	१७१-१७२
६ विभिन्नरागीय-स्वरितचिह्न	१७३-१८५

श्रीगणेशाय नमः

वैदिक-स्वर-समीक्षा

विष्णाधिपं प्रणम्यादौ मातरं च सरस्वतीम् ।
काशिरामात्मजः कुर्वे वेद-स्वर-समीक्षणम् ॥१॥
प्रातिशाख्यविशेषाणाम् अष्टाध्यायी-पुटान्तरे ।
पर्यालोचनसूत्रेण गुम्फनं दशधा कृतम् ॥२॥

प्रथम अध्याय

[१. वेद-राशि, २. वैदिक-स्वर, ३. स्वर-निर्वचन]

१. वेद-राशि

वैदिक स्वरों के मुचारु रूप से हृदयंगम कराने के लिये ही इस ग्रन्थ की अन्वर्थ-संज्ञा 'वैदिक-स्वर-समीक्षा' (वेद के स्वरों का सम्यक् पर्यालोचन) है। स्वरों का पर्यालोचन करने से पूर्व वेदों की इयत्ता, उपलब्धि तथा शास्त्रार्थों का विवेचन करना आवश्यक है।

वेदों को महर्षियों तथा परवर्ती आचार्यों ने अतीत अनागत अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कराने वाली महान ज्ञान-राशि बताया है। यह संपूर्ण ज्ञान-राशि महर्षि कृष्ण-द्वैपायन (वेद-व्यास) के समय तक अव्यस्त (अविभक्त) थी, उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद इन चार राशियों में उसका व्यास (विश्लेषण) करके अपने चार शिष्यों को चारों वेद पढ़ाये^१, तब से उन्हें वेद-व्यास कहा

१. पराशरान् सत्ययुगम् वंशीशाकलया विभु ।
अनौषीं महाभाग वेदं चक्रे षतुर्विधम् ॥
ऋगपर्वेषु माम्नां रशीनुद्भूष्य वर्गैः ।
अथ संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्महागणा इव ॥
तामां स षतुरा शिष्यानुपाहूय महामनिः ।
एवैहां संहितां मङ्ग्लैरेवमै ददी विभुः ॥
पैत्राय संहितामायां बहुवृषण्वागुशाच इ ।
वैतम्यायनमंशाप निगदान्थं षतुर्गणम् ॥
सामनां पैमिनवे प्राद तथा षन्देगमंहिताम् ।
अथर्ववेदं रमी नाम स्वर्णिपय मृमन्त्रे ॥

जाने लगा। आगे चलकर गुरु-शिष्य-परम्परानुगत संप्रदाय के भेद से तथा उनकी शाखा प्रशाखा के विस्तार से वेद-राशि के अनेक भेद हो गये जिन्हें वेद-शाखा कहा जाता है।

व्याकरण-महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि (लगभग २०० वर्ष ईसवी पूर्व) के समय में एक हजार एक सौ इकत्तीस (११३१) वेद-शाखाएँ उपलब्ध थीं, उतने ही प्रत्येक शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषदें भी विद्यमान थीं। जैसा कि महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उन्हीं की अवदात लेखनी से स्पष्ट है—“चत्वारो वेदा साक्षा सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकदातम् अध्वर्युशाखा (आध्वर्यव-वेद अर्थात् यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ), सहस्रवर्मा सामवेद (साम-वेद की १००० शाखाएँ), एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् (बह्वृच अर्थात् ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ), नवधाथर्वणो वेद” (अथर्व-वेद की ९ शाखाएँ)। इनका विशद विवेचन चरण-व्यूह नामक ग्रन्थ में है।

इतनी पुष्कल वेद-राशि के इन वाईस सौ वर्षों में काल-कवलित होते-होते वेद की कुल ११ शाखाएँ आज उपलब्ध हैं। ऋग्वेद की २१ शाखाओं में से आज एकमात्र शाकल-शाखा स स्वर विद्यमान है, जो ऋग्वेद के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि ऋग्वेद की वाष्कल-शाखा भी कहीं अपरिष्कृत रूप में कुछ अंश में छपी सुनी गई है, परन्तु हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुई। आध्वर्यव-वेद (यजुर्वेद) की भी शुक्ल-यजुर्वेद और कृष्ण-यजुर्वेद के विभाग से सर्वयोग ६ वेद-शाखाएँ वर्तमान हैं। जिनमें दो वेद-शाखाएँ शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन-संहिता और काण्व-संहिता के नाम से स-स्वर प्रसिद्ध हैं। काण्व-संहिता की उतनी व्यापक ख्याति नहीं है जितनी माध्यन्दिन-संहिता की। इसलिये प्रसिद्ध यजुर्वेद-ग्रन्थ (विशेषत उत्तर भारत में) माध्यन्दिन-संहिता ही है। इसी का दूसरा प्रसिद्ध नाम वाजसनेयी-संहिता है। उत्तर भारत में यत्र-तत्र यज्ञोपवीत आदि सस्कारों में माध्यन्दिनशाखाध्यायी कह कर बालक को उसकी वेद-शाखा का परिचय दिया जाता है। शेष चार शाखाएँ कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक, कपिष्ठल नाम से प्रसिद्ध हैं। दक्षिण भारत में यजुर्वेद के नाम से तैत्तिरीय-शाखा के ही प्राय अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी है। अर्थात् दाक्षिणात्यो का प्रसिद्ध यजुर्वेद तैत्तिरीय-संहिता है। इनमें तैत्तिरीय-संहिता तथा मैत्रायणी-संहिता पर स्वर-चिह्न हैं। काठक संहिता में कहीं कहीं और कपिष्ठल संहिता में सर्वथा नहीं। साम-वेद

की एक हजार शाखाओं में से आज केवल तीन शाखाएँ शेष हैं। कौथुम-संहिता, राणायनी-संहिता तथा जैमिनीय-संहिता। कौथुम-संहिता ही प्रसिद्ध साम-वेद है। इसकी अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी दिनानुदिन कम होती जा रही है। किसी समय बंगाल प्रान्त में इसकी विशेष रचाति थी। राणायनी और जैमिनीय-संहिता में स्वर-चिह्न नहीं हैं। अथर्व-वेद की ६ शाखाओं में से आज दो शाखाएँ शेष हैं। शौनक-संहिता तथा पैप्पलाद-संहिता। प्रसिद्ध अथर्व-वेद जिस पर सायणाचार्य का भाष्य भी है शौनक-संहिता ही है। पैप्पलाद-संहिता में कहीं-कहीं स्वर-चिह्न हैं।

इन ११ वेद-शाखाओं के ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ तो अंगुलि-गण्य मात्र हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय-ब्राह्मण, शाङ्खायन-ब्राह्मण और कौपीतिक ब्राह्मण यह तीन ब्राह्मण और ऐतरेय-आरण्यक तथा शाङ्खायन-आरण्यक यह दो आरण्यक शेष हैं। इन दोनों पर स्वर के चिह्न नहीं हैं। प्रोफेसर कीथ द्वारा संपादित ऐतरेय-आरण्यक में कहीं-कहीं अस्पष्ट स्वर हैं।

शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन तथा काण्व दोनों वेद-शाखाओं के दोनों ब्राह्मण माध्यन्दिन-शतपथ (१४ प्रपाठक) और काण्व-शतपथ (१६ प्रपाठक) के नाम से स-स्वर प्राप्त हैं। जिनमें काण्व-शतपथ १६ प्रपाठकों में से केवल सात प्रपाठक तक डाक्टर कैलेण्ड के सत्प्रयत्न से उपलब्ध हैं। सोलहवा प्रपाठक हस्त-लिखित विना स्वर प्राप्त है।

कृष्ण-यजुर्वेद का भी तैत्तिरीय ब्राह्मण स-स्वर प्राप्त है, संकलित रूप में काठक ब्राह्मण का भी प्रकीर्ण भाग उपलब्ध है। तैत्तिरीय-आरण्यक भी प्राप्त है। परन्तु उसके स्वर-चिह्न ठीक नहीं हैं।

साम-वेद के आर्षेय-ब्राह्मण, जैमिनीय-आर्षेय-ब्राह्मण, जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण, जैमिनीय-ब्राह्मण, तारुण्य-ब्राह्मण (पञ्चविंश ब्राह्मण) देवत ब्राह्मण, मन्त्र-ब्राह्मण, पडविंश-ब्राह्मण, सामविधान-ब्राह्मण, संहिता-ब्राह्मण यह दस ब्राह्मण उपलब्ध हैं। स्वर-चिह्न किसी पर भी नहीं। आरण्यक तो सर्वथा अनुपलब्ध हैं।

अथर्व-वेद का प्रसिद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ गोपथ-ब्राह्मण प्राप्त है। उसमें स्वर-चिह्न नहीं हैं।

उपनिषदें यद्यपि सद्यः मिलाकर १७७ से ऊपर होंगी, किन्तु उनमें

स्वर से बहुव्रीहि समास में (इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य इन्द्र ही जिसका शत्रु मारने वाला है) इस अर्थ से उल्टे इन्द्र ने त्वष्टा का संहार कर दिया ।

महान् वेद-भाष्यकार सायणाचार्य ने तैत्तिरीय-संहिता के अपने भाष्य में इन्द्र-शत्रु शब्द का यथार्थ अर्थ विशद किया है ।^२

‘ऋग्वेद के महान् भाष्यकार श्रीवेङ्कटमाधव की तो यह घोषणा

१. अथ यदग्रोत् ‘इन्द्रशत्रुर्वधस्व’ तस्माद् उ हैमिन्द्र एव जवान । अथ यद् शश्वदवधत् ‘इन्द्रस्य शत्रुर्वधस्व’ इति, शश्वद् उ ह स एनेन्द्रमहनिष्यत् (शशा १, ६, ३, १०) ।

२. ‘त्वष्टा हतपुत्रो वीन्द्रं सोममाहरत् । तस्मिन्निन्द्र उपहवमैच्छत् । तं नोपाह्वयत्—पुत्रं मेऽग्रधीरिति । स यजवेशसं कृत्वा प्रासदा सोममपियत् । तस्य यद् अत्यशिष्यत्, तत् त्वष्टाऽऽह्वनीयमुपप्रावर्तयत्—‘स्वाहेन्द्रशत्रुर्वधस्वेति । स यावदूर्ध्वः पराविष्यति, तावति स्वपमेव व्यरमत’ (तैत्तिरीयसंहिता २, ४, १२, १)

सायण-भाष्यम्—निश्चरूपनाम्नस्त्वष्टपुत्रस्य इन्द्रेण कृतो वधः । ‘‘स च हतपुत्रस्त्वष्टा कोऽद् इन्द्ररहितं सोमयागं कर्तुमुद्यतः । तस्मिन्यागे ‘मामाह्वय’ इत्येवमिन्द्रोऽग्रधीरिति । स तु त्वष्टा तं ‘पुत्रं मेऽग्रधी’ इत्यवदत् । तमिन्द्रं नोपाह्वयत् । स चेन्द्रो यज्ञस्य विधातं कृत्वा बलात्कारेण सोमं पीतवान् । तस्येन्द्रेण बलात् पीतस्य सोमस्य संबन्धि रसरूपं यद् अल्पम् अत्यशिष्यत्, तद् गृहीत्वा त्वष्टा-ऽभिचारं कर्तुम् आह्वनीयमुपेत्य, होमेनाऽग्निं वैर्युत्पादनाय प्रवृत्तमकरोत् । तस्मिन् होमे मन्त्रमिमम् उच्चारितवान्—‘स्वाहा, इन्द्रशत्रुर्वधस्व’ इति । तस्याऽयम् अर्थः—‘हे अग्ने ! तुभ्यमिदं स्वाहुतम्, पुनरिन्द्रस्य शातयिता कश्चित् पुरुषो भूत्वा वधं स्वेति ।’ सोऽग्निर्यागता कालेनोर्ध्वज्वालारूपो भूत्वा पराभूतमिन्द्रं कर्तुं ‘विध्यामि’ इत्युद्यतो भवति, तावति काले वह्निः स्वयमेव विरतोऽभूत्—ज्वाला शान्तेत्पर्यः । तत्र मन्त्रगतस्वरापराधो निमित्तम् । तथाहि—‘इन्द्रस्य शातयिता इन्द्रशत्रुः’ इति विप्रत्यायां तत्पुरुषसमासस्याऽन्तोदात्तत्वेन भवितव्यम् । आहुदात्त-स्त्वयं शब्दः प्रयुक्तः, स च बहुव्रीहितां द्योतयति । ‘बहुव्रीही प्रकृत्वा पूर्वपदम्’ (पा. ६, २, १) इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वविधानात् । सति बहुव्रीही ‘इन्द्रः शातयिता यस्य’ इत्यर्थो भवति, सोऽयं मन्त्रगतः स्वरापराधः । अपराधाऽभावे सति उन्नतथा ज्वालया यजमानस्य कार्यसिद्धिः सूचिता भवति, अपराधे त्ववनतथा यजमानस्य कार्यसिद्धयभावः सूच्यते ।

भाष्यार्थ—विश्वरूप नामक त्वष्टा का पुत्र था । इन्द्र ने उसका वध कर दिया । पुत्रवध से क्रुद्ध होकर त्वष्टा ने इन्द्रभाग-रहित सोमयाग करने का निश्चय किया । इन्द्र ने कहा—‘याग में मुझे भी आमन्त्रित करो ।’ त्वष्टा

है कि वेद में अर्थ की व्यवस्था स्वर से ही हो सकती है।^१ इसलिए वैदिक शब्दों का उच्चारण करने के लिए, या किसी वैदिक मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करने के लिए उसका स्वर-ज्ञान तथा संप्रदायानुगत विनियोग-प्रक्रिया का ज्ञान अत्यावश्यक है। अन्यथा कर्म-वैगुण्य की पूरी पूरी संभावना है। वर्तमान काल में मनोरथासिद्धि का दोष हम चाहे युग-धर्म (कलि-युग) के सिर मढ़ कर आत्म-सन्तोष कर लें, परन्तु दोष यथार्थ में युग-धर्म का नहीं, दोष संप्रदायानुगत मन्त्र-सिद्धि की प्रक्रिया तथा स्वर-ज्ञान से शून्य होने के कारण प्रति-पद अशुद्ध उच्चारण का है।)

ने उत्तर दिया—‘तुमने मेरे पुत्र का वध किया है।’ इसलिये उसने सोमयाग में इन्द्र को आमन्त्रित नहीं किया। इन्द्र ने क्रुद्ध होकर यज्ञ का विध्वंस कर दिया और बलात् सोमपान कर लिया। तप्या ने इन्द्र के पीए हुए सोमरस के उच्छिष्ट अंश से इन्द्र के वध के लिए आभिचारिक प्रयोग प्रारम्भ किया। विधि-पूर्वक आहवनीय-अग्नि का आधान करके इन्द्रशत्रु उत्पन्न करने के लिए तप्या ने ‘स्वाहा, इन्द्रशत्रुर्वधस्व’ (हे अग्नि, तुम्हारे लिए यह सुस्वादु हवि प्रदान करता हूँ, तुम इन्द्र के मारने वाले दिव्य पुरुष का रूप धारण कर बढ़ो) इस मन्त्र से आहुति देनी आरम्भ की। इन्द्र को पराभूत करने के लिए अग्नि ऊर्ध्वज्वाला में बढ़ना ही चाहता था कि अरुस्मात् स्वयमेव शान्त हो गया। अग्नि के ऊर्ध्वज्वाला में होते-होते रवयमेव शान्त हो जाने में एक माद्य निमित्त मन्त्रगत स्वर का दोष था। ‘इन्द्रस्य शातयिता’ इस पठो-तत्पुरुषसमास की विवक्षा में अन्तोदात्त ‘इन्द्रशत्रु’ शब्द उच्चारण करने के स्थान में आसुदात्त का प्रयोग हो गया। इससे बहुव्रीहि समास भासित हो गया। परिणाम यह हुआ कि बहुव्रीहिसमास के कारण ‘इन्द्रशत्रु’ शब्द का अर्थ ‘इन्द्रः शातयिता यस्य’ (इन्द्र जिसका मारने वाला है) यह विपरीत अर्थ हो गया। अग्नि की ऊर्ध्वज्वाला से यज्ञमान की कार्यसिद्धि और मन्द ज्वाला से असिद्धि सूचित होती है।

१. माधस्य स्वर्थं पद्य स्वरेख्यैव इन्द्रस्यिति ॥ (वेदभूमिका, अ. १, १, १)

सर्वेष्वपि समासेषु यत्र यत्र स्वरो भवेत् ।

कारां कुशं वाज्वज्जम्ब्य स्वरं तं स्थापयेदिति ॥ (वेदभूमिका, अ. १, ३३, १)

सर्वेष्वपि समासेषु कार्या सूच्येदिका युधैः ।

पदेषु चासमन्तेषु शुद्धमर्थमभोप्सुभिः ॥

प्रवृत्तौ प्रत्यये वापि स्वरो यत्र व्यवस्थितः ।

तात्पर्यं तत्र शब्दस्य स्थापयेदिति निर्णयः ॥ (वेदभूमिका, अ. १, ४०, १)

वेद-शाखाओं का सम्यन्ध जोड़ना कठिन है। यजुर्वेद की ईशावास्योपनिषद्, ऋग्वेद की ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीय-शाखा (कृष्ण-यजुर्वेद) की तैत्तिरीयोपनिषद्, साम-वेद की छान्दोग्योपनिषद्, काण्व-शतपथब्राह्मण की बृहदारण्यकोपनिषद्, तैत्तिरीय-आरण्यक की महानारायणोपनिषद्, तथा कौपीतिक-ब्राह्मण की कौपीतकी उपनिषद्, काठक-शाखा की कठोपनिषद् इतना विवेक कठिनता से किया जा सकता है। स्वर-चिह्न कहीं पर भी नहीं है।

२. वैदिक-स्वर

लौकिक साहित्य में स्वर-शब्द ध्वनि, नाद, रव, स्त, शब्द आदि का पर्याय है। कण्ठ-स्वर, पक्षि-स्वर, कांस्य-स्वर, पञ्चम-स्वर इत्यादि। इस स्वर-शब्द में सजीव निर्जीव पदार्थों की प्राकृतिक ध्वनिमात्र प्रतिबिम्बित है। अर्थ के साथ विशेष संबन्ध नहीं है। इसलिए 'स्वरणं स्वरः' इस भाव-वाचक व्युत्पत्ति से उसका समाधान होगा।

(वैदिक-स्वर केवल स्वर-वर्णों (अ, इ, उ आदि) की उदात्त अनुदात्त खरित ध्वनियों का निष्कर्षमात्र ही नहीं है, इसका अपना भी अर्थ-प्रत्यायन की योग्यता तथा क्षमता के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक-शब्दों के संस्कार (व्युत्पत्ति) का यह ठोस आधार है। इसीलिए महर्षि यास्क ने स्वर के साथ अर्थ का घनिष्ठ सम्यन्ध बताते हुए निरुक्त (१, १५) में—“अर्थम् अप्रतिपत्ते नाऽप्यन्तं स्वर-संस्कारोद्देशः” इन शब्दों को स्थान दिया है। जिसका भाव स्पष्ट है कि अर्थ-विशेष की प्रतीति ही स्वर और संस्कार (व्याकरण) का उद्देश्य है। यदि अर्थ-ज्ञान अभीष्ट नहीं है तो स्वर और संस्कार का ज्ञान वृथा है, क्योंकि अर्थ-ज्ञान पर ही स्वर-संस्कार दोनों का महत्त्व निर्भर है।)

(स्वर और संस्कार (व्याकरण) के सह-प्रयोग से महर्षि यास्क को स्वर और व्याकरण का अधिनाभाव-संबन्ध ही केवल अभीष्ट नहीं, बल्कि स्वर संस्कार में नियामक है, वैदिक-व्याकरण स्वर की घुरी पर आधारित है यह अर्थ भी भासित होता है।) स्वर संस्कार का उपनीयक है इसीलिए द्वन्द्व-समाप्त में 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' (पावा २, २.

(१. “अन्यथाप्यन्व न्योद्देशः संस्कारोद्देशश्च (व्याकरणार्थं संस्कारापरार्थं) नाम्नां च कर्मांशः, नान्यथाप्यन्वः स्वर्गमन्वातापरवर्षावितुं शक्नुयात्। कर्मांशो हि स्वर्गमन्वातापरवर्षावितुं” इति दुर्गाचार्यः।)

३४) के नियम से निरुक्त के उक्त उद्धरण में स्वर का संस्कार से पूर्व प्रयोग उपलब्ध होता है।

(इसी रहस्य को महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने 'स्थूल-पृपतीम' का उदाहरण देकर पुष्ट किया है, यदि 'स्थूल-पृपतीम' इस समस्त शब्द के पूर्व-पद स्थूल शब्द का स्वर है तो निश्चय ही स्थूल-पृपती शब्द में बहुव्रीहि समास जानना। स्थूलानि पृपन्ति यस्याः (स्थूल विन्दुओं वाली गाय)। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा ६, २, १)। और यदि समास के अन्त्य अक्षर 'ती' पर उदात्त स्वर है तो निश्चय ही तत्पुरुष समास जानना, क्योंकि तत्पुरुष समास में 'समासस्य' (पा. ६. १. २२३) सूत्र से अन्तोदात्त होता है। और स्थूल-पृपती शब्द का तत्पुरुष (कर्मधारय) में अर्थ होगा 'मोटी और विन्दुवाली गाय' (स्थूला चासी पृपती च)।^१

इस विवरण से यह बात स्पष्ट हो गई कि वैदिक-स्वर केवल ध्वनि नहीं, प्रत्युत सार्थक होने के कारण व्याकरण शास्त्र का भी नियामक है।)

(इसी प्रकार में "अथेन्द्रशतु स्वरतोऽपराधात्" (पाशि ५२) इस उद्धरण से महर्षि पतञ्जलि ने इस वास्तविकता की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि सम्यक् ज्ञान रखते हुए शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार एक ही शब्द के यथोचित प्रयोग से वह स्वर्ग में और इस लोक में भी कामधेनु का काम देता है^२। यह हमारा विश्वास कल्पना-पोढ़ मात्र नहीं है, विपरीत उच्चारण से वही शब्द वाग्-धन्य बन कर प्रयोज्य का घातक भी हो सकता है। 'जैसे स्वर के अपराध से इन्द्र-शतु शब्द ने त्वष्टा का नाश कर दिया।' इन्द्र-शतु शब्द में अन्तिम अक्षर 'तु' को उदात्त उच्चारण कर तत्पुरुष समास (इन्द्रस्य शतु = इन्द्र वा शतु) करने की अपेक्षा त्वष्टा ने पूर्व-पद की प्रकृति 'इन्द्र' शब्द के आदि 'इ' अक्षर पर उदात्त की ध्वनि कर अर्थ का अन्वय कर दिया। तत्पुरुष समास में इन्द्र को मानते वाला इन्द्र-शतु उत्पन्न करना त्वष्टा को अभीष्ट था, पूर्व-पद की प्रकृति के

१. यदि पूर्वपदप्रकृतिस्यरथं तपो बहुव्रीहि, अथ समासान्तोदात्तयं ताप्तपुरुषः (पम्पशाब्दिक)।

२. एक शब्द सम्यक् ज्ञानः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गं लोके कामधेनुं मयति (महाभाष्य ६, १, ८४)।

स्वर से बहुव्रीहि समास में (इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य इन्द्र ही जिसका शत्रु मारने वाला है) इस अर्थ से उल्टे इन्द्र ने त्वष्टा का संहार कर दिया ।

महान् वेद-भाष्यकार सायणाचार्य ने तैत्तिरीय-संहिता के अपने भाष्य में इन्द्र-शत्रु शब्द का यथार्थ अर्थ विशद किया है ।^२

ऋग्वेद के महान् भाष्यकार श्रीवेङ्कटमाधव की तो यह घोषणा

१. अथ यदववीत् 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' तस्माद् उ हैनमिन्द्र एव जघान । अथ यद् शश्वदवचयत् 'इन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्व' इति, शश्वद् उ ह स एनेन्द्रमहनिष्यत् (शभा १, ६, ३, १०) ।

२. 'त्वष्टा हतपुत्रो वीन्द्रं सोममाहरत् । तस्मिन्निन्द्र उपहवमैच्छत् । तं नोपाह्वयत्—पुत्रं मेऽवधीरिति । स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासङ्गा सोममपिबत् । तस्य यद् अय्यशिष्यत्, तत् त्वष्टाऽऽहवनीयमुपभावर्तयत्—'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति । स यावदूर्ध्वः पराविष्यति, तावति स्वयमेव व्यरमत' (तैत्तिरीयसंहिता २, ४, १२, १)

सायण-भाष्यम्—विरवरूपनाग्नस्वष्टृपुत्रस्य इन्द्रेण कृतो वधः । 'स च हतपुत्रस्त्वष्टा कोऽद् इन्द्ररहितं सोमयागं कर्तुमुद्यतः । तस्मिन्त्यागे 'मामाह्वय' इत्येवमिन्द्रोऽप्यरीत् । स तु त्वष्टा तं 'पुत्रं मेऽवधीरिति' इत्यवदत् । तस्मिन्द्रं नोपाह्वयत् । स चेन्द्रो यज्ञस्य विधातं कृत्वा बलाकारेण सोमं पीतवान् । तस्वेन्द्रेण बलात् पीतस्य सोमस्य संबन्धि रसरूपं यद् अल्पम् अय्यशिष्यत्, तद् गृहीत्या त्वष्टा-ऽभिचारं कर्तुम् आहवनीयमुपेय, होमेनाऽग्निं वैयुंत्पादनाय प्रयत्नमकरोत् । तस्मिन् होमे मन्त्रमिमम् उच्चारितवान्—'स्वाहा, इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इति । तस्याऽयम् अर्थः—'हे अग्ने ! तुभ्यमिन्द्रं स्वाहुतम्, पुनरिन्द्रस्य शातयिता करिचन् पुरयो भूया वधस्वेति ।' सोऽग्निर्वायता कालेनोर्ध्वंज्वालारूपो भूया पराभूतमिन्द्रं कर्तुं 'कियामि' इत्युद्यतो भवति, तावति काले वह्निः स्वयमेव विरतोऽभूत्—ज्वाला शान्तोर्ध्वः । तत्र मन्त्रगतस्वरापराधो निमित्तम् । तथाहि—'इन्द्रस्य शातयिता इन्द्रशत्रुः' इति विरथायां तत्पुरयसमासस्याऽन्तोदात्तात्वेन भक्तिष्यम् । आद्युदात्त-स्वर्यं शब्दः प्रयुक्तः, स च बहुव्रीहिलां शोतयति । 'वटुर्वाही प्रष्टव्या पूर्वस्वम्' (पा. ६, २, १) इति पूर्वदासुदात्तव्यभिधानात् । सति बहुव्रीहौ 'इन्द्रः शातयिता यस्य' इत्यर्थो भवति, सोऽयं मन्त्रगतः स्वरापराधः । अपराधाऽभावे सति उन्नतया उदात्तया यजमानस्य कार्यमिन्द्रिः मूर्च्छिता भवति, अपराधे त्वन्नतया यजमानस्य कार्यमिन्द्रवभाय. मूर्च्छने ।

भाषार्थ—विरवरूप नामक त्वष्टा का पुत्र था । इन्द्र ने उमका वध कर दिया । पुत्रवध से घुड़ होंकर त्वष्टा ने इन्द्रभाग-रहित सोमयाग करने का निरवयव दिया । इन्द्र ने कहा—'याग में मुझे भी काम्पित करे ।' त्वष्टा

हे कि वेद में अर्थ की व्यवस्था स्वर से ही हो सकती है।' इसलिए वैदिक शब्दों का उच्चारण करने के लिए, या किसी वैदिक मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करने के लिए उसका स्वर-ज्ञान तथा संप्रदायानुगत विनियोग-प्रक्रिया का ज्ञान अत्यावश्यक है। अन्यथा कर्म-वैगुण्य की पूरी पूरी संभावना है। वर्तमान काल में मनोरथासिद्धि का दोष हम चाहे युग-धर्म (कलि-युग) के सिर मढ़ कर आत्म-सन्तोष कर लें, परन्तु दोष यथार्थ में युग-धर्म का नहीं, दोष संप्रदायानुगत मन्त्र-सिद्धि की प्रक्रिया तथा स्वर-ज्ञान से शून्य होने के कारण प्रति-पद अशुद्ध उच्चारण का है।)

ने उत्तर दिया—'तुमने मेरे पुत्र का वध किया है।' इसलिये उसने सोमयाग में इन्द्र को आमन्त्रित नहीं किया। इन्द्र ने क्रुद्ध होकर यज्ञ का विध्वंस कर दिया और बलात् सोमपान कर लिया। तप्या ने इन्द्र के पीप हुए सोमरस के उच्छिष्ट अंश से इन्द्र के वध के लिए आभिचारिक प्रयोग प्रारम्भ किया। विधि-पूर्वक आहवनीय-अग्नि का आधान करके इन्द्रशत्रु उन्नत करने के लिए तप्या ने 'स्वाहा, इन्द्रशत्रुर्वधस्व' (हे अग्नि, तुम्हारे लिए यह सुखादुःखि प्रदान करता है, तुम इन्द्र के मारने वाले दिव्य पुरुष का रूप धारण कर दो) इस मन्त्र से आहुति देनी प्रारम्भ की। इन्द्र को पराभूत करने के लिए अग्नि ऊर्ध्वज्वाला में धना ही चाहता था कि अरुम्मात् स्वयमेव शान्त हो गया। अग्नि के ऊर्ध्वज्वाला में होते-होते स्वयमेव शान्त हो जाने में एक मात्र निमित्त मन्त्रगत स्वर का दोष था। 'इन्द्रस्य शातपिता' इस पृष्ठी-तत्पुरुषतमास की विरसा में अन्तोदात्त 'इन्द्रशत्रु' शब्द उच्चारण करने के स्थान में आपुदात्त का प्रयोग हो गया। इसमें बहुमोहि समान भासित हो गया। परिय्याम यह हुआ कि बहुमोहिसमाम के कारण 'इन्द्रशत्रु' शब्द का अर्थ 'इन्द्रः शातपिता यम्य' (इन्द्र जिसका मारने वाला है) यह विपरीत अर्थ हो गया। अग्नि की ऊर्ध्वज्वाला से वर्तमान की कार्यसिद्धि और मन्द ज्वाला से अभिदि सृष्टि होती है।

१. मापस्य त्वयं पथ स्वरोशैव व्यप्रथिति ॥ (वेदभूमिका, क. १, १, १)

सर्वेष्वपि समसेषु पत्र पत्र स्वरो भवेत् ।

कारं कुं वाप्रात्रम्य स्वर् तं स्थापयेदिति ॥ (वेदभूमिका, सू. १, ११, १)

सर्वेष्वपि समसेषु कार्यं सूच्येदिका सुपै ।

पदेषु चात्मनेषु शुद्धमर्थमर्थ-सुभि ॥

प्रज्ञी प्रपये वापि स्वरो पत्र स्वस्थित ।

तात्पर्यं तत्र तदस्य स्थपयेदिति निर्दिश ॥ (वेदभूमिका, क. १, १०, १)

३. स्वर-निर्वचन

३' (स्वर के उदात्त अनुदात्त स्वरित यह तीन भेद हैं। यह वर्ण के धर्म हैं। यद्यपि अ इ उ इत्यादि स्वरों के उच्चारण में दूसरे सहायक वर्ण की अपेक्षा नहीं होती। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि के अनुसार "स्वयं राजन्ते स्वराः" (महाभाष्य १, २, २६) जो स्वयं-प्रकाश हों यह स्वर-वर्णों की अन्वर्थ व्युत्पत्ति है। तथापि धर्म-धर्मा सम्यन्ध से जब उन्हीं स्वर-वर्णों में हम उदात्त अनुदात्त और स्वरित इन तीनों स्वरों के धर्म का दर्शन करते हैं तो उतनी उक्त व्युत्पत्ति से हमारा कार्य नहीं चलता, 'उच्चैरुदात्तः' (पा. १, २, २९), 'नीचैरनुदात्तः' (पा. १, २, ३०) सूत्रों के 'उच्चैः' और 'नीचैः' शब्द उच्चारण में विलक्षण तारतम्य की संभावना की ओर वक्ता को मुखरित करते हैं। इसी लिए आस्य के अन्तर्वर्ती कण्ठ, तालु आदि स्थानों में उच्चारण की उत्कृष्टता तथा अपकृष्टता, तथा दोनों धर्मों की सह-स्थिति^२ की योग्यता के माध्यम से हम उदात्त अनुदात्त और स्वरित तीनों स्वरों की अभिव्यक्ति करते हैं। इस अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न की आवश्यकता होती है। पारिभाषिक शब्दों में उदात्त की अभिव्यक्ति के लिए इसी प्रयत्न को आयाम, अनुदात्त की अभिव्यक्ति के लिए विश्रम्भ तथा स्वरित की अभिव्यक्ति के लिए आक्षेप कहा गया है।^३ इसलिए इस वैदिकस्वर की व्युत्पत्ति 'स्वर्यते उच्चाऽधो-तियं ग्भागैरुच्चार्यते इति स्वरः' इस प्रकार उपपन्न होगी।)

(२. समाहारः स्वरितः (पा. १, २, ३१)। उभयगान् स्वरितः ।)
(शुभा. १, ११०)

(३. उदात्तानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः ।)
आयाम-विश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽधराध्रयाः ॥ (ऋग्वेदप्रतिशाख्य ३, १)
आयामो दारण्यम् अणुता खस्येत्सुच्चैःकराणि शब्दस्य । आयामो गात्राणां निग्रहः । दारण्यं स्वरस्य दारण्यता रुधता । अणुता खस्य कण्ठस्य संवृता । उच्चैःकराणि शब्दस्य । अन्यरसर्गो मार्दवम् उरता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य । अन्यरसर्गो गात्राणां शिथिलता । मार्दव स्वरस्य गृहता स्निग्धता । उरता खस्य महता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य (महाभाष्य १, २, २६)।

(उच्चैरुच्चार्यते यस्तु स उदात्त उदाहृतः ।

आयामो रुधता सौम्यं गात्रेऽङ्गोयु तथा गते ।

उच्चैरुच्चार्यते यस्तु प्राणा विशेषतः ॥

नीचैरुच्चार्यते यस्तु सोऽनुदात्तोऽभिधीयते ।

प्रपता गृहता स्फीत्वं गात्रादेः कण्ठं विदुः ॥ (श्रीहट्टिसिपा ३-४)

द्वितीय अध्याय

संहिता-प्रकरण

[१. संहिता-पाठ, २. संहिता-पाठ में दीर्घ-श्रुति, ३. संहिता-पाठ में अनुनासिक-श्रुति, ४. संहिता-पाठ में शाखाकृत अनुनासिक-भेद, ५. संहिता पाठ में अन्य विशेष, ६. संहिता पाठ में कम्प-स्वर, ७. कम्प-स्वर में शाखाकृत-भेद]

१. संहिता-पाठ

वैदिक संहिता-पाठ अनादि-काल से जीवित और समुन्नत मनुष्य-जाति का जीवन-संगीत है। सरस्वती के वरद-पुत्रों ऋषि-मुनियों से गाये हुए इस जीवन-संगीत में प्रागैतिहासिक काल से जीवित आर्य-जाति के उज्ज्वल चरित्रों का संदेश आज भी सामान्य-रूप में मनुष्य-मात्र को, विशेष कर जीर्ण-शीर्ण आर्य-मर्यादा को अनुप्राणित कर रहा है। इसके उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-एकश्रुति के लय-ताल से मुखरित आरोह-अवरोह-क्रम में वीचित्ररङ्ग-न्याय से लय-ताल के साथ आरोह और अवरोह-क्रम का अनादि संगीत गाती हुई समुद्र की महान् उर्मियों का सजीव चित्रण है।

ऋग्वेद की ऋचाओं पर ही लय-ताल के समन्वय तथा सामञ्जस्य के साथ साम-वेद के साम गाये जाते हैं (ऋचि ऋष्युं साम गीयते)। यह कथन सर्वथा सत्य है। इसीलिये साम-वेद के सात्यमुग्नि राणायनीयों के साम-गान का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए 'एओड' सूत्र के महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने 'सुजाते अश्वसूते' (ऋ. ५, ७९, १) साम-वेद (१, ४२१) इस ऋग्वेद की ऋचा का साम-गान-प्रकार 'सुजाते ए (ए, अ) अश्वसूते', 'अश्वयो अदिभि सुतम्' (ऋ. ९, ५१, १; सावे १, ४९९) का 'अश्वयो ओ (ओ, अ) दिभिः सुतम्' और 'शुकं तं अन्वद् यजतं तं अन्यत्' (श्व. ६, ७८, १; सावे १, ७५) का 'शुकं तं ए (ए अ) न्वद् यजतं तं ए (ए-अ) न्वत्' दिखाया है।

मो पू षः (ऋ. १, १७३, १२) इत्यादि के रूप में पत्य-णत्य-दीर्घापत्ति की संपुटित लय के साथ गाया हुआ छन्दो-बद्ध पद-समाहार वैदिक संहिता-पाठ का एक पद प्रतीत होता है। जो कि लौकिक छन्दो-रचना के पद से सर्वथा भिन्न है। छन्दो-रचना के इसी अनादि-न्योत से वाल्मीकि-व्यास आदि की अनवरत दृष्ट पत्रावली अनुप्राणित हुई है।

संहिता-पाठ का सरल अर्थ है संहिता के साथ या संहिता में वेद-ऋचाओं का पढ़ना। वर्णों के अत्यन्त संनिकट सम्यन्ध को महर्षि पाणिनि ने संहिता माना है^१। महर्षि कात्यायन ने शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य में वर्णों की अ-विच्छिन्न आनुपूर्वी को संहिता कहा है^२। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में पूर्व-पद के अन्तिम अक्षर के साथ आगामी पद के आद्यक्षर के अव्यवहित सम्यन्ध को संहिता कहा गया है^३। महर्षि यास्क के मत में तथा अथर्ववेद-प्रातिशाख्य (१,१,२) की परिभाषा में पद-समुदाय की प्रकृति ही संहिता है^४। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की विष्णुमित्र-कृता वृत्ति में वेद-मन्त्रों के अविच्छिन्न अध्ययन को निर्भुज (संहिता) माना है^५।

वैदिक मन्त्रों तथा ब्राह्मणों का मूल-पाठ उदात्त अनुदात्त स्वरित और एक-श्रुति (प्रचय) की स्वर-शृङ्खला में अनुस्यूत होने के कारण सर्वथा संरिलिष्ट है। इसी लिये उस पाठ को संहिता-पाठ कहा गया है। जैसे—‘अभीमवन्वन्स्वभिष्टिमूतयः’ (ऋ. १,५१,२) यह संहिता-पाठ है। ऐसे क्लिष्ट संहिता-पाठ में उदात्त आदि स्वरों का विवेचन तो दूर रहा, पद-च्छेद भी असम्भव है, जब तक इस संहिता-पाठ का पद-पाठ न पढ़ा जाय। जब ‘अभि। इम्। अवन्वन्। सुऽअभिष्टिम्। ऊतयः।’ इस पद-पाठ के साथ निर्दिष्ट संहिता-पाठ को पढ़ते हैं तो एक-एक पद का स्वर और उसका अर्थ हृदयंगम हो जाता है। स्वर-शृङ्खला का ज्ञान कराने के लिये ‘अग्निर्मळिं पुरोहितम्’ (ऋ. १,१,१) इस मन्त्रांश का उदाहरण पर्याप्त है। ‘अग्निर्मळिं’ इतने वाक्य में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा एक-श्रुति का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। यह मन्त्र ऋग्वेद का है। ऋग्वेद में यदि शब्द अन्तोदात्त है तो उदात्त

१. परः संनिर्पः संहिता (पा. १,४,१०६)। २. वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता (शुभा. १,१५८)। ३. पदान्तान् पदादिभिः संदधद्वेति प्रायः यत्सा कालान्यवायेन (ऋभा. २,१-२)। ४. पद-प्रकृतिः संहिता, पदप्रकृतीनि सर्व-चरणानां पार्यदानि (निरुक्त १,१७)। अत्र द्विधा वर्णयन्ति—पदानां या प्रकृतिः सेयं पद-प्रकृतिः संहिता। किं कारणम्? संहितातो हि पदानि प्रक्रियन्ते, तस्मात् संहितैव प्रकृतिः, विहारः पदानोत्थेवमेके मन्यन्ते। अपरे पुनः पद-प्रकृतिः संहितेति पदानि प्रकृतिर्यस्याः सेयं पद-प्रकृतिरिति। किं कारणम्? पदान्येव संहन्य-मानानि संहिता भवन्ति, तस्मात् पदान्येव प्रकृतिः, विहारः संहितेति (दुर्गाचार्य-भाष्यम्)। संहिता पद-प्रकृतिः। यथा तन्तूनां वासो यथा दारु-शिला-मृदां प्रासादः, तथा च संधि-शास्त्राणि पदसंधानार्थं प्रोक्तानि (अभा. १,१,२)। ५. सन्धेर्विन्नतं निर्भुजं

अक्षर का चिह्न पता करने के लिये उसके पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे (-) पड़ी रेखा पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। ऋग्वेद में उदात्त अक्षर का अपना कोई चिह्न नहीं होता। जिस अक्षर से पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे (-) पड़ी रेखा अनुदात्त (मन्त्रतर) की होगी^१, उस अनुदात्त रेखा वाले अक्षर के अनन्तर विना चिह्न का अक्षर उदात्त माना जायेगा। और ऊर्ध्व रेखा से युक्त अक्षर स्वरित^२। 'अग्निमीळि' इस वाक्य में नीचे पड़ी रेखा 'अ' के नीचे है, इस लिये 'अ' अनुदात्त है। और इस 'अ' के अनन्तरवर्ती अक्षर 'ग्नि' पर ऊपर नीचे कोई रेखा या किसी प्रकार का चिह्न नहीं है इसलिये 'ग्नि' अक्षर उदात्त कहलायेगा। और विना रेखा वाले उदात्त 'ग्नि' अक्षर के अनन्तर 'मी' अक्षर के सिर पर \perp यह खड़ी रेखा स्वरित अक्षर की सूचक है। और खड़ी रेखा वाले 'मी' इस स्वरित अक्षर के अनन्तर 'ळि' यह अक्षर फिर विना रेखा का है। स्वरित के बाद विना रेखा का अक्षर एक-श्रुति है।^३

यही उदात्त अनुदात्त स्वरित और एक-श्रुति के ज्ञान का क्रम 'पुरोहितम्' शब्द में भी विद्यमान है। 'पुरोऽहितम्' शब्द समस्त है। शाकल्य पठ-पाठ में समस्त शब्दों के मध्य में (ऽ) इस प्रकार का विच्छेदक चिह्न लगता है। समास में पूर्व-पठ 'पुरम्' शब्द अव्यय है और इसके अन्तिम 'रस्' के 'र' पर उदात्त का चिह्न है। वार्तिक-नियम^४ के अनुसार स्वर-विधि में व्यञ्जनों को अविद्यमान के तुल्य मान कर उनकी स्थिति न-नाएय होती है, इस लिये 'रस्' के 'स्' को न-नाएय (अविद्यमान-वत्) मान कर उदात्त का अक्षर 'र' पर ही होता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि समास का पूर्ववर्ती 'पुरम्' शब्द अन्तोदात्त है।

पदन्ति ॥३॥ स्वर्णोऽस्ति नमः अग्निदेवस्य नमः । (१) स्वर्णोदात्तपारश्चर स्वर्ण
तदा निहा इत्यने (कौशि. १०) । स्वरे स्वरिते उदात्ते च परत मति पूर्ववर्ते
निहत अनुदात्त इत्यने इत्यर्थे । २. (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित (पा ८, ४, ६६) ।
उदात्तादुत्तरो मीष मन्थाने स्वरित स्वर (कौशि. ६) । (३. स्वर्णितान् मन्थितान्
मनुदात्तानाम् (पा. १, २, ३६) । स्वरितद् उपर मन्थितान् अनुदात्तानाम् एकश्रुति
भेदोऽर्थः । 'स्वरितान् उत्तरो मीष मन्थाने इत्यने । बहुष्वेभ्य तगा ने ह्यु
स्वर्णोदात्तरो म तु (कौशि. ११) । पापर स्वरितो वा उदात्तो वा परत परत न
इत्यने, स्वरितान् उता सर्वेषामेऽनुदात्तानां मेषव (एकश्रुति) मन्थितान् तदात्तम् ।
४. स्वर्णितानाम् मन्थितानाम् (पा ६, १, २३३) । स्वर्णने स्वरेण मन्थितम्
(शुभा १, १००) ।

'अग्निमीळे' इस वाक्य में भी 'अग्निम्' शब्द अन्तोदात्त था। अन्तोदात्त शब्द यदि वाक्य के या समस्त शब्द के पूर्वावयव के रूप में उपलब्ध हो तो उदात्त अक्षर का ज्ञान कराने के लिए 'अग्निमीळे' इस वाक्य में चढ़ायी गई स्वर-शृङ्खला का परिशीलन सहायक होगा। तदनुसार 'पुरोऽहितम्' इस समास में भी 'पु' के नीचे अनुदात्त की रेखा के अनन्तर 'रो' इस रेखा-शून्य अक्षर को उदात्त कहना होगा। 'रो' इस उदात्त के अनन्तर-भावी 'हिं' पर खड़ी रेखा वाला स्वरित-चिह्न तथा उसके अनन्तर बिना रेखा वाला 'तम्' एक-श्रुति मानना होगा। यह प्रक्रिया उन वाक्यों या समस्त शब्दों में चरितार्थ होती है, जहाँ अन्तोदात्त शब्द है।

प्रारम्भ में या पूर्व-पद में, वाक्य में या समस्त पद में, यदि शब्द का आदि अक्षर उदात्त हो तो दूसरी प्रक्रिया है। उदाहरणार्थ इस मन्त्र में 'होताम्' शब्द को ले सकते हैं। 'होतृ' शब्द वृन्-प्रत्ययान्त नित-स्वर से आद्युदात्त है। इस शब्द का आद्यक्षर 'हो' उदात्त है, जो चिह्न-रहित है, और यह पाद के आदि में होने से किसी पूर्ववर्ती अनुदात्त के अनन्तर भी नहीं है। ऐसे उदाहरणों में पूर्ववर्ती अनुदात्त (सन्नतर) की रेखा उदात्त अक्षर से पूर्व अनिवार्य नहीं है। 'हो' उदात्त, उसके अनन्तर 'तां' स्वरित और अन्त में 'रम्' एक-श्रुति यह अनुगम करना होगा। इसी प्रकार 'ध्वन्वि तु वेपु' (ऋ २, ११, १५) है। इसका पद-पाठ 'ध्वन्त्वे, इत्, तु, वेपु' है। यहाँ 'पु' के स्वरित-चिह्न तक सब चिह्न-शून्य अक्षर उदात्त है। तीसरी प्रक्रिया में आगे-पीछे चिह्न-शून्य उदात्त अक्षर होंगे, और दोनों के मध्य में अनुदात्त (सन्नतर) की नीचे पड़ी रेखा (-) से युक्त अक्षर। यथा—'प्र य शाह' (ऋ ३, ७, १)। यहाँ मध्य में 'आ' अनुदात्त है, और आगे-पीछे क्रम से 'य' तथा 'ह' चिह्न-रहित उदात्त है। स्वरानुसन्धान की विलक्षणता के कारण चौथी प्रक्रिया 'न्यम्बक वजामहे' (ऋ ७, ६, १२) इस मन्त्र-भाग में है। यहाँ मन्त्र का आद्यक्षर 'त्रि' उदात्त है जो कि अनन्तरवर्ती अनुदात्त 'अ' के साथ क्षैप्र-स्वरित की परिभाषा से स्वरित होकर 'त्रि' इस स्वरूप में परिणत है। 'होताम्' की प्रक्रिया से इस में इतनी ही विशेषता है कि वहाँ उदात्त 'हो' की श्रुति स्वतन्त्र है, और परवर्ती संहिता-स्वरित 'तां' की श्रुति स्वतन्त्र। और 'ध्वन्त्रम्' के 'ध्व' में क्षैप्र-स्वरित होने के कारण यण-संधि

के नियम से पूर्ववर्ती 'त्रि' उदात्त और उत्तरवर्ती 'भ्र' अनुदात्त का सङ्ग्लिष्ट अन्वय हो जाने के कारण स्वतन्त्र उदात्त और स्वरित का श्रवण नहीं है ।]

अथ वेद के मन्त्र का अर्थ समझने के लिए संहिता-पाठ की विगोपताओं पर ध्यान देना आवश्यक है ।

२ संहिता-पाठ में दीर्घ-श्रुति

वेद में कुछ ऐसे शब्द हैं जिनके पद-पाठ में ह्रस्व की श्रुति है तो संहिता पाठ में उनकी दीर्घ-श्रुति हो गई है । यद्यपि ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (७ से ६ पटल तक) तथा शुक्ल यजुर्वेद-प्रातिशाख्य (३, ६७-१३०) में विस्तार के साथ वैदिक शब्दों की प्रातिस्विक दीर्घ-श्रुति का उत्कृष्ट उपपादन किया गया है । तथापि उस सम्पूर्ण विषय का सक्षेप से प्रायः अष्टाध्यायी के सूत्रों में ही समावेश होने के कारण फाटक-वर्ग की सुविधा के लिए संहिता-पाठ में दीर्घ-श्रुति के नियामक कतिपय अत्यावश्यक नियम पाणिनीय सूत्र के आचार पर ही प्रस्तुत किए जाते हैं—

१ क्विप्-प्रत्ययान्त नह्, वृत्, वृप्, विध्, रच्, सह (साह), तन्, परे हो तो पूर्व-पद के अन्त में दीर्घ-श्रुति होती है । यथा—प्रीणहम् (ऋ १, ३३ / पया प्रिणहम्) । अनंशवृत् (ऋ ६, -२, ५ पया अनंशवृत्) । श्रावृषि (ऋ ७, १०३, ३, ६) । श्रावृषा (शौ १२, १, ४६) । निदिष्ट पाणिनीय सूत्र के नियम से क्विप्-प्रत्ययान्त प्रावृप् शब्द में संहिता-पाठ में यद्यपि दीर्घ श्रुति उपलब्ध है किन्तु इसका पद पाठ पूर्व पद में ह्रस्व-श्रुति वाला उपलब्ध नहीं होता । प्रत्युत अथग्रह-रहित श्रावृप् ऐसा ही पद-पाठ मिलता है । यद्यपि श्योडार महोदय ने मैत्राकर्या (३, १६, ४) के अपने टिप्पण में फाट २२, १४ के स्थल पर 'प्रवृषा' ऐसे पाठ का संकेत किया है, जो कि पाणिनीय नियम के अनुरूप है, किन्तु फाटक-संहिता के उपलब्ध समस्त संस्करणों में मुद्रित पाठ प्रावृषा ही है । हृदयविध् (ऋ १, १४८ मा हृदयविध् पया हृदयविध्) । क्वीर्ययम् (मं ३, १५, ३ पया क्वीर्ययभिर्निरक म्यां) । मा २५, ३ में यही पद-पाठ संहिता-पाठ है । विश्वामाहम् (ऋ ३, ४७, ५ पया विश्वामाहम्) । अभीषदां (मं २, ३, २, ६ पया अभीषदाभि-महा) । पुरीकता (मा २४, ८, ३६, २ पया पुरीकतेति पुरि कता) ।

वेद में कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं, जिनके सहिता-पाठ में दीर्घ-श्रुति है, परन्तु निर्दिष्ट पाणिनीय नियम में उनका संकेत नहीं है। जैसे—
अन्नावृधम् (ऋ. १०, १, ४ पपा. अन्नऽवृधम्) यहाँ उत्तर-पद में 'वृध' √वृधु (वृद्धौ) धातु का विवचन्त रूप है, किन्तु उक्त नियम में 'वृध' का निर्देश नहीं है। इस लिए ऐसे सहिता-दीर्घ के लिए प्रातिशार्य का परिशीलन आवश्यक होगा। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (६, २३) में सहिता-दीर्घ वाले शब्दों में इसका भी परिगणन है। इसके अतिरिक्त शौनक-चतुरध्यायी (३, २४) के वृध, वरी, वान शब्दों के परे पूर्ववर्ती ऋत-शब्द को सहिता-दीर्घ कहा गया है^१। उक्त सूत्र में अन्न-शब्द का भी परिगणन करके अन्नऽवृधम् में सहिता-दीर्घ की उपपत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार अभीवृतम् (ऋ. १, ३५, ४ पपा. अभिऽवृतम्) शब्द है। उक्त पाणिनीय नियम के अनुसार क्त्रप्-प्रत्ययान्त 'वृत्' को ही सहिता-दीर्घ विहित है। किन्तु 'अभीवृतम्' शब्द क्त-प्रत्ययान्त है और वहाँ सहिता-दीर्घ उपलब्ध है। पाणिनीय नियम से तो यहाँ निर्वाह हो नहीं सकता, इस लिए 'वर्तादिषु' (शौच ३, १२) सूत्र से यहाँ सहिता-दीर्घ की व्यवस्था करनी होगी। इसी लिए शौनक-चतुरध्यायी के अगरेजी टीकाकार हित्ते महोदय ने अभीवृता (ऋ १, १६४, २६, शौ ६, १५, ७ पपा. अभिऽवृता) उदाहरण उक्त सूत्र का प्रस्तुत किया है।

२. घञ्-प्रत्ययान्त शब्दों में पूर्ववर्ती उपसर्ग को सहिता-दीर्घ होता है।^२ यथा—अभीऽर्गात् (शौ ११, २, ४ पपा. अभिऽवर्गात्)। अभीऽवर्गे (शौ ३, ५, ३ पपा. अभिऽवर्गे)। अभीऽवर्तं (मा १४, २३ पपा. अभिऽवर्तं-इत्यभिऽवृत्तं)। अनूयाजा (तै २, ९, १, ६ पपा. अनूयाजा इत्यनु याजा)। परिऽदाप (मा १६, २१ पपा. परिऽनापऽइति परि वृत्राप) इत्यादि।

३. काश-शब्द उत्तर-पद में हो तो सहिता-पाठ में पूर्ववर्ती इगन्त (अपि, अभि, अनु, नि आदि) उपसर्ग को दीर्घ होता है।^३ यथा—अनूकाशम् (तै. ५, ४, १ ३ पपा. अनूकाशमिन्वन्तु काशम्)। अनूकाशेन (मा. २५, २ पपा. अनूकाशेनेत्यनु काशेन)। वृभुनीकाशा (मा २४, १८ पपा. वृभुनीकाशाऽइति वृभु नीकाशा)।

१. ऋत वृधवरीवानेषु (शौच ३, २४)। २. उपसर्गस्य घ-यमनुष्ये बहुलम् (पा. ६, ३, १२२)। ३. एक काशे (पा ६, ३, १२३)।

४. सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य इन शब्दों के अन्त में मतुप् प्रत्यय परे रहते संहिता-पाठ में दीर्घ होता है^१। यथा—सोमावतोम् (ऋ. १०, ६७, ७ पपा. सोमऽवतोम्)। अश्वावत्या (ऋ. १, ३०, १७ पपा. अश्वऽवत्या)। अश्वऽवतोम् (ऋ. १०, ६७, ७ पपा. अश्वऽवतोम्)। इन्द्रियावान् (मा. ६, २७ पपा. इन्द्रियवान् इन्द्रिय वान्)। विश्वदेव्यावता (ऋ. १०, १७०, ४ पपा. विश्वदेव्यवता)।

५. ऋचाओ में तु, नु, घ, मधु, तद्, कु, न, उरुप्य इन सज को संहिता-पाठ में दीर्घ होता है^२। यथा—तु (ऋ. १, १०, ११ पपा. तु)। नू (ऋ. १, १०, ६ पपा. नु)। घा (ऋ. १, ५, ३ पपा. घ)। मधू (ऋ. १, ३६, ७ पपा. मधु)। तच् से लोट् लकार के मध्यम पुरुष के बहुवचन में 'थ' के स्थान में ङिन् 'त' आदेश का रूप ग्राह्य है। यथा—भरता (ऋ. १, १३६, १ पपा. भरत)। वृमना की संहिता-दीर्घ की श्रुति अनुपलब्ध है। यद्यपि मै. ४, २, १३ में कुमना ऐसा आद्युदात्त पाठ मिलता है, जो कि सूत्र का उदाहरण नहीं है। यत्रा (ऋ. १, २२, ४, ८९, ६ पपा. यत्र)। उरुप्या (ऋ. १, ६१, १५ पपा. उरुप्य)। यह वैदिक धातु रक्षा करने अर्थ में है।

६. इक् (इ, उ, ऋ) अन्त वाले शब्दों को 'मु' निपात परे रहते संहिता पाठ में दीर्घ होता है^३। यथा—अभी पु ण (ऋ. ४, ३१, ३ पपा. अभि, सु, न)। ऊर्ध्वं ऊ पु ण ऊतये (ऋ. १, ३६, १३ पपा. ऊर्ध्वं, ऊँ इति, सु, न, ऊतये)।

७. दो अच् (स्वर-वर्ण) वाली तिङन्त क्रिया के अन्तिम अकार को संहिता-पाठ में दीर्घ होता है^४। यथा—विद्या हि त्वा (ऋ. १, १०, १० पपा. विद्य, हि, त्वा)। यत्रा नरचक्रा (ऋ. १, ८६, ६ पपा. यत्रं न, चक्र)। भवा वाजस्य (ऋ. १, ६१, १६ पपा. भव, वाजस्य) इत्यादि। 'यत्रा' में संहिता-दीर्घ पाचवें नियम से हो रहा है।

कहीं पहले अच् को भी दीर्घ मिलता है। यथा—सन्ति (ऋ. २, २८, १ पपा. सन्ति)।

८. निपातो को संहिता-पाठ में दीर्घ हो जाता है^५। यथा—एवा (ऋ. १, १, ८ पपा. एव)। अक्दां (ऋ. १, २, २ पपा. अक्दां)। अघां (ऋ. ७, ७६, १ पपा. अघं) आदि।

१. मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (पा. ६, ३, १३१)। २. ऋषि तुनुचमनुतङ्कुरोरुपाणाम् (पा. ६, ३, १३३)। ३. इक् सुत्रि (पा. ६, ३, १३४)। ४. द्रवघोस्तस्तिड (पा. ६, ३, १३५)। ५. निपातस्म घ (पा. ६, ३, १३६)।

६. अन्य अनेक वैदिक शब्दों को भी संहिता-पाठ में दीर्घ देखा जाता है^१। दो अच् वाली अकारान्त तिङन्त क्रिया को संहिता-पाठ में दीर्घ सातवें नियम से विहित है। यदि इकारान्त दो अच् वाली तिङन्त क्रिया हो, या अनेक अच् वाली कोई भी तिङन्त क्रिया हो तो संहिता-पाठ में दीर्घ के लिए इस नियम के अन्तर्गत उनका समावेश किया जा सकता है। यथा—ध्रुधी हवम् (ऋ. १, २५, १६ पपा. ध्रुधि, हवम्) । उर्षसेदिम उपम (ऋ. १, १६, २ पपा. उर्षसेदिम, यम) । नृणुधी गिरः मा. १३, ५२ पपा. नृणुधि, गिरः) इत्यादि ।

ऐसे ही ल्यप-प्रत्ययान्त क्रियाओं को संहिता-पाठ में दीर्घ होता है। यथा—प्रतिगृह्यां (ऋ. १, १२५, १ पपा. प्रतिगृह्यां) । परिगत्यां (ऋ. २, १५, ४ पपा. परिगत्यां) ।

१०. क्यच् प्रत्यय परे हो तो अश्च और अघ शब्दों को संहिता-पाठ में आकार अन्त्य आदेश होता है^२। यथा—अश्वायन्तः (ऋ. ७, ३२, २३ पपा. अश्वायन्तः) । अघायतः (ऋ. १, ९१, ८ पपा. अघायतः) । अघायुः (ऋ. १, १४७, ४ पपा. अघायुः) ।

११. यकार जिसके आदि में हो ऐसे क्यच् क्यच् प्रत्यय परे हों तो अजन्त शब्दों को दीर्घ हो जाता है। कृन् या सार्वधातुक यकारादि प्रत्ययों को छोड़ कर^३। यथा—वृषायते (ऋ. १०, १४, ९ पपा. वृषायते) । वृषायते (ऋ. १, १८, ४ पपा. वृषायते) । सुखीयते (ऋ. १, १२८, १ पपा. सुखीयते) । इषूयते (ऋ. १, १२८, ४ पपा. इषूयते) ।

इच्छार्थक क्यच् प्रत्यय परे रहते भी दीर्घ होता है। यथा—जनीयन्तः (ऋ. ७ ९६, ४ पपा. जनीयन्तः)। यहां इच्छार्थक क्यच् प्रत्यय परे रहते इकारान्त 'जनि' (=जाया) शब्द के इकार को दीर्घ हुआ है। इसी लिये इस ऋग्वेद के 'जनीयन्तः' शब्द का पाठ-भेद अथर्ववेद (१४, २, ७२) में 'जनीयन्ति' उपलब्ध होता है। शौनक-चतुरध्यायी (३, २८) में 'इच्छायां च यकारादौ' (इच्छार्थ में क्यच् प्रत्यय परे होने पर ह्रस्व और दीर्घ दोनों विकल्प से होते हैं) सूत्र का उदाहरण प्रस्तुत करते

१. अन्येषामपि दृश्यते (पा. ६, ३, १३७) । २. अरत्रायत्पात् (पा. ७, ४, ३७) ।

३. अहस्तासर्वधातुकयोर्दीर्घः (पा. ७, ४, २५) ।

हुए हिले महोदय ने दीर्घ का उदाहरण 'जनीयते' (शौ. ६,८२,३)^१ तथा ह्रस्व का उदाहरण अथर्व-वेद का उक्त 'जनिषन्ति' ही दिया है। जनीयन्तः (ऋ. ७,६६,४) का अर्थ है 'जाया की इच्छा रखने वाले'। ऐसे ही अन्य इकारान्त शब्दों से क्यच् प्रत्यय पर होने पर संहिता में दीर्घ और पद-पाठ में ह्रस्व-श्रुति के लिये 'सरि' शब्द का सखीयन् (ऋ. ५, ४९,१ पपा. सुखिऽयन्) प्रयोग देखें।

इसके विपरीत 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' (पा. ७,४,३५) के वार्तिक 'अपुत्रादीनामिति वक्तव्यम्' का उदाहरण देते हुए 'आदि' पद से महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने 'जनीयन्तः' (ऋ. ७,९६,४) को ही प्रस्तुत किया है। और उनके समर्थन में कैयट, भट्टोजिदीक्षित, तथा काशिकाकार आदि व्याकरण के महान् आचार्यों ने 'जनमिच्छन्त- जनीयन्तः' यह विग्रह दिखा कर 'जनि' शब्द से नहीं अपि तु 'जन' शब्द से इच्छा में क्यच् प्रत्यय माना है।

'न च्छन्दस्यपुत्रस्य', (पा. ७,४,३५) सूत्र में पूर्व सूत्र 'अस्य च्छी' (पा. ७, ४,३२) तथा क्यचि च' (पा. ७,४,३३) की अनुवृत्ति है, इस लिये सूत्र का अर्थ होगा—छन्द में (वेद में) किसी भी ह्रस्व अकारान्त शब्द को इच्छार्थक क्यच् प्रत्यय पर रहते ईकार^२ तथा दीर्घ^३ नहीं होते, पुत्र शब्द को छोड़ कर।

अर्थात् पुत्र-शब्द को ही दोनों कार्य होते हैं दूसरे किसी अदन्त शब्द को नहीं। परन्तु वार्तिककार महर्षि वररुचि को वेद में पुत्र-शब्द के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे अदन्त शब्द मिले, जहाँ इच्छार्थक क्यच् प्रत्यय पर रहते अदन्त को ईत्व तथा दीर्घ का विधान था, उन्होंने सूत्र के 'अपुत्रस्य' के स्थान में 'अपुत्रादीनामिति वक्तव्यम्' यह वार्तिक बनाया। जिसका तात्पर्य है कि ईत्व तथा दीर्घ के निषेध में केवल पुत्र-शब्द ही अपवाद नहीं, अन्य भी शब्द अपवाद हैं।

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने 'पुत्रोयन्तः सुदानव' (ऋ. ७,९६,४)

१. शौ. ६,८२,३ में 'तेनां जनीयते जागं मद्यं धेहि शचीपते' यह मन्त्र का अर्थ है। 'जनीयते' का पद-पाठ जनिऽयते है। अथर्व-वेद के इस मन्त्र का सायण-भाष्य—'जायन्तेऽस्याम् अत्पानीति जनिनांवा, तामात्मन इच्छते। यद्वा पुत्रेणोत्पत्तिर्जनि, तस्कामाय मद्यं जागं भागं धेहि देहि प्रयच्छ शचीपते!' है। यहाँ 'जनीयते जायाम्' इस वाक्य में स्पष्ट जनि की इच्छा प्रतिफलित है।
२. क्यचि च (पा. ७, ४, ३३)। ३. अकृसाबंध तुभ्योर्दीर्घः (पा. ७,४,२५)।

के पूर्ववर्ती पाठ 'जुनीयन्तो म्वप्रव' (ऋ. ७,१६,४) के 'जुनीयन्त' शब्द को 'जन' इस अकारान्त शब्द से क्यच् प्रत्यय मान कर ही वार्तिक के 'आदि' पद की चरितार्थता के लिये प्रस्तुत किया है। महर्षि का यह प्रयत्न वेद के प्राकरणिक अर्थ की कसौटी पर युक्ति-युक्त नहीं जंचता। नहीं 'जुनियन्त' इस पद-पाठ से मेल-खाता है। नहीं अथर्व-वेद (१४,२,७२) के 'जुनियन्ति' इस पाठ-भेद से सामञ्जस्य रखता है। और नहीं अथर्व-वेद (६,८२,३) की भावना का आदर करता है।

इस लिए 'श्रुत्यादीनामिति वक्तव्यम्' इस वार्तिक में 'आदि' शब्द की चरितार्थता के लिये 'जुनीयन्त' के स्थान में अन्य कोई उदाहरण प्रस्तुत होना चाहिये। और यह उदाहरण है—'अध्वरीयसि' (ऋ. १०,११,११) 'पा. अध्वरिष्यसि' 'अध्वर' शब्द भी पुन-शब्द के समान अकारान्त है। क्यच् प्रत्यय परे होने पर अध्वर+य इस स्थिति में 'क्यचि च' (पा. ७,४,३३) से अन्त्य 'अ' को 'ई' हो जाता है। उसका निषेध 'न च्छन्दस्त्वपुत्रस्व' (पा. ७,४,३६) सूत्र से न हो, इसलिये वार्तिक में पठित 'आदि' शब्द चरितार्थ हो जायगा।

इतना विचार होने पर भी पाणिनीय संप्रदाय के साथ पद-पाठ का विरोध दना ही रहता है। क्योंकि अकारान्त शब्दों को क्यच् प्रत्यय परे होने पर 'क्यचि च' (पा. ७,४,३३) सूत्र से 'ई' आदेश होता है, ह्रस्व 'इ' को दीर्घ 'ई' नहीं। पद-पाठ में ह्रस्व की श्रुति संहिता-पाठ के दीर्घ-श्रवण की परिच्छेदक है न कि 'अ' के स्थान में 'ई' होने की, इस लिये पद-पाठ में भी, 'जुनीयन्त' 'अध्वरीयसि' इस प्रकार दीर्घ ईकार का ही श्रवण होना चाहिये, न कि 'जुनियन्त', 'अध्वरिष्यसि' इत्यादि में ह्रस्व इकार का उच्चारण। परन्तु पदपाठकार महर्षि शाकल्य के समुद्र अथर्व-वेद (१४,२,७२) का 'जुनियन्त' शब्द है। जहाँ क्यच् प्रत्यय से पूर्व ह्रस्व इकार की श्रुति उपलब्ध है। जो कि पाणिनीय व्याकरण से संगत नहीं, प्रतीत होता है किसी पूर्ववर्ती वैदिक व्याकरण के अनुगम से पद-पाठ और अथर्ववेद-पाठ में ह्रस्व इकार की श्रुति है। तथा ऋग्वेद में संहिता-पाठ में 'जुनीयन्त' यह दीर्घश्रुति

१ ऋ. ७,१६,४ में 'जुनीयन्तो म्वप्रव जुनीयन्त सुदानव' यह मन्त्र का अर्थ है। जहाँ 'जुनीयन्त' का च्छन्दमाध्याय-भाष्य 'जायामात्मन इच्छन्त' है। स्तवण भाष्य भी—'जायन्त आत्मपत्यानीति जनयो जाया, ता इच्छन्त' है।

जो कि शौनक-चतुर्ध्यायी (३, २८) के 'इच्छाया च यकारादौ' सूत्र से स्पष्ट है।

१२ वेद में कुछ धातु ऐसी हैं जिनके अभ्यास को सहिता पाठ में दीर्घ होता है^१। यथा—मामहन्ताम् (ऋ १, १४, १६ पपा ममहन्ताम्) आदि।

१३ तृतीयाविभक्त्यन्त 'तद्' और 'यद्' शब्दों को भी सहिता-दीर्घ होता है^२। तेना (ऋ १, ४६, २, शौ. ६, ८०, ३ पपा तेन) येन (ऋ १, २०, ६ पपा, येन) आदि। यद्यपि अष्टाध्यायी में इसका विधायक सूत्र उपलब्ध नहीं है, तथापि 'अन्येषामपि दृश्यते (पा ६, ३ १३७) सूत्र से ऐसे स्थलों में निर्वाह हो सकता है।

संहिता-पाठ में सधि कृत दीर्घ भी उपलब्ध होता है। जैसे—सन्धीयते (ऋ १, १४, १ पपा स, उ, इयते)।

३. सहिता-पाठ में अनुनासिक-श्रुति

० सहिता-पाठ के एक ही पाद में दीर्घ-अक्षर (आ, ई ऊ) से परे अट् प्रत्याहार के (अ इ उ ऋ लृ ए औ ऐ औ ह य व र ल) वर्णों में से कोई भी पर में हो तो पूर्ववर्ती न् को र् (रु) हो जाता है^३। और 'र' से पूर्ववर्ती 'आ' हो तो नित्य अनुनासिक 'आँ यह श्रुति होती है^४। अन्यथा इवर्ण उवर्ण पूर्व होने पर विकल्प से अनुनासिक होगा^५। यथा—सुभगाँ अरि (ऋ. १, ४, ६ पपा. सुभगान्, अरि)। स्तोमाँ अमिस्वर (ऋ १, १०, ४ पपा. स्तोमान्, अमि, स्वर)। हविष्माँ आविवांसति (ऋ १, १२, ६ पपा हविष्मान्, आविवांसति)। महां इन्द्र (ऋ १, ८, ५ पपा महान्, इन्द्र)। देवाँ इहावह (ऋ. १, १२, ३ पपा देवान्, इह, आ, वह)। ताँ उग्रत (ऋ १, १२, ४ पपा तान्, उग्रत)। वसूँरिह रुद्राँ आदित्यो उत (ऋ १, ४५, १ पपा वसून्, इह, रुद्रान्, आदित्यान्, उत)। ताँ इन्द्र (ऋ १, १६ ६ पपा तान्, इन्द्र)। देवाँ एह (ऋ १, १, २ पपा देवान्, आ, इह)। यजत्राँ ऋतावृषे (ऋ १, १०, ७ पपा यजत्रान्, ऋतावृषे) इत्यादि।

१ तुजादीना दीर्घोऽप्यासस्य (पा ६, १, ७)। २ तृतीया-तस्य (शौच ३, १६)। ३ दीर्घादिति समानपादे (पा ८, ३, ६)। नकारस्य पदान्तस्य स्वरै रेफो विधीयते (शैशि २०)। ४ आतोऽटि नित्यम् (पा ८, ३, ३)।

५ अत्राऽनुनासिक पूर्वस्य तु वा (पा ८, ३, २)।

यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि उक्त निर्दिष्ट उदाहरणों में सर्वात्र अ, इ, उ, ऋ, ए परे रहते प्रक्रियानुसार पहले पूर्ववर्ती 'न्' को 'र्' (रु) हुआ, पश्चात् 'र्' के पूर्ववर्ती 'आ' को 'आँ' अनुनासिक की श्रुति हुई है। जहा तो 'र्' से पूर्व अवर्ण (आ) है, वहा 'भोभगोअवोअपूर्म्य योऽशि' (पा ८,३,१७) के नियम से 'र्' को 'य्' होकर 'लोप शाकल्य' (पा ८,३,१६) सूत्र से 'य्' का लोप हो गया है। और जहा 'र्' के पूर्व अवर्ण के अतिरिक्त अन्य कोई स्वर ई, ऊ है, वहा अवर्ण-पूर्व न होने के कारण 'भोभगो०' (पा ८,३,१७) के नियम से 'र्' को 'य्' न हुआ और नहीं लोप की सभावना है। ऐसे स्थलों में सहिता-पाठ में अनुनासिक के बाद 'र्' की श्रुति रहती है। यथा—वसूरिह (अ. १,४५,१ पपा. वसून्, इह)। ऋतूरुवु (ऋ १, १५,५ पपा ऋतूरु, अरु)। इपुधीरसक्त (ऋ १,३३,३ पपा इपुधीन्, असक्त)। ऐसे ही वन्दूरिमाँ अवर्ण इन्दो (ऋ ६,६७,१७) में पर-वर्ती स्वर-वर्ण से पूर्व पूर्व के 'न्' को 'र्' (रु) होकर पूर्व को अनुनासिक हो रहा है। तथा 'वन्दूर' में अवर्ण-पूर्व न होने के कारण 'र्' की श्रुति विद्यमान है। अन्यत्र लोप हो गया।

२. सहिता-पाठ में पाठ के अन्त में अ-प्रगृह्य (प्रगृह्य-संज्ञा से रहित) अण् (अ, इ उ) को अनुनासिक-श्रुति होती है। यथा घनेनै (ऋ १,३३,४) तेजनेनै (ऋ १,११०,५) आदि।

४. सहिता-पाठ में शाखा-कृत अनुनासिक-भेद

एक ही मन्त्र में ऋग्वेद में सहिता-पाठ में अट् प्रत्याहार परे रहते 'न्' को 'र्' होकर पूर्ववर्ती वर्ण को अनुनासिक का निर्देश होता है, उससे भिन्न शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन-शाखा में, और शुक्ल-यजुर्वेद की उक्त शाखा से काण्व-शाखा में अनुनासिक निर्देश की प्रक्रिया भिन्न है। यथा—ऋग्वेद में अनुनासिक निर्देश का 'अस्माँ ङ देवा' (१०,१०३,११) यह प्रकार है। इसी मन्त्र की शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन-सहिता (१७,४३) में 'अस्माँ२ऽङ देवा' यह निर्देश का प्रकार है। और काण्व-सहिता (१८,११) में 'अस्माँ ३ ङ देवा' इस प्रकार का अनुनासिक-निर्देश है। एक ही मन्त्र में जो ऋग्वेद तथा शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन-सहिता और काण्व-सहिता में अक्षररा पठित है यह अनुनासिक भेद दिग्याया गया है। ऋग्वेद तथा

माध्यन्दिन-संहिता तथा काण्व-संहिता में अनुनासिक-निर्देश का यही प्रकार सर्वत्र उपलब्ध होगा। ऐसे ही अमित्रो^१ भृष्यार्धमान (श्र. १०, १०३, ४), अमित्रो^२ रश्म्यार्धमान (मा. १७ ३६), अमित्रो^३ भृष्यार्धमानः (का. १८, ४, ४) का भेद ज्ञातव्य है।

५. संहिता-पाठ में अन्य विशेष

संहिता में रेफ-श्रुति—^१वधंजघान (श्र. ५, ३२, ३ पपा वधं, जघान) वनपदं^२ (श्र. ७, ३१, १ पपा वनऽमदं)। भविभृपरथं (श्र. १०, ६६, १० पपा भविभ, उषऽरथं), ^३स्वयंयद्वेदिं (श्र. ४, १६, ४ पपा स्वः, यत्, वेदिं) इत्यादि।

रात्य—प्रजेतारं. (श्र. १, १६३, ५ पपा प्रजेतारं) आदि।

पत्य—नृपाद्यं (श्र. १, १००, ५ पपा नृऽसद्यं)। ज्योतिष्पश्यन्तः (श्र. १, ५०, १० पपा ज्योतिं, पश्यन्त)। यूयं हि प्या (श्र. १, १५, २ पपा यूयम्, हि, प्य)। चमूपदं (श्र. १, १४, ४ पपा चमूऽमदं)। विदुष्यरं (श्र. १, ३१, १४ पपा विदु उत्तरं)। स्वर्षां (श्र. १, १००, १३ पपा स्वऽऽ)। सिपक्तु (श्र. १, ८२, २ पपा सिपक्तु)। सिर्षामन्तीषु (श्र. १, १७, ८ पपा सिर्षामन्तीषु)। हविष्कृतम् (श्र. १, १३, ३ पपा हविष्कृतम्)। पीम् (श्र. १, ६५, २ पपा पीम्)। आविष्ट्यं. (श्र. १, ६५, ५ पपा आवि ज्य)।

पत्य विकल्प से भी होता है^४। यथा—सुपमिद्ध (कौ ७, ६६७ पपा सु समिद्ध) सुसमिद्ध (श्र. १, १३, १)। सुप्राथि (श्र. ६, ७५, ६) सुताथिम (पै. १६, ३३, १४)।

सत्य—शोचिषस्पते (श्र. ५, ६, ५ पपा शोचिष, पते)। शवमस्पते (श्र. ५, ६, ६ पपा शवम्, पते)।

सुहृ-आगम—सुसर्वत्र (श्र. ५, ६, ५ पपा सुऽर्वत्र)।

पृष्टत्व—दृष्ट्य (श्र. १, ६४, ८ पपा पृऽष्ट्य)।

ह्रस्व^५—विद्व ऋतेन (श्र. १, १५२, १ पपा विद्वं ऋतेन)।

दो स्वर-वर्णों के मध्यवर्ती 'ड' को संहिता में 'ळ' पढा जाता है और ऊष्म-वर्ण 'ह' के साथ सयोग होने पर उसी 'ड' को 'ढ' होकर

१ वधराद्युदात्तम् (श्रमा १, ८३)। २ वनेति रेफ. सदशब्द उत्तरे (श्रमा. ४, ८६)। ३ स्व स्वरितम् (श्रमा. १, ८३)। ४ पूर्वपशत् (पा ८, ३, १०६) ५ ऋत्यक (पा. ६, १, १२८)।

'ळहं' पढ़ा जाता है^१। यथा—अग्निमीळं (ऋ. १,१,१)। सर्नाळिभिः (ऋ. १,१००,५) इळाम् (ऋ. ७,४४,२) आदि। साळ्ढा (ऋ. ७,५६,२३)।

६. संहिता-पाठ में कम्प-स्वर

(यद्यपि कम्प-स्वर स्वरित का ही विशेष रूप है) और इसका निरूपण भी स्वरित-प्रकरण में होना चाहिये था, तथापि तथाकथित कम्प का स्वरूप संहिता-पाठ में ही प्रायः निष्पन्न होता है, इस लिए यहीं पर इसका विवेचन किया जाता है।

१. वेद (ऋग्वेद, अथर्व-वेद आदि) के संहिता-पाठ में यत्र-तत्र ऽ, ऽ यह अद्भुत दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, कौहडिशिक्षा तथा शैशिरिय-शिक्षा आदि में इन्हें कम्प कहा गया है। ह्रस्व-स्वरित के आगे ऽ ऐसा ह्रस्वत्व का द्योतक ह्रस्व-कम्प लगता है। जैसे—धीर्यं^१बलम् (तै. ४,१,१०,३)^२। और दीर्घ-स्वरित के आगे ऽ ऐसा दीर्घत्व का द्योतक दीर्घ-कम्प लगता है। जैसे—तन्वां^३स्वायाम् (तै. २,६,२)। इस प्रकार कम्प के ह्रस्व-कम्प और दीर्घ-कम्प दो भेद हैं।

२. अष्टाध्यायी में इस कम्प का प्रतिपादक सूत्र 'तस्यादित उदात्तमर्ध-ह्रस्वम् (पा. १,२,३२) है। अर्थात् उस (स्वरित) की आदि की अर्ध-मात्रा उदात्त होती है, शेष अनुदात्त। ह्रस्व-स्वरित में अर्ध-मात्रा उदात्त की, शेष अर्ध-मात्रा अनुदात्त की होगी। दीर्घ-स्वरित में अर्ध-मात्रा उदात्त की और डेढ़ मात्रा अनुदात्त की। और प्लुत-स्वरित में अर्ध-मात्रा उदात्त की तथा शेष ढाढ़ मात्रा अनुदात्त की होगी यह आचार्यों की व्यवस्था है। ह्रस्व-स्वरित में उत्तरार्ध की अनुदात्त की अर्ध-मात्रा को सूचित करने के लिये ह्रस्व-कम्प (ऽ)। और अन्यत्र (ऽ) दीर्घ-कम्प।

३. उक्त कम्प का चिह्न प्रायः जात्य (नित्य-स्वरित, 'नित्यस्वरितम्' [पा. ६,१,१०५] सूत्र से निष्पन्न), क्षेप्र-स्वरित (सन्धि में जहाँ इ उ को य घ् हो गया है), प्रदिलष्ट-स्वरित (दीर्घ-सन्धि से निष्पन्न) और अभिनिहित-स्वरित (पूर्यरूप-सन्धि से निष्पन्न) इन चार प्रकार के स्वरितों का

१. 'द्रुणोरणारण स्वरयोर्मध्यमे'य ह्रस्वत्वे स ढकारो ढकारः। ङहकारतामेति स एव षास्य ढकारः समुच्चयान्ता मंत्रयुक्तः (ऋ. १,५१)। ढही षरहायेयेयाम् (ऋ. ४,१४४)।

२. धीर्यं^३बलम् इति द्वय ह्रस्वः कम्प उदीरितः।

तन्वां^३स्वायाम् इतीत्यादिदीर्घः कम्पो विदीर्यते ॥ (शैशि. २,२)।

बोध कराने के लिये लगाया जाता है, यदि इन स्वरितों के अनन्तर उदात्त या स्वरित अक्षर विद्यमान हों ।

इस विरलेपण से उदात्त-परक ह्रस्व-कम्प और दीर्घ-कम्प तथा स्वरित-परक दीर्घ-कम्प दोनों ही दो प्रकार के हो जाते हैं । यथा—

(क) वह ह्रस्व-कम्प जिसके अनन्तर-परवर्ती उदात्त अक्षर हों । यथा—क्व॑त्रो च॒क्रा (ऋ १,३४,६), न्य॑घ्न्यस्य (ऋ. १, ३०, १६) । यहाँ दोनों ह्रस्व-कम्पों के अनन्तर क्रमशः 'त्री' और 'घ्न्य' यह दोनों उदात्त अक्षर वर्तमान हैं । पहला उदाहरण जात्य-स्वरित का, दूसरा उदाहरण सौप्र-स्वरित का है ।

(ख) वह दीर्घ-कम्प जिसके अनन्तर-उत्तरवर्ती उदात्त अक्षर विद्यमान है । यथा—क्वे॑दानीम् (ऋ १,३०,७), मनु॑प्या॒इच॒रांसि (ऋ ७,८६,५), वी॒र्या॑णो॒न्द्रं (ऋ ३,४६,१) । यह सब दीर्घ-कम्प के उदाहरण जात्य-स्वरित के हैं । यहाँ क्रमशः 'दा', 'च', 'णी' यह उदात्त अक्षर परवर्ती विद्यमान हैं । दीर्घ-कम्प के दूसरे स्वरितों के भी अनेक उदाहरण विस्तार के भय से नहीं दिये गए हैं । वैदिक-साहित्य में अधिकांश उदाहरण अनन्तर-परवर्ती उदात्त अक्षर के ही मिलेंगे ।

(ग) वह कम्प जिसके अनन्तर-परवर्ती स्वरित अक्षर हो । जैसे—शु॒क्च॑ः॒ यो॑ऽहं (ऋ १०,१४४,४) । यहाँ ३ इस दीर्घ-कम्प के अनन्तर-परवर्ती 'हं.' स्वरित है । यो॒अहं॑ इस अवस्था में पूर्वरूप होकर यो॑ऽहं यह अभिनिहित-स्वरित का उदाहरण है । 'अहं' शब्द का 'अहं.' सौप्र-स्वरित है ।

४ ऋग्वेद में द्वि-उदात्त शब्दों के पद-पाठ में सहिता-स्वरित में भी कम्प-स्वरित का उदाहरण मिलता है—शची॑र्षति॒म् (ऋ. १,१०६, ६, सषा शची॑र्षति॒म्) । तनू॑न्पा॒त् (ऋ ३,२६,११ सषा तनू॑न्पा॒त्) ।

५. यदि उदात्त या स्वरित अक्षर परवर्ती न होगा, प्रत्युत अनुदात्त अक्षर पर में होगा तो पूर्ववर्ती स्वरित को कम्प का चिह्न नहीं लगता । जैसे—वो॑षि चकथे (ऋ १,१०३,७) । यहाँ 'चकथे' यह

१. जात्योऽभिनिहितश्चैव सौप्र प्ररिलेप एव च ।

पृते स्वारा प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदया ॥ (ऋषा ३,३४) ।

अभिनिहित-प्ररिलेप-जात्य सौप्राणाम् उदात्तस्वरितोदयानाम् ।

अणुमात्रा निघाता विरम्पित तन् क्वयो वदन्ति ॥ (शौच ३,६५)

✓ कृ धातु की सर्वानुदात्त क्रिया अनन्तर-परवर्ती है, इसलिये उसके पूर्व 'वीर्यम्' में ह्रस्व-कम्प का चिह्न नहीं लगा। यही न्याय दीर्घ-कम्प में भी चरितार्थ होता है (7)

[सिद्धान्त-कौमुदी के समस्त उपलब्ध संस्करणों में 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (पा. १,२,३२) का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ह्रस्व-कम्प का 'क्वःवोश्वाः', दीर्घ-कम्प का 'स्थाना न येऽरा', तथा स्वरित-परक दीर्घ-कम्प का 'शुतचक्रं योऽहं' यह चिह्न दिखाया है। इसमें 'येऽरा' का 'ऽ' यह कम्प-चिह्न विवादास्पद है। यह मन्त्र-खण्ड ऋग्वेद (१०,७८,४) का है। ऋग्वेद के सहिता-पाठ में 'येऽरा' ऐसा कम्प का चिह्न है वह भी संदिग्ध है। ये+अरा इस स्थिति में पूर्वरूप सधि होकर अभिनिहित-स्वरित का यह उदाहरण है। ऋग्वेद के तथा अन्य वेदों के ऐसे अभिनिहित स्वरित के उदाहरणों में सर्वत्र ऽ यह दीर्घ-कम्प का चिह्न वर्तमान है। यथा—वानीतेऽस्या (ऋ. ८,४६,२१ पवा. वानीते, अस्या) यहा भी पूर्वरूप सधि से अभिनिहित स्वरित हुआ है। परन्तु कम्प का चिह्न ऽ है। इमेऽग्निम् (ऋ. ८,७४,६) तेऽमुष्मे (शौ १६,६,७) समाऽमेऽभिमाता (मै २,२,१०)। स्मरण रहे मैत्रायणी सहिता में ऽ का चिह्न भावी स्वरित का सूचक है। सिद्धान्त-कौमुदी में प्रदर्शित ऽ यह कम्प तो वैदिक-साहित्य में दुर्लभ है। यद्यपि मैसूर में मुद्रित तैत्तिरीय-आरण्यक (२,६,२) के संस्करण में तुन्वाऽस्वार्थम् ऐसा कम्प का चिह्न मिलता है। परन्तु पूना से प्रकाशित आनन्दाश्रम-ग्रन्थावली के तैत्तिरीय-आरण्यक के संस्करण में यही शब्द तुन्वाऽस्वार्थम् इस ह्रस्व-कम्प से युक्त मिलता है। कालिकाता-संस्करण के तैत्तिरीय-आरण्यक में यही शब्द तुन्वाऽस्वार्थम् मिलता है। एक ही ग्रन्थ के संस्करण-भेद से विवाद-प्रस्त कम्प-चिह्न सिद्धान्त-कौमुदी के कम्प-चिह्न की पुष्टि में उपोद्बलक नहीं हो सकते। 7

७. कम्प-स्वर में शाखाकृत-भेद

[ऋग्वेद में निर्दिष्ट प्रकार से जो कम्प-स्वर का चिह्न माना है, यही चिह्न यजुर्वेद की माध्यन्दिन-शाखा तथा काण्व-शाखा में उदात्त-स्वरित-परक पूर्ववर्ती स्वरित में नहीं लगाते। माध्यन्दिन-संहिता में पूर्ववर्ती स्वरित के नीचे (w) यह चिह्न और काण्व-संहिता में स्वरित के नीचे (-) यह चिह्न लगाया जाता है। यथा—शङुःपुंःप्रधंवा (ऋ १०,१०३,३)। माध्यन्दिन-संहिता (१७,३२) में शङुःपुंःप्रधंवा तथा काण्व-संहिता (१८,४,३) में शङुःपुंःप्रधंवा ।

तृतीय-अध्याय

[१. पद-पाठ, २. पदपाठ-वर्ता, ३. शास्त्र की पदपाठ-शैली, ४. पदपाठ-शैली का तुलनात्मक अध्ययन, ५. पद-पाठ की तीन अवस्थाएँ, ६. पद-पाठ में 'इति' का योग, ७. पद-पाठ में अवग्रह-नियम, ८. अवग्रह के अपवाद]

१. पद-पाठ

वैदिक संहिता-पाठ के दुरूह तथा दुर्ज्ञेय शब्दों का आर्ष-व्याख्यान पद-पाठ है। ऋषियों की वाणी से प्रादुर्भूत वैदिक मन्त्र, सूक्त, अनुवाक आदि के शब्दों के स्वर-ज्ञान के लिए ही पदाध्ययन (पद-पाठ) की आवश्यकता है^१।

शुक्ल-यजुर्वेद-प्रातिशाख्य के प्रणेता महर्षि कात्यायन के मत में संहिता का अभाव ही पद-विच्छेद (पद-पाठ) है^२। तथा वैदिक अर्थों की अभिव्यक्ति ही पद (पद-पाठ) का लक्ष्य है^३।

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की विष्णुमित्र-कृता वृत्ति में विना संधि किए दो अक्षरों का या पदों का शुद्ध उच्चारण ही प्रवृण (पद-पाठ) है^४।

पद-पाठ का अर्थ है पदाध्ययन। संहिता-पाठ की संश्लिष्ट मन्त्रानुपूर्वी का पद पद करके अध्ययन। पद-शब्द से सुबन्त तथा तिङन्त शब्द,^५ उपसर्ग अव्यय तथा निपात^६ सम्पूर्ण शब्द-राशि अभिप्रेत है। पद-शब्द से पद-पाठ में हलादि भ्याम् भिस् आदि विभक्तियों से पूर्व प्रकृति भी ग्राह्य है^७। पद-शब्द से समास के पूर्व-पद की प्रकृति भी ग्राह्य है^८। विशेष विवेचन आगे करेंगे।

१. ऋषिप्रोक्त-मन्त्रादिशब्द-स्वरज्ञानार्थः पदविभागः (अप्रा. १, १, ३)। पदाध्ययनम् अन्तादिशब्दस्वरार्थज्ञानार्थम् (शौच ४, १०७)। २. पदविच्छेदोऽ-संहितः (शुभा. १, १५६)। ३. अर्थः पदम् (शुभा. ३, २)। ४. शौद्धाक्षरो-च्चारणं च प्रवृणम्। शुद्धे द्वे अक्षरे पदे वा रुग्न्धिमुकुर्वतोच्चारिते, तत् प्रवृणम् पदाध्ययनमिति तदाशयः। ५. सुप्तिङन्त पदम् (पा. १, ४, १४)। ६. अण्वया-दाप्सुपः (पा. २, ४, ८२)। सुपो लुकि यः शिष्यते स लुप्यमानार्थमिधायीति न्यायेनाव्ययानां पदत्वम्। ७. स्वादिप्त्वसर्वनामस्थाने (पा. १, ४, १७)। ८. प्रत्यय-लोपे प्रत्ययलक्षणम् (पा १, १, ६२)।

२. पदपाठ-कर्ता

ऋग्वेद के पदपाठकार महर्षि शाकल्य हैं। वैदिक संहिताओं की शब्द-राशि को पद पद के स्वाध्याय से अवगत कराने की इनकी शैली बड़ी प्राञ्जल तथा सरल है। महर्षि पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध अष्टाध्यायी ग्रन्थ में इनके सुगृहीत नाम का स्मरण करके इनका आदर किया है। 'लोपः शाकल्यस्य' (पा. ८, ३, १६) 'संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनापै' (पा. १, १, १६) इत्यादि। साम-वेद के पदपाठकार महर्षि गार्ग्य हैं। इनके प्रति भी उन्होंने आदर दिखाया है। 'अङ् गार्ग्यगालवयोः' (पा. ७, ३, ६६)। कृष्ण-यजुर्वेद (तैत्तिरीय-संहिता) के पदपाठकार महर्षि आत्रेय हैं। यह सब निर्विवाद हैं। शुक्ल-यजुर्वेद तथा अथर्व-वेद के पदपाठकार अज्ञात हैं।

३. शाकल्य की पदपाठ-शैली

पद-पाठों के पद-विच्छेद के अपने निर्धारित नियम हैं। जिनका विस्तार से संपूर्ण प्रातिशाख्यों में उल्लेख है। हम सार-भूत कतिपय नियमों का विस्तृत संकेत आगे प्रकरण में यथा-स्थान करेंगे। यहाँ शैली का संकेत करते हैं।

१. प्रत्येक सुवन्त, तिङन्त, उपसर्ग, अव्यय, निपात का पृथक्-पृथक् निर्देश। यथा—भूमिः। पूर्वभिः। ऋषिभिः। ईद्व्यः। नृतमैः। उत (ऋ. १, १, २)।

१. वैशम्पायनो यास्कस्यैतां प्राह पद्भ्ये ।

यास्कस्तित्तरये प्राह उताय प्राह तित्तिरिः ॥

उतः शास्तामिमां प्राह आत्रेयाय यरास्विने ।

तेन शाखा प्रणीतेयम् आत्रेयीति च सांच्यते ॥

पस्याः पदकृदात्रेवो वृत्तिकारस्तु बुषिडनः ।

तां त्रिद्वामो महाभागां भद्रमरुतते महत् ॥

(तैत्तिरीय-काण्डानुक्रमणिका तृतीय अध्याय २५-२७ श्लोक)

अथ भट्टभास्कर-व्याख्यानम् (तै. १, १, १, १)—

पूर्वं भगवता व्यामेन जगदुपशारायं एकीभूय स्थिता वेदा व्यन्ताः। शास्त्राथ परिषिद्धाः। तत्र वैशम्पायनं नाम शिष्यं यजुरशास्त्रानामाधिपये नियुजोः। स यैतं पाठं यास्काय, यास्कश्च तित्तरये, सोऽपि चोताय, उतायात्रेयाय इति। येन पदविभागश्चे, चात्रयेवं शास्त्रा आत्रेयीयुष्यते।

२. अ-संदिग्ध समस्त पदों में दो पदों का समास दिखलाने के लिए मध्य में (ऽ) इस प्रकार का विच्छेदक (अवग्रह) चिह्न ।

३. सुवन्त शब्दों में पूर्वपदत्व समझाने के लिए प्रकृति और प्रत्यय के मध्य में (ऽ) अवग्रह का चिह्न ।

४. जिन वैदिक शब्दों के संहिता-पाठ में दीर्घ हुआ है, उनकी ह्रस्व-श्रुति दिखलानी ।

५. प्रगृह्य-संज्ञा की योग्यता वाले वैदिक शब्दों के साथ 'इति' का योग । जहां 'इति' का योग होगा, वहां पदपाठकार अवग्रह का चिह्न नहीं लगाते ।

६. संहिता-पाठ में अनुनासिक की श्रुति नहीं है, पद-पाठ में उपलब्ध है । जैसे—विन्दती३ (ऋ. १०, १४६, १) । यह संहिता-पाठ है । इसका पद-पाठ विन्दतीं३ है^१ ।

७. संहिता-पाठ में कुछ परिगणित शब्दों के परे रहते 'ईम्' के अन्त्य 'म्' का लोप हो जाता है पद-पाठ में नहीं । जैसे—समीं पृच्यते (ऋ. १, १०३, १) । यहां संहिता-पाठ में 'ईम्' के 'म्' का लोप होकर सम्+ईम् के स्थान में 'समीं' पढ़ा गया है^२ । पवा. 'सम्, ईमिति, पृच्यते' है ।

८. पद-पाठ में दह्-धातु के रूपों में प्रायः 'द्' को 'ध्' होगा । जैसे—घृक्षुर्धः (ऋ. १, १४१, ७ संपा. इक्षुर्धः) । धाक्षि (ऋ. १, १४१, ८ संपा. दधि) ।

९. जिन शब्दों में प्रकृति प्रत्यय के किसी भी अंश में अणुमात्र भी संशय हो, वहां अवग्रह चिह्न नहीं लगता ।

महर्षि यास्क ने अपने प्रसिद्ध वेदाङ्ग निरुक्त (१, १७) में उदाहरण से स्पष्ट कर के पदपाठकार की अवग्रह-शैली का सूक्ष्म विवेचन किया है^३ :—'अवसायं पुद्वै रद मृळ' (ऋ. १०, १६६, १) इस मन्त्र के 'अवसायं' को 'अवस' (पाथेय, अन्न) शब्द की चतुर्थी का एकवचन मान कर

१. तत् त्रिमात्रे शाकला दर्शयन्ति (ऋषा. १, ६४) । २. ईमियत्तलोप एपूर्वेषु, गर्भे गावो वसं मृजन्ति पृष्यते (ऋषा. ४, ८३) । ३. अवसायं पुद्वै रद मृळ (ऋ. १०, १६६, १) । अत्रनेर्गण्यस्याऽसौ नामकरणः । तस्मान्नात्रगृह्णन्ति । 'अत्रसायारवांन्' (ऋ. १, १०४ १) इति, स्वतिरुपगृष्टो विमोचने । तस्माद् अत्रगृह्णन्ति (निरुक्त १, १७) ।

'पाथेय अन्न के लिए' यह अर्थ अभिप्रेत है तो 'अवस' शब्द √अव् (गत्यादिपु) धातु से औणादिक 'असच्' प्रत्यय करके अन्तोदात्त निप्पन्न होगा और एक ही शब्द होने के कारण पदपाठकार मध्य में (ऽ) यह अवग्रह का चिह्न नहीं लगाते। इसके विपरीत 'अवसावाश्वान्' (ऋ. १, १०४, १) इस प्रयोग में 'अश्वों को खोल कर' इस अर्थ में 'अवसाय' शब्द का अर्थ 'खोल कर' या 'छोड़ कर' है। जो अव उपसर्ग पूर्व में होते हुए √पो अन्तकर्मणि का यह ल्यप्-प्रत्ययान्त रूप है। उपसर्ग की सामर्थ्य से धातु का अर्थ 'छोड़ना या खोलना' है। स्पष्ट तौर पर पदपाठकार को 'अव' उपसर्ग और √पो का ल्यवन्त रूप 'साय' दृष्टिगोचर हो रहा है। इसलिए गति (उपसर्ग) और क्रिया का समास मान कर 'अवसाय' ऐसा अवग्रह करते हैं।

जहाँ वैदिक शब्द के पद-पाठ में दो पदपाठकारों का मत भेद देखा जाता है। महर्षि यास्क दोनों पदपाठकारों का आदर करते हुए दोनों के पद-पाठों के अनुसार वेद के शब्द का अर्थ करते हैं। उदाहरण के लिए निरुक्त (४, ४) में 'मिहना' (ऋ. ५, ३९, १) शब्द पर दोनों पद-पाठकारों के अभिमत का सामञ्जस्य करते हुए उन्होंने शब्द के दो अर्थ मान लिए हैं। महर्षि शाकल्य के पद-पाठ में 'मिहना' शब्द एक है और अनवगृहीत है। उनके मन्तव्य का आदर करते हुए महर्षि यास्क ने मन्त्र का व्याख्यान 'यदिद्र चित्र चायनीय मंहनीय धनमस्ति' किया है। जिसमें 'मिहना' का अर्थ 'महनीयम्' किया है। साम-वेद के पद पाठ में महर्षि गार्ग्य के मत में 'मिहना' इस वैदिक शब्द में 'मे', ईई, नै' (ऋ. १, ३४५) यह तीन शब्दों की सन्धि है, इसलिए पद-पाठ में उन्होंने तीन शब्द अवग्रह दिखा कर किये हैं। महर्षि यास्क इनके प्रति भी सन्मान दिखाते हैं। और व्याख्यान में 'य' में इह नास्ति इति वा प्रोवि मप्यमानि पशनि' यह पदान्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। जिसका भाव स्पष्ट है। निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ने बड़ी अथवात भाषा में महर्षि यास्क का हृदय खोला है।

वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार स्वन्दरयामी तो पदपाठकारों की अवग्रह-शैली या सूत्रम विवेचन करते करते अपने निरुक्त-भाष्य (२, १३) में 'आदिष्य' शब्द पर कहा कि यह गण वि पदपाठकारों की अवग्रह शैली बड़ी विलक्षण है। महर्षि शाकल्य (ऋग्वेद के पदपाठकार) तथा महर्षि आश्रय (तैत्तिरीय-संहिता के पदपाठकार) 'आदिष्य' शब्द में पर्व

प्रदर्शित निर्वचन के अभिप्राय से अवग्रह नहीं करते, और सामवेद के पदपाठकार महर्षि गार्ग्य ने उसी निर्वचन के आधार पर 'आदित्य' में औं श्रैव (कौ. १,२१) ऐसा अवग्रह दिखाया है। पदकारों के अभिप्राय भी विचित्र हैं। उपसर्ग और क्रिया का समास सर्व-विदित है। परन्तु कहीं उपसर्ग के विषय में भी अवग्रह का चिह्न नहीं लगाते। जैसे महर्षि शाकल्य ने अधीवासम् (ऋ. १,१४०,६) में अवग्रह नहीं दिखाया। और महर्षि आत्रेय ने तैत्तिरीय-संहिता (४,६,६,२) में इसी अधीवासम् का अधीवासमित्यधि-वासम् इस प्रकार अवग्रह दिखाया है। माध्यन्दिन-संहिता के पद-पाठ में विकल्प से अधीवासमित्यधि वासम् ऐसा अवग्रह दिखाया है इस लिए पदकारों की अवग्रह-शैली अज्ञेय है^१।

महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण-महाभाष्य (३,१,१०९) में पद-पाठकारों की अवग्रह-शैली पर विवेचन करते हुए उनकी अमृदु समालोचना की है—'पदकारों को व्याकरण के अनुसार अवग्रह लगाना चाहिए, न कि पदकारों के अवग्रह के अनुसार व्याकरण के सूत्र बनने चाहिए'^२। प्रसङ्ग 'आज्येन' (ऋ. १०,५३,२) शब्द की सिद्धि का है। शब्द आद्युदात्त है, और √अञ्जू धातु से क्यप् प्रत्यय करके सिद्ध करना है। वार्तिककार का मत यह है कि 'आज्य'

१. अधीवासमित्येके (शुभा. ५,२३)। सावग्रहं कुर्वन्तीत्यर्थः। यथा—
अधीवासमित्यधि वासम्। पदान्तरे तु अधीवासम्।

२. आदित्यः कस्मात् ? 'आदत्ते रसान्' भुवो रश्मिभिः, 'आदत्ते भामम्', तदुदयेऽन्तर्यानाद् आदानव्यपदेशः, ज्योतिषां चन्द्रमन्त्रप्रहार्दानाम्।.....उभयत्र ददातेरादित्यः। 'आदीप्तो भासा' इति वा, ज्योतिरन्तरापेक्षया दीप्तः।.....आदीप्तो भवतीति वा पाठात्तरम्।... अदितेः पुनः इति वा।.....शाकल्याऽऽग्नेय-प्रभृतिभिर्नावगृहीतं, पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिर्वगृहीतमिति, तदेव कारणम्। विचित्राः पदकाराणांभिप्रायाः। क्वचिद् उपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति। यथा शाकल्येन 'अधीवासम्' इति नावगृहीतम्। आत्रेयेण तु 'अधी-वासम्' इत्यव-गृहीतम्। तस्माद् अग्रमहोऽनग्रह इति (स्कन्दस्वामिभाष्यम् निरुक्त २,१३)।

३. संज्ञायाम् अञ्जेओपसंख्यानं कर्तव्यम्। आज्यम्। यदि क्यब् वृद्धिर्न प्राप्नोति। तस्मात्क्यब् एव। यदि क्यब् उपधात्तो न प्राप्नोति। तस्मात् क्यप् एव। ननु चोक्तं वृद्धिर्न प्राप्नोतीति। आङ्पूर्वस्यैव प्रयोगो भविष्यति। यद्येवम्, अवग्रहः प्राप्नोति। न स्रक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम स्रक्षणम् अनुवर्त्यम्। यथास्रक्षणे पदं कर्तव्यम् (महाभ एव ३,१,१०६)।

शब्द को क्यप्-प्रत्ययान्त सिद्ध करने के लिए 'एतिस्तुशास्वृद्भुपः क्यप्' (पा. ३, १, १०६) सूत्र में √अब्जु धातु का भी उपसंख्यान कर लेना चाहिए। 'अन्जेशोपसंख्यानं संज्ञायाम्'। महाभाष्यकार ने इस पर विचार प्रारम्भ किया कि आद्युदात्त-स्वर की सिद्धि के लिए और धातु के नकार का लोप करने की दृष्टि से यदि क्यप्-प्रत्यय का उपसंख्यान होगा तो 'अज्यं' शब्द निष्पन्न होगा, 'आज्यं' नहीं, वृद्धि कहां से होगी, और यदि वृद्धि की संभावना के लिए एयत् प्रत्यय करते हैं तो आद्युदात्त 'आज्यं' शब्द निष्पन्न न होगा, प्रत्युत 'तिस्वरितम्' (पा. ६, १, १०५) के अनुसार एयत्-प्रत्यय में 'त्' की इत्संज्ञा हो कर तित् होने के कारण अन्त-स्वरित 'आज्यं' बनेगा जो कि वेद का शब्द नहीं है, और धातु के न् का लोप भी न होगा। फिर क्या युक्ति हो। इस लिए आङ्-उपसर्ग-पूर्वक √अब्जु धातु से क्यप् प्रत्यय मान कर भा+अज्यं को सवर्ण-दीर्घ से 'आज्यं' सिद्ध कर लें। ऐसा होने से इस वैदिक शब्द 'आज्यं' में 'आऽअज्यं' इस प्रकार का अथग्रह प्राप्त होगा, और पदकार ने अथग्रह किया नहीं है। इस पर महाभाष्यकार ने पदकार के मत की अचहेलना करते हुए कहा है कि व्याकरण से यदि वैदिक शब्द सिद्ध होता है और पदकार के अथग्रह की शैली उसमें प्रतिबन्धक है तो पदकार को व्याकरण के अनुसार चलना चाहिए। भावार्थ यह कि धातु और उपसर्ग का समास होने पर भी पदकार को अथग्रह नहीं दिखाना चाहिए।

आइये, जरा पदकार की अथग्रह-शैली के औचित्य पर विचार करें। पहले कह आए हैं कि जिस वैदिक शब्द की व्युत्पत्ति में पदकार को अणुमात्र भी मन्देह होता है, वहां अथग्रह का चिह्न नहीं लगाते। 'आज्यं' शब्द की भी अनेक व्युत्पत्तियां हैं। √अब्जु से पार्तिककार का मत और आङ्-उपसर्ग-पूर्वक √अब्जु से महाभाष्यकार का मत यतलाया ही जा चुका है। षाठक-संहिता (२४, ०) के अनुसार 'पर अजो-अन्तर तद् अज्यस्य आन्वयम्' की शब्दावली से 'आज्यं' शब्द की निष्पत्ति 'अज' शब्द से है। 'अजयेवाऽऽजयन्त क्यप् तद् आकनाम् आन्वयम्' इस ऐतरेय-ब्राह्मण (२, ३९) के अनुसार 'आज्यं' शब्द की निष्पत्ति आङ्-उपसर्ग-पूर्वक √जि 'जये' धातु से है। स्मरण रहे कि 'आज्यं' शब्द के वेद में दो अर्थ हैं—१. पी, २. स्वोत्र। दोनों ही आद्युदात्त हैं। षाठक-संहिता का प्रमाण पृथ-याचक 'आज्यं' शब्द की सिद्धि में सहायक है। और ऐतरेय-ब्राह्मण का प्रमाण गोत्र-याचक 'आज्यं' शब्द की निष्पत्ति

मे । ताण्ड्य-ब्राह्मण^१ के अनुसार 'आजि' (युद्धवाचक) शब्द से 'आज्य' शब्द सिद्ध होता है । भाष्यकार उव्वट ने माध्यन्दिन-सहिता (२,६) के अपने भाष्य में √अञ् 'गतिचेपण्यो' धातु से 'आज्य' शब्द की सिद्धि की है । विविध व्युत्पत्तियों से सर्वथा सदिग्ध तथा विवादास्पद 'आज्य' शब्द में अवग्रह का चिह्न न लगा कर हमारी समझ में पदकार ने उचित मार्ग ग्रहण किया है । और महाभाष्यकार का पदकार को अवग्रह-शैली के लिए आक्षिप्त करना उचित नहीं । अन्जेशोपसरयानम्^२ वार्तिक में धातु के दीर्घत्व का भी उपसख्यान करके अवग्रह-रहित 'आज्य' शब्द सिद्ध हो सकता है ।

शाकल्य की पदपाठ-शैली निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

१. सहिता-पाठ—चायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंष्टता । तेषां पाहि ध्रुधी हर्वम् ऋ (१,२,१) ।

पद-पाठ—चायो इति । आ । याहि । इन्त । इमे । सोमा । अरम् ऋना । तेषाम् । पाहि । ध्रुधि । हर्वम् ।

पद-पाठ में 'वायो' इस संबुद्धि-शब्द के साथ 'इति' का संबन्ध उसकी प्रगृह्यता का सूचक है । शाकल्य की इसी पदपाठ-शैली का निर्देश 'संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनाये' (पा १,१,१६) सूत्र में स्पष्ट मिलता है । सूत्र में 'अनाये' यह शब्द इस तथ्य का सकेत करता है कि प्रगृह्यसज्ञोपयोगी संबुद्धि शब्दों के साथ 'इति' का संबन्ध 'आये' मन्त्र का भाग नहीं है, अपितु अर्थ-विश्लेषण की सुविधा के लिये शाकल्य का अपना लगाया हुआ है । अत एव 'अनाये' है । 'अरम्ऋना' इस समस्त पद में दो पदों का समास दिखाने के लिये मध्य में (ऽ) चिह्न से अवग्रह दिया गया है । अरम् (=अलम्) की गति-संज्ञा^२ होने से परवर्ती कर्मकान्त 'कृत' के साथ यह गति-समास है । सहिता-पाठ में 'ध्रुधी' इस दीर्घान्त क्रिया-पद को 'ध्रुधि' इस प्रकार ह्रस्व करके प्रस्तुत किया है । सहिता के अन्य शर्तों का भी पृथक्-पृथक् निर्देश है । शाकल्य की इस परिमार्जित पदपाठ-शैली से वेद-मन्त्र का अर्थ सहज में ही समझ में आ जाता है । पद-पाठ का यह सामान्य प्रकार है ।

१ त आजिमापन्, अजाजिमायेस्तदाज्यानाम् आज्यम् (तांश ७,२,१) ।

२ भूपणेऽरम् (पा १,४,६४) ।

२. संहिता-पाठ—द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वृत्समुप
धापयेते। हरिरुन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुको अन्यस्यां ददृशे
सुवर्चा। (न. १, ६५, १)।

पद-पाठ—द्वे इति। विरूपे इति विरूपे। चरतः। स्वर्थे इति
सुसुअर्थे। अन्यासभन्या। वृत्सम्। उप। धापयेते इति। हरिः। अन्यस्याम्।
भवति। स्वधावाञ्छुको। शुकः। अन्यस्याम्। ददृशे। सुवर्चा।

यहां द्वि-शब्द द्विवचन में एकारान्त 'द्वे' है, इसकी प्रगृह्य-संज्ञा^१
होती है। इस लिए पद-पाठ में 'इति' का सह-उच्चारण होकर 'द्वे
इति' पढ़ा जायेगा। यह उपस्थित संज्ञक पद-पाठ है। 'विरूपे' के साथ
भी एकारान्त द्विवचन होने से 'इति' का सह-उच्चारण है, विशेषता
यह है कि समस्त पद होने के कारण यह स्थितोपस्थित पद-पाठ की
अवस्था में है और 'विरूपे' के मध्य में अवग्रह एवं आन्नेडित उच्चारण
होने से विरूपे इति विरूपे ऐसा पद-पाठ पढ़ा गया है। 'चरतः'
क्रिया-पद है, सर्वानुदात्त^२ है। 'स्वर्थे' भी समस्त पद एकारान्त द्विवचन
है, यहां 'विरूपे' के समान पद-पाठ होगा। 'अन्यान्या' 'अन्या' शब्द
का आन्नेडित पद है। आन्नेडित का परला स्वरूप अनुदात्त^३ होता है।
'धापयेते' यह ✓ धेत्^४ पाने के णिजन्त का प्रथम-पुरुष के द्विवचन में
रूप है, एकारान्त द्विवचन होने से प्रगृह्यसंज्ञा की योग्यता के कारण
'इति' का सह-उच्चारण हो रहा है। 'भवति' क्रिया-पद सामान्यतया
सर्वानुदात्त होता, परन्तु यहां पर 'अयां' शब्द के योग में पहले तिङन्त
की निघात का निषेध होने^५ से धातु-स्वर से 'भ' उदात्त है।
दूसरा तिङन्त 'ददृशे' सर्वानुदात्त है। 'स्वधावाञ्छुको' शब्द में मतुप्
प्रत्यय है। अवग्रह-नियम से प्रकृति-प्रत्यय के मध्य में अवग्रह हो
रहा है। 'सुवर्चा' शब्द समस्त है, अतः दो समस्त पदों के मध्य में
अवग्रह है। इसकी प्रगृह्य-संज्ञा नहीं है, अतः 'इति' का योग नहीं है।

४. पदपाठ-शैली का तुलनात्मक अध्ययन

१. अथर्व-वेद के पद-पाठ में ऋग्वेद के पद-पाठ से विशेष
अन्तर नहीं है। स्यरित-चिह्न के निर्देश में अन्तर है, जिमका विस्तारण
स्यरित-प्रकरण में करेंगे।

१ ईदरेरशिवनं प्रगृह्य (पा. १, १, ११)। २ तिङ्दित्त (पा. ८, १,
२८)। ३ अनुदात्त व (पा. ८, १, १)। ४ एकवाग्यां मतर्ध्याम् (पा.
८, १, २५)।

२. शुक्ल-यजुर्वेद (माध्यन्दिन-संहिता) के पद-पाठ में शाकल्य के पद-पाठ की छाप होते हुए भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। जैसे—

(क) शाकल्य के पद-पाठ में 'इति' के साथ अवग्रह-चिह्न नहीं लगता। इस पद-पाठ में प्रगृह्य-संज्ञा की योग्यता में 'इति' के पूर्व (S) यह चिह्न लगता है।

(ख) शाकल्य के पद-पाठ में समस्त पद के मध्य में विच्छेदक (अवग्रह) चिह्न लगता है, परन्तु इस पद-पाठ में दोनों समास-घटक पदों का पृथक्-पृथक् कुछ अन्तर देकर सह-निर्देश ही विच्छेदक (अवग्रह) चिह्न है। जैसे—समीचीऽइतिसम इंची (मा. १२,०)। इसके विपरीत शाकल्य-पदपाठ में इस शब्द का निर्देश समीची इति सु१५इंची (म. १,१६,५) है।

(ग) 'इति' से पूर्व जो पद-पाठ निर्दिष्ट होगा। उसमें संहिता-पाठ के लोप, आगम, घर्ण-विकार की श्रुति नहीं होती। इति-नरण ('इति' के योग) के साथ पद-पाठ का अवग्रह (सन्धि) अवश्य होगा। जैसे—दुदमः। दुदमऽइति दुदमः (मा. ३,३६) यहाँ संहिता-पाठ में 'दु' को 'डु' विकार होने से 'दुदमः' में मध्यवर्ती 'र' को उत्त्व होकर 'डु' ऐसा दीर्घ हो गया है, परन्तु पद-पाठ में 'इति' से पूर्व लोप तथा विकार से सर्वथा निर्मुक्त 'दुदमः' अवग्रह (सन्धि) के साथ निर्दिष्ट है। वनस्पदः। वनस्पदऽइति वनस्पदः (मा. ३,३३,१)। संहिता-पाठ में 'र' का आगम और पत्यापत्ति हो रही है। किन्तु 'इति' से पूर्व पद-पाठ में आगम और पत्य दोनों का निर्देश नहीं। दुदुषन्। दुदुषन्तिदुदुषन् (मा. ३,३,२०), घृशांती। घृः सुशाविनिधुः सौ (मा. ४,३३)। संहिता-पाठ में 'घृशांती' का 'र' और पत्यापत्ति 'घृः सुशौ' पद-पाठ में नहीं है। सर्वत्र 'इति' से पूर्व पद-पाठ में संहिता-पाठ के कार्य का अभाव है।

(घ) प्रगृह्यसंज्ञक पद की चर्चा (पुनरुक्ति) होती है, मध्य में 'इति' से व्यवधान होता है। जैसे—द्रेऽइति द्रे (मा. १७,६१) अग्नेऽहपुस्मे (मा. ४,२२) आदि।

१. इतिवर्षणाम् (शुन. ३,३०) उपरत-भरवम्—इति-वर्षणाम् पुरतो धर पुनः पररवन् तर वर्षणाम्देतोवने। यथा इति-वर्षणो पराऽइतिवो ऋगम-विद्यता न भवति, एवमिहादि न भवति।... 'लोपगमविद्यताम मेदेतिवरो ह्युताः। इतिवर्षणाम् वर्षणामिति चोपदिश्यते'। २. दुदुषन्तरदम-व्येदुषन्तरदरेः दुदुषन् च (पश्चा ६,३,१०६)। ३. प्रगृह्य वर्षणामिति

(ड) रिफित-युक्त शब्दों में भी उक्त न्याय चरितार्थ होता है^१। जैसे—पुनरिति पुनः (मा. ४, १५), स्वरितिस्वः (मा. ३, ३७)। रिफित से तात्पर्य उस विसर्ग से है, जिसकी संहिता में रेफ की श्रुति विद्यमान रहती है, 'भोभगो' (पा. ८, ३, १७) इत्यादि सूत्र के नियम से जिसको यकार नहीं होता^२, क्योंकि अरिफित विसर्जनीय ('स्' को 'रु' हुए 'र्' को न कि स्वाभाविक 'र्') को ही यकारादेश^३ होकर लोप होने का विधान है।

(च) दो पदों की आवृत्ति (चर्चा) के मध्य में 'इति' शब्द का योग होता है^४। उदाहरण पिछले नियम में देखें।

(छ) लोप, आगम, विकार-रहित पद की आवृत्ति से पूर्व लोप आगम विकार-युक्त संहिता-पाठ को पढ़ते हैं^५। उसके साथ 'इति' का योग नहीं होता जैसे— श्रेयस्कर। श्रेयःकुरेति श्रेयः कर (मा. १०, २८) इत्यादि। यहाँ पद-पाठ में विसर्ग-श्रुति है। परन्तु संहिता-पाठ में विकार 'स्' हुआ है। संहिता पाठ का पूर्व-निर्देश है।

(ज) जैसी पदावृत्ति क्रम-पाठ में होती है, वैसी पद-पाठ में भी होती है^६। उसका निर्देश क्रमशः निम्न है—

१. उत्तरवर्ती के साथ संबद्ध पूर्वपद का पद-पाठ में अवग्रह दिखा कर स्थितोपस्थित होता है^७। यथा—श्रेष्ठतमायेतिश्रेष्ठं तमाय (मा. १, १) उत्तरवर्ती तमप्-प्रत्यय के साथ पूर्ववर्ती 'श्रेष्ठ' पद को पद-पाठ में अवग्रह दिखाया गया है। और मध्यवर्ती 'इति' से दोनों का वेष्टन (स्थितोपस्थित) हुआ है।

परेपु (शुभा. ४, १८)। उच्चर-भाष्यम्—प्रगृह्यसंज्ञकं यन् पदं तत् चर्चायां परभूतायाम् इतिना आगामिनेन षडधीदते। चर्चाशब्देन इति-कारणात् परतो वा तस्यैव पदस्य द्विदक्षः सोऽपने। १. रिफितं च संहितायामनिर्यत्तम् (शुभा. ४, १३)। २. 'विसर्जनीयो रिफितः' (शुभा. १, १६०)। अकारोपथ आकारोपथो वा विसर्जनीयः रिफितमंजो भवति, इति उच्यते। ३. 'कण्ठपूर्वो यकारमरिफितः' (शुभा. ४, ३०)। अर्थः कण्ठः। अर्थपूर्वो विसर्जनीयो अरिफितो यकारमापद्यते इति उच्यते। ४. 'पदावृत्तौ चान्तरेण' (शुभा. ४, २०)। ५. अनिनायत्तविकारगर्भं प्रागुर्या (शुभा. ४, २३)। ६. प्रमोक्तश्रुतिः ५प्रेपु (शुभा. ४, २१)। ७. पूर्वम्योत्तरसंहिनस्य स्थितोपस्थिताम् अगृह्यम् (शुभा. ४, १८८)। स्थितोपस्थितशब्देन वेष्टकोऽभिधीयते, इत्युच्यते।

२. संहिता-पाठ में जहां किसी पद में दीर्घ हुआ है उसको भी पद-पाठ में मध्यवर्ती 'इति' के साथ वेष्टित करके पढ़ेंगे^१।

जैसे—समहन्तम् । समहन्तामिभिर्महन्तान् (मा. ३३, ४२)।

३. संहिता-पाठ में जहां पत्व की श्रुति है, वहां संहिता-पाठ दिखाकर पश्चात् पद-पाठ में 'इति' से वेष्टित पाठ पढ़ेंगे^२।

जैसे—सिपांसन्तः । सिपांसन्तुइतिसिपांसन्तः (मा. २६, १८)।

४. प्रगृह्य-संज्ञा की योग्यता वाले शब्दों में पूर्ववत् संहिता-पाठ दिखाकर पद-पाठ को 'इति' से वेष्टित करते हैं^३। जैसे—इन्द्राग्नी । इन्द्राग्नीइतीन्द्राग्नी (मा. ३३, ६३)। ४, ऊँइत्यँ (मा. १, २८) अमो । अमोइत्यमो (मा. १३, ८) इत्यादि।

५. जिस रिफित (विसर्ग) की संहिता-पाठ में स्पष्ट प्रतीति हो रही हो उसको भी पद-पाठ में 'इति' से वेष्टित करते हैं^४। जैसे—नेष्टः विर्यं । नेष्टरितिनेष्टः (मा. २६, २१)।

३. काण्व-संहिता का अपना स्वतन्त्र पद-पाठ उपलब्ध नहीं है।

४. छप्पण-यजुर्वेद (तैत्तिरीय-संहिता) के पद-पाठ में भी शाकल्य-शैली से कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। यथा—

(क) ऋग्वेद, शुक्ल-यजुर्वेद और अथर्व-वेद के पद-पाठों में सर्वत्र पूर्ववर्ती विभक्त्यन्त शब्द के साथ 'इव' का समास^५, और मध्य में समास-प्रदर्शक अवग्रह-चिह्न लगता है। जैसे—धुरिइव (ऋ. ७, २४, ५) इत्यादि। तैत्तिरीय-संहिता के पद-पाठ में 'धुरि इव' इस प्रकार पृथक् दिखाया जाता है।

(ख) अन्यत्र किसी पद-पाठ में उपसर्गों के साथ 'इति' नहीं जोड़ा जाता, इस पद-पाठ में 'इति' लगता है। जैसे—समितिं (तै. ४, ७, १३, ५) इत्यादि।

(ग) जहां दो उपसर्ग डकटे आ जाएँ, वहां पहले उपसर्ग के साथ 'इति' का योग नहीं होता, जैसे—श्रुमि । नीति (तै. १, ७, ६, ७)। अजु । समितिं (तै. २, १, ५, ६)। सम । प्रेतिं (तै. ४, ७, १३, ४)। उप । प्रेतिं (तै. ४, ७, ११, ४) इत्यादि।

१. अन्त.पददोषोभाये (शुभा. ४, १६०)। २. विनासे (शुभा. ४, १६१)।

३. प्रगृहे (शुभा. ४, १६२)। ४. रिफिते निरुक्ते (शुभा. ४, १६३)। ५. इवेन विभक्त्यन्तः पूर्ववत्श्रुतिम्यत्वं च (पाठा. २, १, ४)।

यदि तीन उपसर्ग हों तो प्रथम के साथ भी 'इति' लगेगा, शेष दो में दूसरे के साथ लगेगा, पहले के साथ नहीं। जैसे—अनुसंभ्रयात् (तै. ५, ७, ७, २) का पद-पाठ अन्विति । सम् । प्रोति । धातु । होगा ।

(घ) तैत्तिरीय-संहिता के पद-पाठ में अवग्रह का चिह्न (-) ऐसी छोटी पड़ी रेखा है ।

(ङ) शाकल्य-शैली में देवता-इन्द्र में अवग्रह नहीं लगता । जैसे—इन्द्राग्नी (ऋ. ७, १४, ८) । परन्तु तैत्तिरीय पद-पाठ में विलक्षणता है । जैसे—इन्द्राग्नी इतीन्द्र-अग्नी (तै. १, १, १४, १) ।

५. सामवेद (कौथुम-संहिता) के पद-पाठ में ऋग्वेद के पद-पाठ से अनेक विभिन्नताएँ हैं ।

(क) किसी भी पद-पाठ में नञ्-समास का परिचायक अवग्रह चिह्न नहीं लगता । सामवेदीय पद-पाठ में लगता है । जैसे—अप्रतिष्कृत (कौ. १, १७९) का पद-पाठ अप्रतिष्कृत है । जब कि इस शब्द का शाकल्य-पदपाठ (ऋ. १, ७, ६) 'अप्रतिष्कृत' होगा । ऋग्वेद के पद-पाठ में 'अ' (नञ्) को पृथक् बतलाने के लिए (ऽ) यह अवग्रह चिह्न नहीं लगता । प्रत्युत 'प्रतिष्कृत' शब्द में समास बतलाने के लिए मध्य में अवग्रह चिह्न लगता है ।

साम-वेद के पद-पाठ में 'अमर्त्यम्' (कौ. १, १२) शब्द को अमर्त्यम् लिखेंगे । इसके विपरीत शाकल्य-पदपाठ में 'अमर्त्यम्' (ऋ. १, ४४, ११) शब्द में 'अ' (नञ्) को पृथक् बतलाने के लिए कोई चिह्न नहीं लगता ।

(ग) शाकल्य-पदपाठ में अन्यम्, अन्यत्, अहनी आदि शब्दों को एक मान कर मध्य में अवग्रह-चिह्न नहीं लगता । साम-वेद के पद-पाठ में अहं यम् (कौ. २, १३८) अहं यत् (कौ. १, ७४) अहंही अं हेनी इति (कौ. १, ७५) ऐसा निर्देश होगा ।

(घ) सामवेदीय पद-पाठ में भी अवग्रह चिह्न नहीं है । शुक्ल-यजुर्वेद के पद-पाठ के सदृश समास-घटक दो पदों का पृथक्-पृथक् सह-निर्देश ही अवग्रह का चिह्न है । जैसे उपर उदाहरण से स्पष्ट है ।

(ङ) शाकल्य-पदपाठ में प्रगृह्य-संज्ञा की योग्यता में शब्दों के साथ 'इति' का संबन्ध होता है । अग्ने इति (ऋ. १, १४, ४) ते इति (ऋ. १, २९, ९) इत्यादि । सामवेदीय पद-पाठ में भी अग्ने इति

(कौ. १,७६) स्वे' इति' (कौ. १,३८) नै हैनी इति' (कौ. १,७५) ऐसा 'इति' का सम्वन्ध उपलब्ध होता है। अन्तर केवल यह है कि शाकल्य-शैली में संबुद्धि के साथ भी 'इति' का योग अभीष्ट है, गार्ग्य-शैली में नहीं। जैसे—विष्णो (कौ. २,९७५) वायो (कौ. २,९७६) वायो'र (कौ. २,९७८) शतक्रतो शत क्रनो (कौ. १, ११६) इसके विपरीत शाकल्य-पदपाठ शतक्रतो इति' शतक्रनो (ऋ. १,४,८) है।

(ङ) सामवेदीय पद-पाठ में प्रगृह्यसंज्ञक समस्त पद के 'इति' के साथ निर्देश में ^{१ २२} इन्द्राग्नी ^{१ २२ ३} इन्द्र अग्नीइति (कौ. २,००३) ऐसे अवग्रह-युक्त निर्देश की परम्परा है। तैत्तिरीय पद-पाठ में भी इन्द्राग्नी इन्द्राग्नी-अग्नी (तै. १,१,१३,१) इन्द्राग्नी इन्द्राग्नी-अग्नी (तै. १,१,१४,१) ऐसी अवग्रह-निर्देश की परम्परा है, परन्तु अन्यत्र पद-पाठों में इन्द्राग्नी इति' (ऋ. १, २१,३; शौ. १,३५,४), इन्द्राग्नीऽइतीन्द्राग्नी (मा. २, १०) ऐसा अनयगृहीत संकेत मिलता है।

(च) शाकल्य-शैली में स्य' (ऋ. १,५,६), मित्राय' (ऋ. १,१२९,३) पुत्रेभ्यः (ऋ. १,१६१,१०), विप्रः (ऋ. १,१४९), ऋभवः (ऋ. १,२०,४), चन्द्रमसः (ऋ. १,८४,१५) इत्यादि अनेक शब्दों में अवग्रह नहीं है। परन्तु गार्ग्य-शैली में स्यः ^{३२} म ^३ घः (कौ. २,८३३) मित्राय मि ^{३ १ २ ३} त्राय (कौ. १,२५५) पुत्रेभ्यः ^{३ १ २} पु ^{३ १ २} त्रेभ्यः (कौ. १,२५६) विप्रः ^{१ २ २} वि ^३ प्रः (कौ. १, १४३; २,८०८) ऋभवः ^{३ १ २} ऋ ^{३ १ २} भवः (कौ. १,२०६) चन्द्रमसः ^{३ १ २} चन्द्र ^{३ २ ३} मसः (कौ. १,१४७) इन शब्दों में अवग्रह है।

हम समझते हैं कि गार्ग्य-शैली एक संमिश्रित शैली है। कितने ही अंशों में विशेषतः अवग्रह-चिह्न के सम्वन्ध में गार्ग्य-शैली का माध्यन्दिन-पद-पाठ से सामञ्जस्य है। समस्त संहिता-पाठ को दिसा कर पद-पाठ दिसाना भी दोनों में तुल्य है। अन्तर 'इति' के योग का है। मा. पद-पाठ में 'इति' का योग होता है, सामवेद-पद-पाठ में नहीं। और कितने ही अंशों में गार्ग्य-शैली का तैत्तिरीय-पद-पाठ के साथ सामञ्जस्य है। जैसे—'स्वधा' शब्द को ले लें, सामवेद-पद-पाठ में स्वधाभिः स्व धाभिः (कौ. १,५३०) ऐसा अवग्रह मिलता है। तैत्तिरीय-पद-पाठ में भी स्वधेति' स्व-धा (तै. १,३,५,०) ऐसा अवग्रह है। इसके विपरीत ऋग्वेद (१,१६५,६) तथा माध्यन्दिनी (२,७) के पद-पाठ में 'स्वधा' ऐसा अनयगृहीत है। ऋ. (१,६९,१) मा. (४,१५) के पद-पाठों

में 'प्राण्यः' शब्द अनपगृहीत है। तै. (१,३,१०,१) के पद-पाठ में प्राण होते प्र-अनः ऐसा अवग्रह है। ऋ. (१०,१८६,२) मा. (३,७) में 'प्राणात्' में अवग्रह नहीं, परन्तु सामवेद (३,२,५) के पद-पाठ में प्राणात् प्रै अनात् यह अवग्रह है। तैत्तिरीय-संहिता (१,५,३,१) के पद-पाठ में इससे भी विलक्षण अवग्रह है—'प्राणात् इति' प्र-अनात्। 'इन्द्राग्नी' का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है। जिसमें अवग्रह-पक्ष में सामवेदीय और तैत्तिरीय पद-पाठ तुल्य हैं।

६. कृष्ण-यजुर्वेद की मैत्रायणी-संहिता का पद-पाठ स्वतन्त्र उपलब्ध नहीं है। श्योडार महोदय ने अपने सम्पादित मैत्रायणी-संहिता के संस्करण में नीचे टिप्पणों में पद-पाठ की कुछ भूलक दी है। यह पद-पाठ भी अन्य संहिताओं के पद-पाठों से अपना विलक्षण स्थान रखते हैं। उदाहरण के लिए √पुष् 'अभिपवे' धातु की क्रिया सुषुमा (ऋ. ८,१७,१) का पद-पाठ 'सुषुम' है। इसके विपरीत मैत्रायणी (२,१३,९) के पद-पाठ में सुसुमा सुसुमेति सु-सुमा ऐसा अवग्रहीत पाठ है।

मैत्रायणी पद-पाठ में अवग्रह का चिह्न (-) विन्दु है। कई अंशों में मा. और तै. के पद-पाठों के तुल्य है। जैसे—मै. (१,२,६) पद-पाठ अघयं इत्यघ-यवः। मा. (४,३४) पद-पाठ अघपवः इत्यघ-यवः। तै. (१,२,६,१) पद-पाठ अघपव इत्यघ-यवः है। मा. का 'मामहन्ताम्' का पद-पाठ पीछे दिखा आये हैं। मै. (२,१०,५) में मामहानः। ममहान इति मम-हानः उससे भी विलक्षण है, जो कि मध्य में अवग्रह से स्पष्ट प्रतीत होता है।

मै. पद-पाठ में भी प्रगृह्यसंज्ञक के साथ 'इति' का योग मिलता है। जैसे—इयो इत्ययो (मै. २,७,१२)।

७. तैत्तिरीय-पद-पाठ (तै. १,१,१४,२) और सामवेदीय-पद-पाठ में 'ठ' इस निपात के साथ 'इति' का योग नहीं होता, परन्तु शेष सभी उपलब्ध पद-पाठों में शाकल्य-शैली के अनुसार 'इति' के साथ दीर्घ अनुनासिक 'ऊँ' का पाठ है। जैसे—ऊँ इति (ऋ. १,२४,८), ऊँ इत्युँ (मा. १,२८)। यही शाकल्य की शैली वर्तमान सब पद-पाठों में प्राण है। किन्तु महर्षि पत्रजलि ने 'उग ऊँ' (पा. १,१,१०) सूत्र के महाभाष्य में 'ऊँ वा शाकल्यन्व' इग यान्तिक के शार्षप का पिरलेपण

१. 'उगार्षपेतेऽरगेन युक्तो रगोऽग्नौ प्रापिनः शाकल्येन' (शामा. १,३५)।

१नः = अनुनासिकः। प्रापिनः = इमात्रमादादिनः।

करते हुए 'उज इति योगविभाग.' इस वार्तिक के आधार पर असंदिग्ध रूप में शाकल्य के मत में 'ऊँ इति', उ इति' यह दो प्रकार के पद-पाठ माने हैं^१। किन्तु शाकल्य के पद-पाठ में कहीं भी 'उ इति' ऐसा पद पाठ नहीं मिलता, सर्वत्र 'ऊँ इति' ऐसा ही पद पाठ मिलता है। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में भी विकल्प का कोई संकेत नहीं मिलता। केवल मैत्रायणी-पद-पाठ में 'उ इत्यु' (मै. १,३,३५) ऐसा संकेत है। परन्तु यह पद-पाठ शाकल्य का है या शाकल्यानुसारी है यह संदिग्ध है।

यथार्थ में महर्षि पाणिनि को शाकल्य के मत में 'ऊँ इति' यही पद-पाठ अभिप्रेत है। इसी लिए उन्होंने 'उज ऊँ' (पा. १,१,१७) यही सूत्र बनाया। यदि पाणिनि को भी शाकल्य के मत में विकल्प अभिप्रेत होता तो 'उज ऊँ वा' यह सूत्र भी वे बना सकते थे। जैसे— 'मय उजो षो वा' (पा. ८,३,३३) सूत्र में उचित समझ कर उन्होंने 'वा' का निर्देश किया है। अष्टाध्यायी-पाठ के संस्करणों में 'उज' (पा. १,१,१७), 'ऊँ' (पा. १,१,१८) ऐसा दो सूत्रों में विभाग महाभाष्य के अनुसार है।

५. पद-पाठ की तीन अवस्थाएँ

१. पद-पाठ की स्थित, उपस्थित, स्थितोपस्थित यह तीन अवस्थाएँ हैं।

(क) केवल सुप्रन्त या तिङन्त, समस्त या असमस्त पद को स्थित कहते हैं^२। जैसे—अग्निम्। इँळे। पुर अँहंतम् (ऋ. १,१,१) इत्यादि।

(ख) 'इति' से संयुक्त पद को उपस्थित कहते हैं^३। जैसे—दूरी इति (ऋ. १,२०,२) वायो इति (ऋ. १,२३,१) स्वे इति (ऋ. १,५६,१) आदि प्रगृह्य-संज्ञक शब्द इसी श्रेणी में आ जाते हैं।

(ग) प्रगृह्य-संज्ञक समस्त पदों को पद-पाठ में स्थितोपस्थित कहा जाता है। यहाँ मध्यवर्ती 'इति' शब्द से पूर्ववर्ती संहिता-पाठ और

१. " 'उज.' इति योगविभाग' कर्तव्यः। उजः। उजः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भवति। उ इति। चिति। तत्र 'ऊँ'। 'उज ऊँ' इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यसंज्ञकः। ऊँ इति।"

२. केवल तु पदं स्थितम् (ऋषा. १०,१३)। पदं यज्ञं केवलम् इति सा स्थितिः (ऋषा. ११,२८)। ३. उपस्थितं सेनैरूपम् (ऋषा. १०,१२)। यदेतिङ्शान्तम् उपस्थितं तदा (ऋषा. ११,२८)।

उत्तरवर्ती पद-पाठ दोनों का सह-निर्देश होता है^१। और उत्तरवर्ती पद-पाठ के मध्य में अवग्रह (ऽ) का चिह्न लगता है^२ (देखें पृ. ३४ में सातवां टिप्पण)। जैसे—विभाषसो इति^१ विभाषसो (ऋ. १, ४४, १०)। शुभ्र इति शुभ्रम् (ऋ. १, ४६, १३) इत्यादि।

ऋग्वेद तथा अथर्व-वेद में प्रायः प्रगृह्य-संज्ञक समस्त पदों की स्थितोपस्थित की परिभाषा में गणना होगी। परन्तु यजुर्वेद के पद-पाठ में प्रगृह्य-संज्ञक समस्त या असमस्त सभी स्थितोपस्थित की परिभाषा में आ जाते हैं। जैसे—ऋग्वेद के पद-पाठ में 'विभाषसो इति विभाषसो तो स्थितोपस्थित कहा जायगा, किन्तु अमी इति (ऋ. १, २४, ६) वायो इत' (ऋ. १, २३, १) इत्यादि असमस्त प्रगृह्य-संज्ञक नहीं, इन्हें उपस्थित ही कहेंगे। किन्तु शुक्ल-यजुर्वेद के पद-पाठ में समीची इतिसम् ईची (मा. १२, २) यह समस्त प्रगृह्य भी तथा अमी इत्यमी (मा. ६, ४०) वायो इति वायो (मा. २७, ३०) यह असमस्त प्रगृह्य भी स्थितोपस्थित कहलाएंगे। पद-पाठों का विवेचन निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायगा, उदाहरण के लिए हम अप्रतिरथ सूक्त का अर्धर्च प्रस्तुत करते हैं। यह अर्धर्च सब वेदों में एक सा है। अथर्व-वेद में थोड़ा पाठ-भेद है—

अभिर्वीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमतिष्ठ गोवित् ।

(ऋ. १०, १०३, ५; मा. १७, ३७; तै. ४, ६, ४, २; कौ. २, १२०३)।

अभिर्वीरो अभिसत्वा सहोजिजैत्रमिन्द्र रथमतिष्ठ गोविदम् ।

(शौ. १६, ११, ५)

[ऋ. पपा. अभिर्वीरः । अभिसत्वा । सहोजाः । जैत्रम् । इन्द्र । रथम् । या । तिष्ठ । गोवित् ।

मा. पपा. अभिर्वीर इत्यभिर्वीरं । अभिसत्वेत्यभि सत्वा । सहोजा इति सहोजाः । जैत्रम् । इन्द्र । रथम् । या । तिष्ठ । गोविदिति गोवित् ।

शौ. पपा. अभिर्वीर इत्यभिर्वीर । अभिसत्वेत्यभि-सत्वा । सहोजा इति

१. तत्र स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते (ऋषा. १०, १४)।
 अथो विपर्ययस्य समस्य आह ते यदा स्थितोपस्थितमाचारान्युत (ऋषा. ११, ३०)।
 संहितं स्थितोपस्थितम् (शुभा. १, १४७)। २. समासोस्तु पुनर्वचन द्वयैत्
 (= ध्रुवगृहीपात्) (ऋषा. १०, १६)। पुनर्वचनस्तत्र 'समासमिदमेत्
 (ऋषा. २१, ३१)।

सहः-जाः । जैत्रम् । इन्द्र । रथम् । पति । तिष्ठ । गोविदिति गो-वित् ।

कौ. पपा. अभि^३वीरः^१ अभि^३वीरः^२ अभिसत्वा^१ अभि^३ सत्वा^३ सहोजाः^२ सहः^३ जाः^३

जैत्रम्^१ इन्द्र^३ रथम्^१ आ^३ तिष्ठ^३ गोवित्^३ गो^३ वित् ।

गौ. पपा. अभि^३वीरः । अभिसत्वा । सहः-जित् । जैत्रम् । इन्द्र । रथम् ।
आ । तिष्ठ । गोविदम् ।]

६. पद-पाठ में 'इति' का योग

वैदिक पद-पाठ में सर्वत्र समस्त अथवा अ-समस्त प्रगृह्य-संज्ञक पदों के साथ 'इति' का संबन्ध देखा जाता है। साम-वेद में संयुद्धि के साथ 'इति' का योग नहीं होता। तैत्तिरीय-संहिता में 'अ' 'अप' इत्यादि उपसर्गों के साथ भी इति-करण होता है। प्रातिशार्यों में विस्तार से इति-करण (इति के योग) पर प्रकाश डाला गया है। हम सारभूत पाणिनीय सूत्रों से कुछ नियमों का उल्लेख करते हैं।

१. द्विवचन में ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त प्रगृह्य-संज्ञक पदों के साथ पद-पाठ में इति-करण होता है^१। जैसे—द्वी इति (अ. १,२०,२), वृष्ट इति (अ. १,५१,११), आग्राते इति (अ. १,२५,९), रथे इति (अ. १,३४,८), ते इति (अ. १,६१,८), इन्द्रानां इति (अ. १,२१,१) इत्यादि।

२. 'भ्रम्' शब्द के प्रथमा बहुवचन में निष्पन्न 'भ्रमं' शब्द के साथ इति-करण होता है^२। जैसे—भ्रमी इति (अ. १,२४,९)।

३. पुष्पद् शब्द से परे विभक्ति को 'पुषो मुत्तुक्' (पा ७,१, ११) सूत्र से 'शे' आदेश होकर निष्पन्न 'पुष्मे', 'त्वे' आदि के योग में अथवा भ्रम् शब्द से निष्पन्न 'भ्रस्मे' के योग में इति-करण होता है^३। जैसे—पुष्मे इति (अ. ४,१०,८), त्वे इति (अ. १,२९,९), भ्रस्मे इति (अ. १,३४,४)।

४. ओकारान्त निपात के योग में इति-करण होता है^४। जैसे—उतो इति (अ. १,२३,१५), अथो इति (अ. १,२८,९), उपो इति (अ. १, ३६,९), मो इति (अ. १,३८,९) आदि। सर्वत्र 'उ' के साथ निपात-समाहार है।

१. ईदरेदिवचनं प्रगृह्य (पा. १,१,११) । २. अरथो मन् (पा. १, १,१२) । ३. शे (पा. १,१,१३) । ४. अये (पा. १,१,१५) ।

५. शाकल्य के मत में अनुनासिकित^१ 'ऊँ' के साथ इति-करण होता है। जैसे—ऊँ इति (ऋ. १,२४,८; २६,५; २७,४) आदि। माध्यन्दिन-पद-पाठ भी शाकल्य मत को मानता है। जैसे—ऊँ इत्युं (मा. १,२८)। कृष्ण-यजुर्वेद की मैत्रायणी-संहिता के पद-पाठ में अवश्य कुछ भेद है। वहाँ अनुनासिक 'ऊँ' नहीं मानते, परन्तु इति-करण वह भी स्वीकार करते हैं। जैसे—उ इत्युं (मै. १,३,३५)। ऊ इत्युं (मै. २,१३,१)।

६. सप्तम्यर्थवाचक ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों के साथ इति-करण होता है^२। जैसे—गौरी इति (ऋ. ६,१२,३), तनू इति (ऋ. १०, १८३,२)।

७. शाकल्य-शैली में सर्वत्र संबुद्धि-निमित्तक ओकार के साथ 'इति' का प्रयोग होता है^३। जैसे—वायो इति (ऋ. १,२३,१)। इन्दो इति (ऋ. १,४३,८)। चित्रभानो इति चित्रभानो (ऋ. १,२७,६) आदि।

८. पद-पाठ में सर्वत्र प्रातर्, सुनुतर्, पुनर् आदि रेफान्त अव्यय, कर् (L✓क) आदि रेफान्त क्रिया तथा सवितर्, पितर्, मातर आदि रेफान्त संबोधन के साथ इति-करण होता है। प्रतिशास्त्रों में ऐसे विसर्ग को रिफित कहा गया है, जहाँ पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार 'स्' को 'ह' हुए बिना रेफान्त की श्रुति होती है। यथा—पुनरिति (ऋ. १,२०,४;६) अन्तरिति (ऋ. १,६२,६) स्वरिति (ऋ. १,५२,१२) कुरिति कः (ऋ. १,६३,७) अकुरित्यकः (ऋ. १,३३, १५) सवितरिति (ऋ. १,३५,११) पितरिति (ऋ. ६,५१,५) नेष्टरिति (ऋ. १,१५,३)। दुहितरिति (ऋ. ६,६५,६)। कई धार 'दुहितः' के साथ (ऋ. १,३०,२२;४८,१) आदि में 'इति' का सम्बन्ध नहीं भी होता।

१. उजः (पा १,१,१७), ऊँ पा. १,१,१८)। २. ईदूती च सप्तम्यर्थे (पा. १,१,१६)। ३. संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनाप्ये (पा. १,१,१६)। 'अनाप्ये' से तात्पर्य यह है कि संबुद्धमन्त पदों को उच्चारण-स्पष्टता के लिये पदपाठकारों ने सुविधा के तौर पर 'इति' पद का स्वयं प्रयोग किया है। वेद के मन्त्र का भाग 'आप्ये' 'इति' शब्द यदि होगा, तो वहाँ यह नियम चरितार्थ नहीं होता। ४. 'करनुदात्तम्' (ऋ. १,८४; शु. १,१६१) अनुदात्त 'कर्' इति रिफित-संज्ञं भवति। रेफान्तमेव तिष्ठति न विक्रियत इति भावः। यद्यपि इसी प्रकरण में 'स्वर', 'पुनर्' आदि के भी रिफित-विधायक प्रातिश्लिक सूत्र हैं। किन्तु विस्तार के भय से संज्ञेत नहीं किया है।

७. पद-पाठ में अवग्रह-नियम

अवग्रह (विच्छेदक-चिह्न) पद-पाठ का विशेष अङ्ग है। (१) शाकल्य-पदपाठ में प्रत्येक समस्त-पद में अवान्तर दो पदों के पृथक्-करण के लिये, (२) उपसर्ग और क्रिया के संबन्ध को बतलाने या दो समस्त गतियों को समझाने के लिये तथा (३) प्रकृति-प्रत्यय का भेद बतलाने के लिये अवग्रह-चिह्न (ऽ) का उपयोग होता है। सामान्यतया इस चिह्न का व्यवहार ऋग्वेद और अथर्व-वेद के पद-पाठों में उपलब्ध होता है। शुक्ल-यजुर्वेद में 'इति' के साथ होता है। तैत्तिरीय-संहिता में अवग्रह का चिह्न (-) पड़ी रेखा है। मैत्रायणी-संहिता में अवग्रह-चिह्न (·) बिन्दु है। शुक्ल-यजुर्वेद तथा साम-वेद (कौथुम-संहिता) में अवग्रह का चिह्न पृथक्-पृथक् निर्देश है।

अवग्रह-चिह्न ही समास में पूर्व-पद से उत्तर-पद को पृथक् करता है इस लिए पूर्वपदत्व का बोधक होने के कारण प्रातिशाख्य-कारों ने अवग्रह का अर्थ 'पूर्व-पद' माना है।

प्रातिशाख्यों के आधार पर अवग्रह के कतिपय नियम अधोलिखित हैं—

१. दो पदों के समास में अवग्रह होता है^२। जैसे—
 क्विऽऽन्तुः (ऋ. १, १, ५), दोषाऽऽस्तः (ऋ. १, १, ७), पुऽऽस्तुतः (ऋ. १, ११, ४) अर्भितऽऽज्ञोजाः (ऋ. १, ११, ४), उपऽऽवृषः ऋ. १, १४, ६) आदि।

२. एक समस्त पद का जब किसी दूसरे पद के साथ समास हो, तो समस्त पद और आगन्तुक पद के मध्य में अवग्रह लगेगा^३। जैसे—
 स्वर्भूतिऽऽज्ञोजाः (ऋ. १, ५२, १२), अर्भितऽऽज्ञोजाः (ऋ. १, ५३, २), प्रजापतिऽऽगृहीतयेतिऽऽप्रजापति गृहीतया (मा. १३, ५८)।

३. 'इव' के साथ अवग्रह होता है^४। जैसे—
 द्विविऽऽइव (ऋ. १, २२, २०), चमसान्ऽऽइव (ऋ. १०, २५, ४) आदि।

१. अवग्रहः पदान्तरम् (शुभा. १, १३३)। अवग्रहः पूर्वपदं पदान्तसंबन्धीनि कार्याणि लभने वर्णविधौ, इत्युच्यते। अवग्रहपदेन सावग्रहस्य पदस्य पूर्वपदम् अभिधीयते (उपश्रुभाष्यम् शुभा. १, १४८)। २. समासेऽवग्रहो ह्रस्वममकालः (शुभा. ५, १)। समासे च (शौच. ४, ६)। ३. यदुपमृता-यागन्तुना पर्यया (शुभा. ५, ७)। उपजाते परेषु (शौच. ४, १०)। ४. इव-काराऽऽग्नेदिताऽऽग्नेषु च (शुभा. ५, १८)। इवे च (शौच. ४, ४१)।

४. आम्नेडित में सर्वत्र अवग्रह होता है^१। जैसे—घर्विऽघवि (ऋ. १,४,१;२१,१), दिवेऽदिवे (ऋ. १,१,३;७), मासिऽमासि (ऋ. १०, ५२,३), अभिऽअभि (ऋ. ६,११०,५) आदि।

५. यदि गति-समास में उदात्तस्वरविशिष्ट तिङन्त क्रिया के साथ पूर्व-पद में अनुदात्त उपसर्ग हो तो मध्य में अवग्रह होगा^२। जैसे—अतिऽमन्ये (ऋ. १,१३८,४), अभिऽगच्छति (ऋ. १०,१४६,५), अभिऽगुणति (ऋ. १,५४,७) अवऽवृत्तयन्ति (ऋ. ६,२४,७) आदि।

६. यदि अनुदात्त तिङन्त के साथ पूर्व में दो उपसर्ग हों, तो पहले उपसर्ग के बाद में अवग्रह लगेगा। जैसे—अतिऽआर्षाहि (ऋ. ३, ३५,४), अनुऽआलोभिरे (ऋ. १०,१३०,७) आदि।

७. उदात्तस्वर-युक्त तिङन्त के साथ भी दो उपसर्गों के समास में पहले उपसर्ग के बाद अवग्रह लगता है। जैसे—अभिऽप्रहन्ति (ऋ. ६,४६,१०)।

८. कृदन्त शब्द के साथ पूर्व में अव्यय या उपसर्ग हो तो मध्य में अवग्रह लगेगा। अव्यय—पुरऽहितम् (ऋ. १,१,१), अरम्ऽकृताः (ऋ. १,२,१) आदि। उपसर्ग—परिऽभूः (ऋ. १,१,४), सुऽउपायनः (ऋ. १,१,६) प्रऽपृच्छती (ऋ. १,२,३) आदि।

९. उपपद-समास के मध्य में भी अवग्रह होता है। जैसे—अहऽशिवेः (ऋ. १,२,२), चपणिऽधृतः (ऋ. १,३,७), गोऽडुहे (ऋ. १,४,१), गोऽदाः (ऋ. १,४,२), विपऽचितम् (ऋ. १,४,४), नुऽमार्दनम् (ऋ. १,४,७), सुतऽपान्ने (ऋ. १,५,५) आदि।

१०. नामधातु में क्यच् क्यङ् काम्यच् प्रत्यय से पूर्व अवग्रह होता है यदि स्वर पूर्व में है^३। जैसे—अघऽयति (ऋ. १,१३१,७ संपा. अघायति), अघऽयुः (ऋ. १,१४७,४ संपा. अघायुः), वृषऽयते (ऋ. १,५५,२ संपा. वृषायते), वृषऽयमाणः (ऋ. १,३२,३ संपा. वृषायमाणः), पुत्रऽकाम्या (शौ. ६,८१,३)।

११. दो उपसर्ग या दो शब्द तथा उपसर्ग के सद्भाव में

१. इवकाराऽऽन्वेदिताऽन्येषु च (शुभा. ५,१०)। २. अनुदात्तोपसर्गो चाप्याते (शुभा. ५,१६)। उपसर्गो अप्यातेनोदात्तेन समस्यते (शौच. ४,१)। ३. धात्वर्थे यकारे स्वरपूर्वे (शुभा. ५,१०), यादाविच्छायां स्वरात् (शौच. ४,२१)।

धात्ववयव से पूर्व अवग्रह होगा। जैसे—पुरुनिःऽतिथे (ऋ. १, १०, ५), सुनिःऽमजम् (ऋ. १, १०, ७) आदि।

१२. असर्वनामस्थान हलादि विभक्ति (भिस, भ्याम्, भ्यस्, सुप्) से पूर्व अवग्रह होता है। जैसे—अग्निऽभिः (ऋ. १, २६, १०), राजऽभिः (ऋ. १, २०, ५), भर्तॄन्ऽभिः (ऋ. १, २२, १३), धीतिऽभिः (ऋ. १, २२, १४) इन्दुऽभिः (ऋ. १, २३, १५), सुशक्तिऽभिः (ऋ. १, २०, ७), अर्हिरऽभिः (ऋ. १, ६२, ५), स्तोत्रऽभ्यः (ऋ. १, ३३, २), पथिऽभ्यः (ऋ. १०, १४, १५), मरुतऽभ्यः (ऋ. १, ६४, १), अश्विऽभ्याम् (ऋ. १, ४४, २), पत्सु (ऋ. ५, ५४, ११), मरुत्सु (ऋ. १, १४२, ६)।

१३. तद्धित के तरप्, तमप्, त्व, मतुप्, वति, प्रा, चातिल्, शस्, दानीम्, था, याल्, धा, मात्रच्, मयट्, क, कृत्वसुच्, घेय प्रत्ययों के पूर्व अवग्रह लगता है। जैसे—तरप्—शूरऽतरः (ऋ. ६, ६६, १०), रुथिऽतरः (ऋ. १, ८४, ६ संपा. रुथीतरः), पूर्णंरुम्ऽइतिपूर्णं वाम (मा. १८, १०)। तमप्—रुथिऽतमम् (ऋ. १, ११, १ संपा. रुथीतमम्), पितृऽतमः (ऋ. ४, ४७, १७), वद्धितममितिर्वद्धिं तमम् (मा. १, ८) त्व—देवऽत्वम् (ऋ. १, ६८, २), महिऽत्वम् (ऋ. १, ८, ५), अमुरऽत्वम् (ऋ. ३, ५५, १)। मतुप्—वाजऽवन्तम् (ऋ. ३, ५२, ९), हरिऽवः (ऋ. १, ३३, ५), पुनुऽमान् (ऋ. ३, ५४, १८), प्रजाऽवता (ऋ. १, ७६, ४)। वति—मनुऽवत् (ऋ. २, १०, ६), ऋथिऽवत् (ऋ. १०, ६६, १४)। प्रा—देवऽप्रा (ऋ. १, ५०, १०), बहुऽप्रा (ऋ. १०, १६४, २)। चातिल्—शन्ताति इति शम्ऽजाति (ऋ. १, ११२, २०), देवऽजातिम् (ऋ. १, १४१, १०) सर्वऽजातये (ऋ. १, १०६, २)। शस्—ऋतुऽशः (ऋ. १, १६२, ४), देवऽशः (ऋ. ३, २१, ५), सहस्रऽशः (ऋ. ८, ३४, १५)। दानीम्—विदुऽदानीम् (ऋ. १, १६४, ४०)। था—ऋतुऽथा (ऋ. १, १६२, १६)। याल्—

१. ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ विभक्तिप्रत्यये (शुभा. ५, १३), भिर्ग्यांश्च सु (शौच. ४, ३१) सौ च (शौच. ४, ३२)। २. ततमयोऽतिशयोऽद्विष्यन्त्यासङ्गे (शुभा. ५, २)। तद्धिते तद्धिते म्यापसंहितं चेत् (शुभा. ५, ८)। रासर्वं प्रातातिपु च (शुभा. ५, १)। तद्धिते धा (शौच. ४, १३)। प्राकारान्ते (शौच. ४, १४)। पाऽनेकाक्षरेण (शौच. ४, १५)। ततमयोः (शौच. ४, १६)। मती (शौच. ४, १७)। वकारादौ च (शौच. ४, १८)। शति वंत्सापाम् (शौच. ४, १९)। तातिञि (शौच. ४, २०)। स्वे चान्ते (शौच. ४, २१)।

पूर्वस्था (ऋ १,८०,१६), हुमस्था (ऋ. ५,४४,११)। धा—चतुर्स्था (ऋ. ४, ३५,२), अष्टस्था (शौ. १३,३,१६), ननुस्था (शौ. १३,४,१०)।

शुक्ल-यजुर्वेद में यह अवग्रह नहीं होता—पञ्चधा (मा ३४,११), सप्तधा (मा. १७,७६)।

मात्रच्^१—अतिमात्रम् (शौ. ५,१६,१)। मयट्^२—अश्मन्स्मयीनाम् (ऋ ४,३०,२०)। क^३—एजत्स्का (शौ. ५,२३,७), मन्स्कम् (शौ. ६,१८, ३)। व्यञ्जन वर्ण से परे ही क प्रत्यय हों तो अवग्रह होता है। अन्यथा नहीं। जैसे पत्त्रिष्णुक्म् (शौ. ६,१८,३) में अवग्रह नहीं है, कृत्वस्^४—अष्टस्त्वं (शौ. ११,२,६), घेय—रूपस्थेयानि (शौ. २,२६,१), भागस्थेयम् (ऋ ३,२८,४), नामस्थेयम् (शौ. ७,१०६,६)।

१४ वीर्यम्, हृतम्, सूतम्, गोपातम्, धातम् इत्यादि पदों में तमप् प्रत्यय से पूर्व अवग्रह नहीं लगता, किन्तु दो पदों के समास के मध्य में लगता है^५। जैसे—देववीर्यम् (ऋ. १,३६,६), देवहृतम् (ऋ ३,१३,६), सुसूतमिति सुसूतम् (मा. ६,२८), सुगोपातम् (ऋ १, ८६,१) रुन्धातम् (ऋ १,१,१), वसुधातमश्तिवसु धातम् (मा. २७,१४)।

१५ कृदन्त शब्दों में धातु और प्रत्यय के मध्य में प्रायः अवग्रह नहीं होता। किन्तु क्स्व-प्रत्ययान्त शब्दों में ह्रस्व से परे अवग्रह मिलता है^६। जैसे—पुष्टिश्वासं (ऋ १,४८,६), सप्तुश्वास (ऋ ८,१,१५), पुष्टिश्वात् (ऋ. १,६,१७) आदि। अन्यत्र भी अवग्रह होता है।

१६ आदि-वृद्धि वाले समस्त तद्धितान्त प्रत्ययों के मध्य में दो पद दिखाने के लिये अवग्रह लगता है। जैसे—गार्हपत्येन (ऋ. १,१५, १२), पौष्टिकस्यस्य (ऋ ५,३३,८), आग्निश्वेतिम् (ऋ. ५,३४,६), भारत-ज्वात् (ऋ. ६ ५१,१२) आश्वमेधस्य (ऋ. ८,६८,१५)।

आग्नीधात् (ऋ २,३६,४) में अवग्रह नहीं होता।

८. अवग्रह के अपवाद

१. दीर्घ या एकार से परे अथवा किसी प्रकार के विकार होने

१. सत्यापूर्वघ घा (शुभा. ५,२०)। २. मात्रे च (शौच ४,२२)।
३. मयेऽस्कारात् (शौच. ४,२४)। ४. के व्यञ्जनात् (शौच ४,२५)। ५. कृत्वे समासो या नानापददर्शनात् (शौच ४,२७)। ६. वीर्यम्-हृतम् सूतम् गोपातम्-रत्नपातम्-वसुधातमा पूर्वेण (शुभा ५,३)। ७. वांसी च भूतकाले स्वरेण ह्रस्वादानुपि (शुभा. ५,११)। ८. वसी ह्रस्वात् (शौच. ४,३५)।

पर विभक्ति से पूर्व अवग्रह नहीं होता^१ । जैसे—अक्षीभ्याम् (ऋ. १०, १६३, १) श्रोत्रयोमिः (ऋ. ३, ५, ८), देवेभिः (ऋ. १, १, ५), शमीभिः (ऋ. १, २०, २), विप्रैभिः (ऋ. १, २०, १), पूर्वैभिः (ऋ. १, १, २), घृग्नेभिः (ऋ. १, ६१, २), देवेभ्यः (ऋ. १, १३, ११), अस्मभ्यम् (ऋ. १, ७, ६) आदि ।

२. नञ् (अ) के साथ समास में अवग्रह नहीं होता^२ । जैसे—अनन्तः (ऋ. १, ११३, ३), अनपत्यानि (ऋ. ३, ५४, १८), अग्रतम् (ऋ. १, १०१, २), अमन्यमानान् (ऋ. १, ३३, ६), अनवधा (ऋ. १, ७३, ३), अनाविद्धया (ऋ. ६, ७५, १) आदि ।

नञ् के साथ आगन्तुक समस्त-पद में, आगन्तुक समस्त दो पदों में अवग्रह होगा । जैसे—अपरिजहृताः (ऋ. १, १००, १३) ।

३. मतुप्, वति, विनि, मयट् प्रत्ययों के परे रहते तकारान्त सकारान्त शब्दों के मध्य में अवग्रह नहीं होता^३ । जैसे—गृह्णाम् (ऋ. १, १६४, ४६), मूर्खत्वात् (ऋ. १, २०, ५), मूर्खान् (ऋ. १, ८०, ११), मन्स्वान् (ऋ. २, १०, १), रभस्वतः (ऋ. १, ६, ६), सरस्वती (ऋ. १, ३, १०-१२), सहस्यते (ऋ. १, १२७, १०), मनुष्वन् (ऋ. १, ३१, १०), अद्दिगस्वत् (ऋ. १, ३१, १७), द्विषन्ते (ऋ. १, १३, १), नमस्विनः (ऋ. १, ३६, ३७), अयस्मयः (ऋ. ५, ३०, १५), मनस्मयम् (ऋ. १०, ८५, १२) आदि ।

४. यद्, तद्, एतद् शब्दों से वतुप् प्रत्यय परे हो तो अवग्रह नहीं होता^४ । जैसे—यावत् (ऋ. १, ३३, १२), तावान् (ऋ. १, १०८, २), एतार्थन्तम् (ऋ. ७, १००, १) आदि ।

५. शाकल्य-शैली में देवता-द्वन्द्व में अवग्रह नहीं होता^५ । जैसे—इन्द्रवायु (ऋ. १, २, ४), अग्नीषोमी (ऋ. ६, ५२, १६), अग्नीषोमी (ऋ. १, ६३, ८), इन्द्राग्नी (ऋ. ५, ६४, ८), इन्द्रागृहस्पती (ऋ. ४, ४६, ५), इन्द्रार्थता (ऋ. ३, ५३, १) आदि ।

६. पूर्व-पद में जहाँ संहिता-दीर्घ हो रहा हो, वहाँ अवग्रह नहीं होता^६ । जैसे—उभयादतः (ऋ. १०, १०, १०) । परन्तु शुभा. (५, २१)

१. न दीर्घात् (शौच. ४, ३३) । २. प्रतिषेधे नाऽवग्रहः (शुभा. ५, २४) । अथर्थांस्तेनैवापरस्य प्रतिविद्धनाऽप्रपावादिचर्गम् (शौच. ४, ५६) । ३. न तद्वारतकाराग्राणां मन्थं (शौच. ४, ४०) । ४. यत्तदेतेषो ऋषी (शौच. ४, ४८) । ५. देवताद्वन्द्वे च (शौच. ४, ४६) । इन्द्रानि द्विषन्तान्तानि स्वाम्नापूर्वपदानि (शुभा. ५, ३८) । ६. यत्तु चोत्तरपदे दीर्घो व्यग्रनरी (शौच. ४, ५०) । उत्तरपदे परतः इति शेषः ।

के अनुसार शुक्ल-यजुर्वेद में अवग्रह होता है^१। जैसे—उभयदंतऽह्युभय
दंतः (मा. ३१,८), विश्वानरः (ऋ. १,१८६,१), विश्वानिः (ऋ. ३,५३,६),
नराशंसम् (ऋ. १,१३,३), इष्टापूर्तेन (ऋ. १०,१४,८), पितापुत्रौ (शी.
६,११२,२)।

परन्तु तैत्तिरीय-संहिता (२,६,५,१) में इध्मायद्विरितीष्मा-वृद्धिः ऐसा
अवग्रह मिलता है।

७. आदि-वृद्धि वाले ऐसे तद्धितान्त शब्दों के मध्य में अवग्रह
नहीं होता, जहां पूर्व-पद में एक ही अक्षर हो और उसी को वृद्धि हो
रही हो^२। जैसे—वैष्टुभम् (ऋ. १,१६४,२३), सौधन्वनाः (ऋ. १,११०,४),
सौध्रवसम् (ऋ. ७,६८,४), सौभाग्यम् (ऋ. १०,८५,३३), सौभाग्यम् (ऋ. १,
३६,१७) आदि।

८. मध्य में जिन शब्दों के सुट् आगम हो रहा हो, वहां प्रायः
अवग्रह नहीं होता^३। जैसे—वनस्पतिः (ऋ. १,६०,८), बृहस्पतिः, (ऋ.
१,६२,३)। हरिश्चन्द्रः (ऋ. ६,६६,२३) का पद-पाठ हरिश्चन्द्रः है। जहां
अवग्रह हो रहा है।

१. मृगयुमुभयादतोऽपामार्गकिंपूर्वमिति च (शुभा. ५,२१) सर्वत्राऽवग्रह
इति शेषः। २. तद्धिते चैकापरवृद्धाचनिहते (शुभा. ५,२६)। वृद्धेनैकाचरेण
स्वरान्तेन (शीच. ४,५५)। ३. सर्वस्मिन्नेवाऽऽगमसकारादौ तुविष्टमग्रजंम्
(शीच. ४,५६)।

चतुर्थ-अध्याय

गति-प्रकरण

[१. उपसर्ग-सज्ञा, २. गति-सज्ञा, ३. कर्मप्रवचनीय-सज्ञा,
४. निपातसंज्ञक उपसर्ग, ५. पद-पाठ में गति-निर्देश ।]

वाग्व्यवहार में शब्द के चार वर्ग माने गए हैं । नाम (सुवन्त),
आख्यात (तिङन्त) उपसर्ग और निपात^१ । पदपाठ-प्रकरण में सुवन्त
(अ-समस्त या समस्त) शब्दों के पद-पाठ के निर्देश पर
प्रकाश डाला गया है, इस प्रकरण में उपसर्ग के स्वरूप तथा उसके
पद-पाठ में निर्देश के विषय में प्रकाश डाला जायेगा ।

प्र, परा, अर्प, सम, अनुं, अवं, निस्, दुस्, वि, आह्, नि, अर्धि, अर्पि,
अर्ति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि, उपं यह बीस उपसर्ग प्रातिशारय तथा
पाणिनीय-संप्रदाय में सप्त-सम्मत हैं । आचार्य भट्टोजिदीक्षित ने
सिद्धान्त-कौमुदी में प्रयोग-वैचित्र्य दिखाने के लिए निस्, निर् और
दुस्, दुर् दो-दो उपसर्ग माने हैं ।

इन बीस उपसर्गों में से नौ उपसर्ग—प्र, सम, निस्, दुस्, वि, आह्,
नि, उद्, सु, एकाक्षर होने के कारण उदात्त हैं । दस उपसर्ग—परा, अर्प,
अनुं, अवं, अर्धि, अर्पि, प्रति, परि, उप, अर्ति, द्वयक्षर होने के कारण
आद्युदात्त हैं, और केवल अभि उपसर्ग द्वयक्षर अन्तोदात्त है^२ । फिट्-
सूत्रों में भी 'अभि' के अतिरिक्त सप्त उपसर्गों को आद्युदात्त कहा गया
है^३ । द्वयक्षर उपसर्गों में जो अक्षर उदात्त है, उसको छोड़ कर
शेष अक्षर अनुदात्त होगा^४ ।

इन उपसर्गों को द्योतक तथा वाचक भी माना गया है^५ । प्रत्येक
उपसर्ग का अपना क्या विलक्षण अर्थ है, और उसके सन्निधान में

१. वाग्व्यवहारेण चत्वारि ऽङ्गानि नामान्याते उपसर्गनिपातारथ, तानामानि
भजन्ति (वाल्क १, १) । मामाख्यातोपसर्गनिपाता. (शुभा ८, ४४) । २. त्रिनेह-
पसर्गाद्यम् उच्यते एकपरा मय । आद्युदात्ता इतिनेहम्, अन्ते इतिनेहम्
(आप्ता. १२, १२-२४) । ३. निषत्ता आद्युदात्ता, उपसर्गाभिर्ब्रजम् (षिट् सूत्र ४,
१२-१३) । ४. अनुदात्तं पदमेकपत्रम् (पा. ६, १, १०८) । ५. धात्वर्थं
वाचते वक्षिन्, वरिष्यत् तमनुयन्ति । तमेव विरिष्यत्के उदसर्गानिस्त्रिषा
(सायनभाष्यम् शी १, २, १) ।

क्रिया के अर्थ में क्या विशेषता आती है, इसका प्राञ्जल वर्णन महर्षि यास्क ने निरुक्त (१,४) में तथा उसी का खुलासा ऋग्वेद के महान् भाष्यकार आचार्य वेङ्कटमाधव ने अपनी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका (४,३३) में विशद रूप से किया है ।

पाणिनीय-संप्रदाय में कार्य-भेद से उपसर्गों के कई वर्ग माने गए हैं । जैसे—१. पत्व और शत्व की कर्तव्यता में उपसर्ग, स्वर-कर्तव्यता में गति, संनिहित शब्द के अर्थमात्र प्रदर्शन अथवा अपने विशेष अर्थ के निरूपण में कर्मप्रवचनीय, वाक्यार्थ में विलक्षणता उत्पन्न करने में निपात । अन्यत्र प्रातिशाख्य आदि में ऐसा विवेचन नहीं है ।

१. आ इत्यर्वांगर्थे, प्र परैत्येतस्य प्रातिलोम्यम्, अभीत्यानि-
मुल्यम्, प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अति सु इत्यभिपूर्जार्थे, निर्दुरे इत्येतयोः
प्रातिलोम्यम्, न्यवेति विनिप्रहार्थयो, उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम्, समित्येकीभावम्,
व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अन्विति सादृश्यापरभावम्, अपीति संसर्गम्, उपेत्युप-
जनम्, परीति सर्वतोभावम्, अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा, एवमुच्चावचानर्थान्
प्राहुस्त उपेक्षितव्याः (निरुक्त १,४) ।

आङ् आभिमुख्यं वदति प्रपरौ तद्विपर्ययम् ।

सम् एकीभाववचनः पृथग्भावे न्यपी स्मृतौ ॥

अनुः सादृश्यावचनः परचाद्भावे च वर्तते ।

उद् वर्तते उद्गमने न्यवी नीचीनवृत्तिनौ ॥

सु पूजावचनं प्राहुर्विपरीतौ च निर्दुरौ ।

अधेरुपरिभावार्थम् आभिमुख्यम् अभीर्बिदुः ॥

अतेरर्थोऽतिक्रमणं प्रातिलोम्ये प्रतिः स्मृतः ।

अपिः संसर्गवचन उपश्चोपजने स्मृतः ॥

वर्जने सर्वतोभावे परि प्राहुर्विपरिचतः ।

एवामेते प्रायिकार्था इत्थं यास्केन दर्शिताः ॥

पाणिनिश्चाह भगवानयनिषां बहूस्तथा ॥

वेङ्कटभाष्यभूमिका (ऋ. ४,३३)

१. उपसर्ग-संज्ञा

U 3529

क्रिया के योग में इनकी उपसर्ग-संज्ञा है^१। उपसर्ग-संज्ञा के कारण ही निर्घोषित (क. १,२२,८) निषद्य (श्र. १०,१४,५) इस नि उपसर्ग से युक्त √पद्लु धातु के क्रिया-प्रयोग में पत्व श्रूयमाण है^२। स् को प् हो रहा है, इसी बात की पुष्टि के लिए संहिता-पाठ के इस पत्वयुक्त शब्द का पद-पाठ नि। भौदत, निःस्यं होगा। ऐसे ही पुर्याण्डम् (शौ. १४, २,१२) परि और आङ् उपसर्ग से युक्त √णह् 'बन्धने' धातु का क्त-प्रत्ययान्त क्रिया-शब्द है, जहां उपसर्ग-संज्ञा के कारण ही णत्व निष्पन्न हुआ है^३। इसका पद-पाठ पुरिऽञ्चान्दम् है, जो उपसर्ग के कारण ही णत्वापत्ति में प्रभापक है। ऐसे ही प्रयाणम् (श्र. ४,४६,७ पपा. प्रऽयानम्) है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पत्व तथा णत्व के संपादन के लिए क्रिया-योग में उपसर्ग-संज्ञा का विशेष महत्त्व है।

२. गति-संज्ञा

क्रिया-योग में ही प्र, परा आदि की गति-संज्ञा भी होती है^४। इस गति-संज्ञा का स्वर-शास्त्र से गहरा सम्बन्ध है। अष्टाध्यायी के स्वर-विधायक सूत्रों में गति-संज्ञा से उपसर्गों की ही ख्याति है। 'गतिरन्तरः' (पा. ६,२,४६), 'गतिङ्कारकोपपदात् कृत्' (पा. ६,२,१३६) 'गतिर्गौ' (पा. ८,१,७०) इत्यादि सूत्र इसमें निदर्शन हैं। प्रातिशाख्यों में गति-संज्ञा पृथक् नहीं मानी गई। उपसर्ग-संज्ञा से निर्वाह किया गया है। इसी लिए अष्टाध्यायी के 'गतिर्गौ' (पा. ८,१,७०) का प्रातिशाख्य के 'उपसर्ग उपसर्ग' (शुभा. ६,२) सूत्र में स्पष्ट अर्थ-सादृश्य प्रतीत होता है। गति का विशद विवेचन इसी प्रकरण के 'पदपाठ में गति-निर्देश' में आगे करेंगे।

३. कर्मप्रवचनीय-संज्ञा

उपसर्ग-संज्ञा और गति-संज्ञा के अतिरिक्त कृत्पय (सब नहीं) प्रादियों की योग्यतानुसार कर्मप्रवचनीय-संज्ञा भी होती है। वार्तिक-नियम से^५ कर्मप्रवचनीय-संज्ञा, गति-संज्ञा तथा उपसर्ग-संज्ञा की

१. उपसर्गः क्रियायोगे। (पा. १,४,५६)। २. 'सदिरप्रतेः' (पा. ८, १,१६)। ३. उपसर्गादसमासेऽपि योपदेशस्य (पा. ८,४,१४)। ४. 'गतिरङ्' (पा. १,४,११)। ५. ग'उपसर्गसंज्ञे कर्मप्रवचनीयसंज्ञा (पा. १,४,१)।

बाधक है। अर्थात् जिनकी कर्मप्रवचनीय-संज्ञा है ऐसे प्रादियों की गति-संज्ञा और उपसर्ग-संज्ञा नहीं होती।

कर्मप्रवचनीयों में भी कई वर्ग हैं। प्रथम वह जो संनिहित पञ्चम्यन्त या सप्तम्यन्त शब्दों के अर्थानुवादी मात्र हैं। इनमें स्वार्थ-प्रतिपादन की क्षमता ही नहीं होती, या संनिहित शब्दों के अर्थानुवाद मात्र में इनकी इतिकर्तव्यता समाप्त होती है। अष्टाध्यायी में 'अधिपरी अनर्थकौ' (पा. १, ४, ६३) सूत्र में 'अनर्थकौ' शब्द से यही तात्पर्य अभिप्रेत है। अर्थात् 'अधि' और 'परि' संनिहित सप्तम्यन्त तथा पञ्चम्यन्त के अर्थानुवादी मात्र हैं। इनका अपना ऐश्वर्य या लक्षण तथा वर्जन अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं। इन अधि, परि के योग में पत्वणत्व (उपसर्ग-संज्ञा के कार्य) तथा स्वर-विधि (गति-संज्ञा का कार्य) न हो, इसलिए दोनों उक्त संज्ञाओं की निवृत्ति के लिए इनकी कर्म-प्रवचनीय-संज्ञा की जाती है।

वेद के भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्य में इनका स्पष्ट उल्लेख किया है। आचार्य वेङ्कटभाधव ने 'परिः पञ्चम्यर्थं स्फुटीकरोति' (क्र. १, ६१, ६; ४, ३६, २) इन अक्षरों में तथा सायणाचार्य ने 'अधिः सप्तम्यर्थानुवादी' (अ. १, ८०, ६) इन शब्दों में इसी तत्त्व को पुष्ट किया है^१। अष्टाध्यायी के उक्त सूत्र से 'अधि, परि' ही केवल पाणिनीय-न्याय से अनर्थक प्रतीत होते हैं। परन्तु वेद-भाष्यकारों ने 'अभि', 'आ' आदि को भी इस कोटि में गिना है। जैसे—'अभिशाब्दो धावर्थानुवादी, लम्बते प्रलम्बते इति यथा' (स्कन्दभाष्य क्र. १, ७१, १०) 'आकारः सप्तम्यर्थं स्फुटीकरोति' (वेङ्कटभाष्य क्र. १, ६, ३)।

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने इसी रहस्य को शंख में रखे हुए दूध की उपमा से समझाया है। जैसे शंख में रखे हुए दूध के रंग में यह विवेक होना कठिन है कि श्वेत रंग आधारभूत शंख का है या दूध का। शंख के श्वेत रंग में दूध का अपना श्वेत रंग तन्मय हो जाता है, ऐसे ही संनिहित सप्तम्यन्त या पञ्चम्यन्त शब्द के कारण यह विवेक नहीं हो पाता कि धातुबोधित क्रिया का अर्थ 'अधि' या

१. वेङ्कटभाष्यम् (क्र. १, ६, ६)—अधिपरी सप्तमोपञ्चम्योरर्थं स्फुटीकुरतः। स्कन्दभाष्यम् (पदान्तरे)—अभिशाब्दस्तु धावर्थानुवादी च पदपूर्वो वा धार्मान्तरवचनः।

'परि' से उक्त है या सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त शब्द से । इस लिए अधि, परि दोनों अनर्थान्तरवाची (विशेष अर्थ के वाचक न होने से) होने के कारण अनर्थक है^१ ।

यस्मात् समुदा अधि विश्रन्ति (शौ. १३, ३, २) इस मन्त्र में पञ्चम्यन्त 'यस्मात्' शब्द की अवधि से विलक्षण क्रिया के अर्थ का 'अधि' अनुवादकमात्र है । इसी लिए 'अधिपरो अनर्थकौ' (पा १, ४, ६३) सूत्र से 'अधि' की कर्मप्रवचनीय-संज्ञा हुई है और पद-पाठ में 'अधि' का स्वतन्त्र आद्युदात्त स्वर निर्दिष्ट है । अन्यथा 'गतिर्गती' (पा ८, १, ७०) के सूत्र नियम से परवर्ती 'विश्रन्ति' क्रिया के गतिसङ्ग 'वि' से पूर्ववर्ती होने के कारण 'अधि' को सर्वानुदात्त होता, और पद-पाठ में भी स्वतन्त्र नहीं, प्रत्युत 'अधिऽविश्रन्ति' ऐसा समुदित निर्देश होता । क्योंकि यस्मात् इस यद्-वृत्त शब्द के योग में^२ 'तिङ्ङितिङ्' (पा ८, १, २८) सूत्र से 'अधि वि' उपसर्ग (अतिङ्) से परवर्ती तिङन्त क्रिया 'क्षरन्ति' को सर्वानुदात्त नहीं होता । प्रत्युत क्रिया का अपना आद्युदात्त-स्वर श्रूयमाण रहता है । और 'तिङ् चोदात्तवति' (पा ८, १, ७१) सूत्र के नियम से उदात्तस्वर-युक्त तिङन्त क्रिया से पूर्ववर्ती गति को सर्वानुदात्त ही होना चाहिए । जत्र 'अधि' उपसर्ग अनर्थक है तो कर्मप्रवचनीय-संज्ञा से गति-संज्ञा का वाध हो जाने के कारण 'अधि' शब्द गति नहीं है इसी लिए 'गतिर्गती' तथा 'तिङ् चोदात्तवति' दोनों ही नियमों का अवकाश न होने से 'अधि' का पद-पाठ में स्वतन्त्र प्रयोग होता है ।

दूसरा वर्ग उन कर्मप्रवचनीयों का है, जिनकी वाक्यार्थ-समर्पण में अपने अर्थ की विलक्षणता है^३ । पूजा (सौष्टव) अर्थ में 'सु' कर्म-

१ अनर्थान्तरवाचिनावनर्थकौ, धातुभोजता क्रियामाहतु, तद्विशिष्ट भवति, यथा शङ्खे पय (महाभाष्य १, ४, ६३) ।

अप्रयोगेऽधिपर्योश्च यावद् दृष्ट क्रियान्तरम् ।

तस्याभिधायको धातु सह ताभ्यामनर्थक ॥

(वाक्यपदीय २, १६१)

२ 'यद्-वृत्तान्नित्यम्' (पा ८, १, ६६) । ३ क्रियागतविशेषद्योतकेऽपि इव संज्ञा वचनात् प्रथमंते 'सु पूजायाम्' इति यथा (उद्योत व्याख्या [महाभाष्य] तत्त्व-बोधिनी पा १, ४, ८३) ।

कर्मप्रवचनीयव क्रियायोगे विधीयते ।

पत्वादि विनिवृत्त्यर्थं स्वस्यादीनां विधर्मणाम् ॥

(वाक्यपदीयम् २, २०४)

प्रवचनीय है। जैसे—सु स्तुतं भवता, सु सिक्तं भवता (आप ने षड़ी अच्छी स्तुति की, आप ने बहुत अच्छी प्रकार से वृत्तों को सींचा)। यहां 'सु' शब्द स्तुति-गत और सिञ्चन-गत सौष्ठव का द्योतक है, इस लिए 'सुः पूजायाम्' (पा. १,४,६४) सूत्र से 'सु' की कर्मप्रवचनीय-संज्ञा हो जाने से गति-संज्ञा और उपसर्ग-संज्ञा दोनों की निवृत्ति हो गई। स्वर भी दोनों शब्दों का पृथक् पृथक् होगा। अन्यथा 'सुष्टुतम्', 'सुषिक्तम्' प्रयोग होते, और उपसर्ग-संज्ञा के कारण पत्व तथा गति-संज्ञा के कारण 'गतिरन्तरः' (पा. ६,२,४९) से गति 'सु' का उदात्त-स्वर होकर शेष अक्षरों को सर्वानुदात्त होता। (विशेष स्वर-विमर्श सप्तम अध्याय के 'सु-स्वर' प्रकरण में देखें)। इसी लिए वाक्य में जहां 'सु' शब्द से निन्दा गम्यमान होगी, वहां पत्व ही जाएगा और गति-संज्ञा के कार्य भी होंगे। जैसे—'सुषिक्तं किं तवाऽत्र' (तुमने अच्छी सिंचाई की है, पर इससे तुम्हें क्या लाभ ?) इस वाक्य में 'सु' शब्द से निन्दा गम्य है। बालमनोरमाकार ने इस निन्दावाक्य का यही तात्पर्य निकाला है। यह विवेचन पाणिनीय-संप्रदाय के प्रसिद्ध वैयाकरणों के मन्तव्य का निष्कर्ष है।

वस्तुतः 'सु' शब्द कहां कर्मप्रवचनीय है, और कहां गति-संज्ञक या प्रादि है, इसका विश्लेषण अतिसूक्ष्म एवं अशक्य है। लौकिक वाग्व्यवहार में अमुक वाक्य में 'सु' पूजार्थक है इस लिए कर्मप्रवचनीय है। और अमुक वाक्य में 'सु' से निन्दा गम्यमान है, इस लिए पूजार्थक नहीं, और इसी लिए 'सु' की उपसर्ग-संज्ञा है, और 'सुषिक्तम्' में 'सि' को मूर्धन्य प्रकार हो गया है, यह विवेचन भले ही सार्थक हो, किन्तु वेद में इसका निर्धारण अत्यन्त कठिन है। यदि पत्वापत्ति को ही कर्मप्रवचनीय-संज्ञा है या उपसर्ग-संज्ञा इसमें नियामक मान लें तो 'इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तः' (ऋ. ३,३६,७) आदि स्पष्टार्थ वैदिक-वाक्यों में 'सुषुतम्' का क्या अर्थ करेंगे। प्रकरणानुगत अर्थ 'सुष्टु अभिषुतम्' (देखें वेद्वट तथा सायण का भाष्य) है। जहां प्रत्यक्ष अभि-पवण का सौष्ठव (=पूजा) प्रतीत है, और पत्व भी हो रहा है।

१. त्वया सम्यक् सिक्तं, किन्तु अत्रास्मिन् सुसेके पृते सति सेषुस्तत्र किं, न किञ्चिदपीत्यर्थः। निन्दाऽत्र गम्यत इत्यर्थः। सेकाक्रियाकर्तुः पूजयत्वे गम्य एव कर्मप्रवचनीयत्वम्। (बालमनोरमा)

पूजा गम्यमान होने से 'सु' कर्मप्रवचनीय होना चाहिए, और पत्व (उपसर्ग-संज्ञा का कार्य) नहीं होना चाहिए, परन्तु पूजा गम्यमान होते हुए भी 'सु' कर्मप्रवचनीय नहीं है, और पत्व हो रहा है। गति-समास में 'गतिरन्तरः' (पा. ६, २, ४६) सूत्र से कर्म-क्तान्त 'सुतम्' शब्द परे रहते पूर्व गति 'सु' का पूर्वपद-प्रकृति-स्वर भी हो रहा है। ऐसे ही पत्व से रहित 'सुसमिदः' (ऋ. १, १३, १) शब्द का पाठ-भेद साम-वेद (कौ. २, ६६७) में पत्व से युक्त 'सुसमिदः' मिलता है। 'सुसमिदम्' (मा. २८, २४) में पत्व नहीं; उसी का तैत्तिरीय-ब्राह्मण (२, ६, १७, १) में पत्व-युक्त 'सुसमिदम्' पाठ-भेद उपलब्ध है। एक ही मन्त्र के शाखा-भेद से प्रदर्शित शब्द में कहीं पत्व है, कहीं नहीं, इस लिए केवल पत्व को नियामक नहीं माना जा सकता। पूजा गम्यमान होते हुए भी यहां कहीं भी 'सु' कर्मप्रवचनीय नहीं है, अपितु 'पूर्वपदात्' (पा. ८, ३, १०६) के नियम से पूर्वपद-स्थ निमित्त मान कर ही उक्त वैदिक पाठ-भेदों में विकल्प से पत्व है।

ऐसे ही 'अति' शब्द अति-क्रमण और सौष्टव दोनों अर्थों में 'अतिरतिक्रमणे च' (पा. १, ४, ६५) सूत्र से कर्मप्रवचनीय है। अति स्तुतम्, अति सिद्धम् यहां भी अर्थ पूजार्थक 'सु' का ही है। (आपने बड़ी अच्छी स्तुति की, और अच्छा वृत्तों को सींचा), तथा अति-क्रमण का भी अर्थ है (आपने स्तुति और सिद्धन में परा-काष्ठा कर दी)। तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार कुछ आचार्यों के मत में 'अति-क्रमण' से 'बहु-तर' अर्थ अभिप्रेत है। 'आपने बहुत अधिक और अच्छी स्तुति की और सिद्धन किया'।

महाभाष्य के अनुसार जो उपसर्ग वाक्य में साक्षात् श्रयमाण क्रिया-गत विशेष अर्थ के द्योतक न होकर अप्रयुज्य मान (अर्थलभ्य) धातु-बोधित क्रिया-गत विशेष अर्थ के द्योतक हैं, वह कर्मप्रवचनीय हैं^१। इस तात्पर्य को लेकर आचार्य सायण ने यत्र तत्र 'अभि' का 'अभिलक्ष्य' अर्थ किया है आचार्य वेङ्कटमाधव ने भी 'आ निर्पादत' (ऋ. १. २२, ८) इस

१. केषांचिन्मते बहुतरं समीचीनं वा सिक्तं स्तुतं चेत्यर्थः। बहुतरार्थेऽति-क्रमणं, समीचीने पूजा, इति विवेकः—तत्त्वबोधिनी। २. कर्मं प्रोक्तवन्त इति कर्मप्रवचनीयाः इति। के पुनः कर्मं प्रोक्तवन्तः ये संप्रति क्रियां नाहुः, के संप्रति क्रियां नाहुः, येऽप्रयुज्यमानस्य क्रियामाहुस्ते कर्मप्रवचनीयाः (महाभाष्य १, ४, ८३)।

वाक्य में 'आ' से 'आगत्य' अर्थ लेकर 'आ-गत्य उपविशत' ऐसा अर्थ किया है। जबकि इसके विपरीत आचार्य स्कन्द स्वामी ने 'अर्वाक्' अर्थ में 'आ' को निपात मान कर 'अर्वाक् मत्समीपे' अर्थ किया है, और आचार्य मुद्गल ने 'आ' का 'संवतः' अर्थ किया है। महाभाष्यकार के 'अप्रयुज्यमानस्य' इस शब्द का व्याख्यान वैयाकरणों ने पूर्वापर भाष्य के अविरोध से क्या किया है, यह हम आगे बतायेंगे, यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है कि महाभाष्यकार के उक्त शब्दों का यह भी तात्पर्य विद्वानों ने निकाला है। हम समझते हैं कि कुछ अंश में यह तात्पर्य भी अपेक्षित है, इसी लिए 'अतिरिक्तक्रमणे च' (पा. १,४,१५) सूत्र में कर्मप्रवचनीयसंज्ञक 'अति' शब्द का अर्थ बताने के लिए अति-उपसर्ग-युक्त √क्रमु धातु से निष्पन्न कृदन्त क्रियाशब्द 'अतिक्रमणे' का व्यवहार किया है, स्पष्ट है अप्रयुज्यमान 'क्रमण' क्रियारूपी धात्वर्थ का प्रतिपादन 'अति' कर्मप्रवचनीय से सूत्रकार को इष्ट है। 'अति' कर्मप्रवचनीय से अर्थ-लभ्य 'अति-क्रमण' अर्थ आवश्यक है, इसके स्पष्ट करने के लिए उदाहरण की आवश्यकता है। शतपथ-ब्राह्मण में (पता नहीं इन तीन लोकों के अतिरिक्त कोई चौथा लोक है भी या नहीं। इस विचिकित्सा के लिए कहा है—'स यदिमांल्लोकानुति चतुर्थमस्ति न वा' (माश. १, २, १,१२)।

यहां 'इमांल्लोकानुति' इस वाक्य-खण्ड में 'इमांल्लोकान् अतिक्रम्य' अर्थ अभीष्ट है। ऋषि का ब्राह्मण-ग्रन्थ में 'इमांल्लोकान् अतिक्रम्य' इतना विशद वाक्य न पढ़कर 'इमांल्लोकानुति' इस अर्थगम्य पाठ का पढ़ना इस तथ्य को स्वीकार करता है कि वैदिक भाषा में कर्मप्रवचनीय को बहुत महत्त्व प्राप्त था। और सीधा सादा 'अतिक्रम्य' शब्द न बोलकर 'अति' कहना अर्थ में विशेष विलक्षणता तथा सजीवता प्रगट करता था।

फिर 'अतिक्रम्य' पढ़ने से 'लोकान्' में 'अतिक्रम्य' क्रिया के कारण 'कर्मणि द्वितीया' (पा. २,३,२) सूत्र से कारक विभक्ति (द्वितीया विभक्ति) होगी, जैसे 'अति क्रामति' क्रिया के योग में होती है। जब कि 'अति' कर्मप्रवचनीय साक्षात् क्रियागत विशेष अर्थ का द्योतक नहीं है, और इसीलिए इसके योग में द्वितीया विभक्ति के विधान के लिए विशेष सूत्र 'कर्मप्रवचनोद्युक्ते द्वितीया' (पा. २,३,८) का उपदेश किया गया है। गति से कर्मप्रवचनीय का यह भी सूक्ष्म भेद ध्यान देने योग्य है।

ऐसे ही तृतीयार्थ 'सह' के अर्थ में 'अनु' उपसर्ग की विशेष शक्ति है, हीनता अर्थ का ज्ञान कराने के लिए भी 'अनु' को विशेष रूप से कर्मप्रवचनीय माना गया है^३, और लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्ध को बताने के लिए 'विजली कहा चमक रही है', इस प्रश्न पर कहा जाता है 'वृक्ष पर विजली चमक रही है'। (वृक्ष प्रति परि अनु विद्योतते विद्युत्)। यहाँ स्पष्ट प्रति, परि, अनु इन कर्मप्रवचनीयों में वृक्ष को लक्ष्य करके विद्युत् चमकने के लक्षण (द्योतन) की विशेष सामर्थ्य है^३।

इसी प्रकार आधिक्य तथा हीनता अर्थ में 'उप' कर्मप्रवचनीय है^४, यही अर्थ अध्वक्ष से उपाध्यक्ष, आचार्य से उपाचार्य के स्वरूप में भासता है। वर्जन अर्थ में अर्प, परि^५। मर्यादा और अभिविधि अर्थ में 'आ' कर्मप्रवचनीय है^६। आचार्य स्कन्दस्वामी (ऋ. १, ७१, ६) ने भी 'आकारोऽत्र मर्यादायाम्' इन शब्दों में मर्यादाव्यर्थक कर्मप्रवचनीय 'आ' का सफेद किया है। अभि, प्रति, अर्पि और अर्थि भी विशेष अर्थ के द्योतक कर्मप्रवचनीय हैं।

कर्मप्रवचनीय का एक तीसरा स्वरूप भी है, जो कि 'अनुलक्षणे' (पा. १, ४, ८४) सूत्र के महाभाष्य तथा उस पर आचार्य कैयट एवं व्याकरण शास्त्र के अन्य आचार्यों के महत्त्वपूर्ण उद्घापोह से सिद्ध है^७। 'अनुलक्षणे' सूत्र में 'लक्षण' का सामान्य लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध आचार्य को इष्ट नहीं, वह तो 'लक्षणेभ्यभूताः' (पा १, ४, ६०) सूत्र से ही 'अनु' की कर्मप्रवचनीय सज्ञा से गतार्थ था, यहा हेतुहेतु-मद्भावरूप संबन्ध 'लक्षण' शब्द से आचार्य को अभीष्ट है, कहीं

१. तृतीयार्थ (पा १, ४, ८५)। २ हीने (पा. १, ४, ८६)। ३ वृक्षसम्बन्धि द्योतनमर्थ। सबधश्च लक्ष्यलक्षणभाव इति प्रत्याद्यो द्योतयन्ति (तत्त्वबोधिनी पा १, ४, ६०)। ४. उपोऽधिके च (पा १, ४, ८७)। ५. अपरौ वर्जने (पा. १, ४, ८८)। ६. आङ् मर्यादावचने (पा. १, ४, ८९)।

७. किनर्थाभिस्तुन्वते? कर्मप्रवचनीयमज्ञा यथा स्थान् गच्छुपसर्गासज्ञे मा भूतामिति। किं च ह्य'त्? शाकल्यस्य सद्विनामनु प्रावर्षत्, 'गतिर्गती' इति निघात' प्रसज्येत, यद्येव देरपि कर्मप्रवचनीयमज्ञा वक्तव्या, देरपि निघातो नेत्यते— प्रादेश प्रादेश वि परिलिखति। अस्त्यत्र विशेष—नाऽत्र वैलिखि प्रति क्रियायोग, किं तर्हि? अप्रयुज्यमानं (विमान) प्रति, 'प्रादेश प्रादेशं विमाय परिलिखतीति'। यद्येवम् अनोरपि कर्मप्रवचनीयमन्या नाऽर्थं, अनोरपि हि न वृषिं प्रति क्रियायोग, किं तर्हि? अप्रयुज्यमानं निशामि प्रति—'शाकल्येन मुहता सद्विनामनुनिराम्य देव

हेत्वर्थक तृतीया विभक्ति 'अनु' के संनिधान से न हो' विशेष सूत्र से विशेष संबन्ध को समझाने के लिए द्वितीया ही हो, इस प्रयोजन के लिए सूत्र की चरितार्थता सिद्ध होती है।

महाभाष्यकार ने उदाहरणरूप में 'शाकल्पसंहितामनु प्रावर्षत्' (ऋग्वेद के पाठ के अनन्तर वर्षा हुई) प्रयोग उपस्थित किया है। उनके शब्दों में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय-संज्ञा हो जाने से ही 'गतिर्गती' (पा. ८, १, ७०) सूत्र से 'प्रावर्षत्' क्रिया के 'प्र' से पूर्ववर्ती 'अनु' को गति मान कर सर्व-निघात नहीं हुआ। क्योंकि कर्मप्रवचनीय-संज्ञा से गति-संज्ञा का बाध हो गया है। यद्यपि 'शाकल्पसंहितामनु प्रावर्षत्' इस वाक्य में 'अनु' शब्द का अयुज्यमान निशमि 'निशम्य' के साथ योग है, इसी लिए 'शाकल्पेन मुकृतां संहितामनुनिशम्य देव प्रावर्षत्' इस व्याख्यानभूत वाक्य में 'अनु' का 'अनुनिशम्य' अर्थ दिखाया गया है, तथापि आचार्य कैयट के अनुसार केवल अर्थलभ्य अप्रयुज्यमान 'निशमि' धातु के क्रियायोग-प्रावर्षत्'। ए० तर्हि प्रयोजनं ? द्वितीया यथा स्यात् कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीयेति (महाभाष्य)।

अत्र कैयटः—शाकल्पेन मुकृतामिति, अत्र थावये अप्रयुज्यमाननिशमेयां क्रिया तत्कृतो वर्षसंहितयोर्हेतुहेतुमद्भावज्ञापणः संबन्ध इत्ययमर्थो अनुशब्दसंनिधौ प्रतीयते। तदयम् अनु. 'संहिताम्' इति द्वितीययाऽभिहितं संबन्धमवच्छिनत्ति। धावपदाद्ये भर्तृहरिः—

'क्रियाया द्योतको नाऽयं, संबन्धस्य न धावकः।

नापि क्रियापदाद्येषो, संबन्धस्य तु भेदकः ॥ (धावपदीय २, २०६)

स चोपजातः संबन्धो विनिवृत्ते क्रियापदे।

कर्मप्रवचनीयेन तत्र तत्र नियम्यते ॥ (धावपदीय २, २०१)

अत्र नागोराः—विशिष्टक्रियाजनितोऽयं संबन्धो विभक्त्यर्थः इति द्योतकः, यथा प्रकृते निशमनक्रियाश्रुतः सम्बन्ध इति।

अत्र तत्त्वबोधिर्नकारः—'अनुना न क्रियाविरोधो द्योत्यते, 'अनुभूयते मुष्मम्' इत्यादी यथा, नापि षट्ठ्वेय संबन्ध उच्यते द्वितीयस्यैव तस्योक्त्यात्, नापि 'प्रादेश विपरिक्षिप्तवति, त्रिमास परिक्षिप्तवति, इत्यत्र विशब्देन मानप्रियेव क्रियान्तरमाक्षिप्यते, का.कविमन्त्रियसङ्गात्, किं तु अपसंबन्धि यपंशमिति द्वितीययाऽगतः संबन्धो लक्ष्यलक्ष्यमाक्षेप्यगमात् संबन्ध एवाऽनुना विरोधेऽप्यन्याप्यते।

१. हेतुहेतुमनोर्यंगपरिच्छेदेऽनुना कृते।

आरम्भाद् द्योत्यते प्राप्ता पूर्व्या हेतुलक्षणा ॥ (धावपदीय २, २०५)

मात्र तक 'अनु' शब्द की अर्थप्रत्यायक शक्ति समाप्त नहीं हो जाती, प्रत्युत 'शाकल्यसंहिता' के निशमन (श्रवण) के तत्काल पश्चात् होने वाली वर्षणक्रिया के साथ हेतुहेतुमद्भाव-सम्बन्ध की प्रतीति 'अनु' शब्द का वास्तविक अर्थ है। 'मंहिताम्' इस द्वितीया से प्रतीयमान हेतुहेतुमद्भावलक्षण सम्बन्ध की व्याख्या 'अनु' शब्द से होती है, महाभाष्यकार ने इस अप्रयुज्यमान 'निशमि' क्रिया के सम्बन्धावच्छेक 'अनु' कर्मप्रवचनीय का क्रियाक्षेपी उपसर्ग के साथ भेद बतलाने के लिए 'प्रादेशं प्रादेशं वि परिलिखति' उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'वि' उपसर्ग का 'लिखति' क्रिया के साथ उतना साक्षात् सम्बन्ध नहीं, जैसे 'परिलिखति' क्रिया में 'परि' उपसर्ग का 'लिखति' के साथ गति-सम्बन्ध है, 'वि' और 'परि' दोनों का गति-सम्बन्ध मानने से 'विपरिलिखति' इतना क्रिया का रूप होगा, और 'गतिर्गती' (पा. ८, १, ७०) सूत्र से 'परि' गति परे रहते पूर्वगति 'वि' को अनुदात्त हो जाएगा, जो कि पद-पाठ के विरुद्ध है। पद-पाठ में 'वि' स्वतन्त्र उदात्त पद पढ़ा जाता है। इस लिए 'वि' उपसर्ग से ✓माङ् 'माने' धातु के ल्यबन्त 'विमाय' क्रियापद का आक्षेप करेंगे। वाक्य का स्वरूप होगा—'प्रादेशं प्रादेशं विमाय परिलिखति'। यहाँ 'परिलिखति' क्रिया अकर्मक है, और 'विमाय' क्रिया के सम्बन्ध से 'प्रादेशम्' में कारक विभक्ति (द्वितीया विभक्ति) हुई है। इसके विपरीत 'शाकल्यसंहितामनु प्रावर्षत्' वाक्य में 'गतिर्गती' (पा. ८, १, ७०) के निघात की निवृत्ति के लिए 'अनु' उपसर्ग से अप्रयुज्यमान 'निशमि' (निशम्य) क्रिया का सम्बन्ध होते हुए भी 'अनु' उपसर्ग 'वि' उपसर्ग के समान क्रियाक्षेपी उपसर्ग नहीं, प्रत्युत कर्म-प्रवचनीय होने के कारण संहिताश्रवणहेतुष्व-वर्षणक्रिया के हेतुहेतु-मद्भावलक्षण-सम्बन्ध का प्रत्यायक है। इसी लिए इस कर्मप्रवचनीय 'अनु' के योग में 'कर्मणि द्वितीया' (पा. २, ३, २) सूत्र के नियम से कारक-विभक्ति न होकर 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा. २, ३, ८) सूत्र से विशेष-विहित द्वितीया होती है, और गति-संज्ञा का बाध भी हो जाता है। इसी लिए आचार्यों ने 'अप्रयुज्यमानस्य क्रियामाहु' इस महाभाष्य का अर्थ 'तद्वाच्यक्रियाकृतसंबन्धविशेषम्' किया है। अर्थात् कर्मप्रवचनीय 'अनु' से वाच्य (द्योत्य) क्रिया निशमि के साथ (संहितामनु निशम्य)

१. गत्युपसर्गसंज्ञाः क्रियायोगे यत्क्रियायुक्तास्तं प्रतीति वचनम् (पावा. १, ४, ६०)

येन क्रियापदाक्षेपः स कारकविभक्तिभिः ।

युज्यते विवर्था, तस्य लिखावन्नुपसर्गता ॥ (वाचस्पदीय २, २०२)

वर्षणक्रिया 'प्रावर्षत्' के हेतुहेतुमद्भावलक्षण सम्बन्ध को 'अनु' उपसर्ग बताता है, इसी लिए यह कर्मप्रवचनीय है, क्रियाक्षेपी उपसर्ग नहीं।

चौथा वर्ग क्रियाक्षेपी उपसर्गों का है जैसा 'विमाय परिक्षिति' इस उदाहरण से स्पष्ट किया जा चुका है। अथर्वप्रातिशारयकार (१,१,१२) इसको भी कर्मप्रवचनीय की कोटि में गिनते हैं। क्योंकि उन्होंने पद-पाठ में या अनर्थक या कर्मप्रवचनीय इन दोनों को ही स्वतन्त्र सत्ता वाला माना है। कर्मप्रवचनीय पद से उक्त सत्र प्रकार उन्हें अभीष्ट है।

४. निपातसज्ञक उपसर्ग

उपसर्गों की निपात-सज्ञा भी होती है^१। निपात-सज्ञा का लाभ उपसर्गमात्र की पद-सज्ञा है। क्योंकि 'स्वादिनिपातम् अव्ययम्' (पा १, १,३७) सूत्र से प्र वरां आदि की अव्ययसज्ञा, फिर अव्यय शब्दों से परे प्रथमा विभक्ति का लुक्^२ (लोप) और 'य शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधानी' न्याय के अनुसार विभक्ति-लुक् के परचात् शेष उपसर्ग स्वरूप का सुवन्तत्व और सुवन्त होने के कारण उपसर्गों की पद-सज्ञा^३ और इसी लिए पद-पाठ में उपसर्गों की स्वतन्त्र स्थिति यह सब उपसर्गों की निपातसज्ञा पर निर्भर करती है।

'आ' आदि निपातसज्ञक उपसर्गों को वेद की ऋचाओं में वाक्यालङ्कार के रूप में पूरणार्थक माना है। इसी लिए ऋग्वेद (१,६,३) में 'आकार पदपरण' यह स्कन्दस्वामी का भाष्य मिलता है। वेदकृत तथा सायण ने भी बहुधा इसका उल्लेख किया है। महर्षि यास्क ने (निरुक्त १,४) में 'आ' को समुच्चयार्थक निपात माना है^४। वेदकृत-माधव (ऋ ४,५७,१) ने इसकी पुष्टि की है। कह नहीं सकते कि पूरणार्थक 'आ' उपसर्ग का प्रतिरूपक है या स्वतन्त्र निपात है। 'निपात एकाजनाद्' (पा १,१,१४) सूत्र में 'अनाट' (ङकार अनुबन्ध से रहित 'आ') पर्युदास का प्रगृह्य-सज्ञा में उल्लेख है। जैसे निषेध अर्थ में आ,माद् दोनों अव्यय हैं, परन्तु 'माटि लुप्' (पा ३,३,१०५) सूत्र के नियम से

१ प्रादय (पा १,४,५८) । २ च्ययादाप्सुप (पा २,४,८२) ।

३ मुत्तिटन्त पदम् (पा १,४,१४) । ४ चेति समुच्चयार्थं उभान्वां सप्रपुण्यौ

.....। एतस्मिन्नेशर्थे • आकार (निरुक्त १,४) ।

लुङ् लकार 'भाङ्' के योग में ही होता है, 'भा' के योग में नहीं। 'भाङ्' के योग में—'भा शब्द कापाँव' (लुङ्) है, परन्तु भा के योग में 'भा कुर्' लोट् भी होता है, ऐसे प्रगृह्य-संज्ञा में 'अनाङ्' इस पर्युदास की सामर्थ्य से ज्ञात होता है कि 'आ' दो प्रकार का है, 'आङ्' (ङकार-अनुबन्ध-युक्त) और 'आ' (अनुबन्ध से रहित)। दूसरे शब्दों में 'आ' (निपात) और 'आङ्' (निपातेतर गति-उपसर्ग-कर्मप्रवचनीयसंज्ञक)। महाभाष्य की इष्टि—'ईपदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च य, एतम आत हित विद्यात्, वाच्य स्मरणयोगेऽङित्' से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है—ईपत् शब्द के अर्थ में (उपसर्ग) क्रियायोग में (गति) मर्यादा तथा अभिविधि अर्थ में (कर्मप्रवचनीय) आङ् (ङकार अनुबन्ध से युक्त) मानना, अर्थात् 'आङ्' की प्रगृह्य-संज्ञा नहीं। 'आ' की वाक्यालकार या स्मरण अर्थ में अङित् होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा होती है। 'सु' भी निपात है—अभी पु णे (ऋ ४३१, २)।

५. पद-पाठ में गति-निर्देश

पद पाठ के निर्देश में उपसर्गों की कई प्रकार की स्थिति है—

१. वह उपसर्ग जिनके अनन्तर निघात (अनुदात्त) क्रिया है।
२. वह उपसर्ग जिसके अनन्तर उदात्तस्वर-युक्त क्रिया है।
३. वह उपसर्ग जिनके अन्तर (किसी शब्द के व्यवधान) में क्रिया है।
४. वह उपसर्ग जिसके अनन्तर कोई दूसरा उपसर्ग है। ५. वह उपसर्ग जो किसी उपसृष्ट तिङन्त क्रिया का प्रथम अवचय है, और उस तिङन्त क्रिया (आख्यात) में उदात्त स्वर हो रहा है। ६. वह उपसर्ग जो मध्यवर्ती है, अर्थात् जिसके पूर्व में अन्य उपसर्ग है, और अनन्तर निघात क्रिया है। ७. वह उपसर्ग जो गतिसमास से किसी कृदन्त शब्द का प्रथम अवचय है।

१. यदि उपसर्ग के अनन्तर अनुदात्त आख्यात (तिङन्त क्रिया) होगा, तो पद-पाठ में वह उपसर्ग और आख्यात दो पृथक् पद माने जाएँगे, और दोनों का पृथक् पृथक् निर्देश होगा^१। जैसे—अनु। श्वपन्ति (ऋ २, २४, १३)।

२. उपसर्ग के अनन्तर उदात्तस्वर-युक्त आख्यात होने पर भी दोनों पृथक् होंगे। जैसे—अधि। तस्थु (ऋ. १, १६४, २)।

३. वह उपसर्ग जो क्रिया से व्यवहित है, पद-पाठ में उसका भी निर्देश पृथक् होगा। जैसे—'स त्वां गिनामि' (ऋ १०, ८७, २४) इस

१. उपसर्गपूर्वमाख्यातम् अनुदात्त विगृह्यते (अथा १, १, १२)।

वाक्य में 'सम्' उपसर्ग का 'शिशामि' से अन्वय है (सं शिशामि) । परन्तु मध्यवर्ती 'त्वा' से व्यवधान हो रहा है । यह वचति (ऋ. १,१,२ पपा. षा । इह । वृत्ति) उक्त दोनों उदाहरणों में क्रिया अनुदात्त है । क्योंकि किसी अतिङ् (सुप्रन्त पद) से परे तिङन्त क्रिया को अनुदात्त हो जाता है^१ ।

४. जहाँ कहीं आर्यात् अनुदात्त हो और उसके अनन्तरपूर्ववर्ती दो उपसर्ग हों, वहा आख्यात् से अनन्तरपूर्ववर्ती उपसर्ग उदात्तस्वर-युक्त होगा, और उससे पहला उपसर्ग अनुदात्त होगा^२ । जैसे—सुम्ऽआर्चिनुष्व (शौ. ११,१,३६) । यहाँ 'चिनुष्व' क्रिया अनुदात्त है । उसके पूर्व दो उपसर्गों में से क्रिया का अनन्तरपूर्ववर्ती 'आ' उपसर्ग उदात्त है । और उसके पूर्व 'सम्' अनुदात्त है । निघात क्रिया के योग में दो उपसर्ग हों या तीन, उदात्तस्वर क्रिया के अनन्तरपूर्ववर्ती उपसर्ग पर ही होगा, शेष सत्र अनुदात्त होंगे । 'सुम्ऽआर्चिनुष्व' इतना एक पद पद-पाठ में निर्दिष्ट होगा, और अवग्रह चिह्न दो उपसर्गों के मध्य में होगा । ऐसे ही अणालेभिरे (ऋ. १०,१३०,७ पपा. अनुऽआलेभिरे) है ।

यदि दो उपसर्गों में से पहला उपसर्ग कर्मप्रवचनीय है तो पद-पाठ में उसका निर्देश पृथक् होगा और एक उपसर्ग से युक्त क्रिया का निर्देश पृथक् होगा । जैसे—अभि पु प्रसीदत (ऋ. १०,३२,१) । यहाँ 'अभि' मन्त्रस्य 'वान्' इस द्वितीयान्त पद से संबद्ध कर्मप्रवचनीय है । पद-पाठ में यह स्वतन्त्र निर्दिष्ट है । 'सु' उपसर्ग स्वतन्त्र और 'प्रसीदत' स्वतन्त्र । आ । प्रदय (ऋ. ५,३१,२) अभि । प्रसेदुः (ऋ. ४,१,१३) भी हैं ।

५. यदि उपसर्ग से अनन्तर-उत्तरवर्ती क्रिया में उदात्त स्वर हो तो पद-पाठ में ऐसे उपसर्ग का उदात्त आख्यात् से पृथक् निर्देश नहीं होगा, बल्कि उपसर्गयुक्तक्रिया एक पद माना जाएगा और पद-पाठ में उसका सहनिर्देश होगा, तथा उपसर्ग और आर्यात् के मध्य में अवग्रह का चिह्न (ऽ) लगेगा^३ और उपसर्ग अनुदात्त होता है । जैसे—विऽशरंगित (शौ. १३,३,२) विऽषाकंशीति (शौ १३ ३,१) । यहाँ 'शरंगि'

१. तिङ्न्त (पा. ८,१,२०) । २. गतिगती (पा. ८,१,००) । अनेहोऽनुदात्तेनापि (शौष. ४,२) । उपसर्गो उपसर्गो (शुभा ६,२) । ३. त्रिलि षोदात्तवति (पा. ८,१,०१) । (उपसर्गपूर्वमाख्यात्तम्) उदात्त एव गमादयो, उपसर्गो निदन्त्यो (अभा. १,१,१२) । उपसर्गो आख्यात्तेनादात्तेन समस्यो (शौष. ४,१) ।

और 'चार्कशीति' दोनों क्रियाओं के आदि अक्षर उदात्त हैं, इस लिए पूर्ववर्ती उपसर्ग अनुदात्त है। ऐसे ही विऽभ्रानुशे (श्रु. ६, ८६, १५) है।

६. यदि अनुदात्त आख्यात से पूर्व दो या तीन उपसर्ग हों, तो उन सब का आख्यात के साथ समास होगा। और आख्यात के अनन्तर-पूर्ववर्ती उपसर्ग पर उदात्त का चिह्न होगा। शेष पूर्ववर्ती उपसर्गों में 'गतिगंतौ' (पा. ८, १, ७०) के नियम से पूर्व पूर्व को अनुदात्त होगा। ऐसे आख्यातों का पद-पाठ में समस्त पद के रूप में निर्देश होता है। और प्रथम उपसर्ग के परचात् अवग्रह का चिह्न लगता है। जैसे—अनुऽसंभ्याहि (शौ. ११, १, ३६)। दो उपसर्ग वाले आख्यात का उदाहरण पीछे दिखा चुके हैं।

७. यदि आख्यात उदात्त-स्वरयुक्त हो, और उसके पूर्व दो उपसर्ग हों, तो अनन्तरपूर्ववर्ती उपसर्ग का तो क्रिया से समास होकर उपसर्ग को निघात होगा। (स्मरण रहे कि उदात्तयुक्त आख्यात के परे रहते पूर्व गति को अनुदात्त होता है)। पद-पाठ में समास दिखाने के लिए उपसर्ग और आख्यात के मध्य में अवग्रह-चिह्न लगेगा। जैसे—'यस्मान् समुद्रा अर्धि विशरन्ति' (शौ. १३, ३, २) यहां 'शरन्ति' क्रिया में 'यस्मान्' इस यद्वृत्त के संनियोग से अनुदात्त का निषेध होने के कारण उदात्त का अवन्य है। उसका अनन्तर-पूर्ववर्ती उपसर्ग 'वि' अनुदात्त है, और पद-पाठ में 'विऽशरन्ति' इस प्रकार अवग्रह का निर्देश भी वर्तमान है। किन्तु आख्यात से व्यवहितपूर्व 'अर्धि' उपसर्ग पर उदात्त का निर्देश है और पद-पाठ में भी पृथक् पद के रूप में दिखाया गया है। यह 'अर्धि' अनर्थक है। क्योंकि ऐसे उपसर्गों की तीन प्रकार की स्थिति होती है। १. या वह अनर्थक होगा, २. या फिर कर्मप्रवचनीय होगा, ३. या वह उपसर्ग व्यूढ (अन्य-युक्त) होगा। जो उपसर्ग व्यवधान में स्थित किसी क्रिया के साथ अन्वित होते हैं, उन्हें व्यूढ या अन्ययुक्त कहा जाता है^१।

१. द्वुपसर्गपूर्वमाख्यातं यदा भवेदुदात्तवत् । अनर्थक कर्मप्रवचनीयो व्यूढो वा विगृह्यते (अप्र. १, १, १२) । अनर्थककर्मप्रवचनीयाऽन्ययुक्तैर्विग्रहोऽभिवितन्वादिषु (शौच. ४, ३) ।

२. दृग्दसि परेऽपि (पा. १, ४, ८१) । व्यवहितान् (पा. १, ४, ८२) ।

अहादीनां व्यग्रन्थार्थं पृथक्त्वेन विग्रहपदम् ।

घातुपसर्गयोः ऋत्वे घातुत्वे हि तादाः ॥ (शाक्यपदीय २, १८२)

तीनों स्थितियों में उपसर्ग का पद-पाठ में स्वतन्त्र निर्देश होगा, और अपना उदात्त स्वर कायम रहेगा।

८. कई स्थलों पर आख्यात से पूर्व तीन उपसर्ग होते हैं। उनमें पहला उपसर्ग स्वतन्त्र उदात्त-स्वर-युक्त होगा। दूसरे दो उपसर्गों में पहले उपसर्ग का दूसरे के साथ समास और दोनों समस्त उपसर्गों का परवर्ती अनुदात्त आख्यात के साथ समास होगा। और दोनों समस्त उपसर्गों के मध्य में अवग्रह का चिह्न रहेगा^१। जैसे—उपं सुंप्रपाठ (मा. १५, ५३ पपा. उपं। सुंप्रपाठेति सुम् प्रपाठ) इस स्थल में 'पाठ' इस अनुदात्त क्रिया से पूर्व 'उपं, सम, प्र' यह तीन उपसर्ग श्रयमाण हैं। इनमें प्रथम 'उपं' उपसर्ग में उदात्तस्वर का निर्देश है। और पद-पाठ में स्वतन्त्र है। शेष दो उपसर्ग 'सम्' और 'प्र' में 'सम्' का 'प्र' के साथ समास फिर दोनों का 'पाठ' क्रिया से समास हो रहा है। इसी लिए 'गतिगंतौ' (पा. ८, १, ७०) के नियम से आख्यात के अनन्तर-पूर्ववर्ती 'प्र' पर उदात्त का चिह्न निर्दिष्ट होकर उससे पूर्ववर्ती 'सम्' उपसर्ग को अनुदात्त हो गया है। पद-पाठ में 'सम्' और 'प्र' के मध्य में विन्देदक अवग्रह होगा। 'समर्थं पदविधिः' (पा. २, १, १) के नियम से समास में ही सामर्थ्य है। 'पाठ' आख्यात की अपने साथ समस्त दोनों उपसर्गों में सामर्थ्य है, इसी लिए सत्र का सहनिर्देश है। पहले उपसर्ग के साथ सामर्थ्य नहीं।

इस लिए ऐसे असमर्थ उपसर्ग के साथ सातवें नियम में प्रतिपादित या अनर्थक या फर्मप्रवचनीय या व्यूट तीन स्थितियों वाला व्यवहार ही चरितार्थ होगा। जैसे अथर्ववेद के प्रातिशारयकार ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—'अभि। वि। त्तु' (शौ. १, १, ३)। यह पद-पाठ में पढ़ा जाता है। यहां 'त्तु' (८/१/त्तु) क्रिया के पूर्व दो उपसर्ग हैं। 'अभि। वि।' परन्तु 'त्तु' क्रिया के साथ 'वि' उपसर्ग के योग की सामर्थ्य है। 'अभि' उपसर्ग की नहीं। इसलिए पद-पाठ में

१. अपने अपने पूर्व पूर्वेषु तु विगृह्यते ।

उक्तोऽयं समासोऽयं, उक्तोऽयं तु परं पदम् ॥

उपसर्गपूर्वोऽप्ययं परोऽप्ययं समासोऽयं ।

सामर्थ्यं उपसर्गस्यैव समासार्थं तु निग्रहः ॥

सामर्थ्यं समासस्यैव समासार्थं अभिविद्यते ॥ (भा. १, १, १३)

उसका पृथक् निर्देश है। वह या अनर्थक या कर्मप्रवचनीय माना जायेगा। यदि दोनों उपसर्गों की 'तनु' के साथ सामर्थ्य होती तो दोनों का 'तनु' के साथ समास होता और 'गतिगंती' (पा. ८, १, ७०) के नियम से पूर्व उपसर्ग को अनुदात्त होता, और क्रिया के पूर्ववर्ती 'वि' उपसर्ग पर उदात्त का निर्देश होकर पद-पाठ में अभिविधत्तु ऐसा समस्त पद पढ़ा जाता।

६. ऐसे ही क्त-प्रत्ययान्त कृदन्त क्रिया के पूर्व यदि एक उपसर्ग होगा तो अनन्तर-पूर्ववर्ती गति पर उदात्त (प्रकृति-स्वर) का निर्देश होगा^१। जैसे—अर्षज्युल्लहम् (श्रु. १, २२, १४)। आर्षुत्तम् (श्रु. १, २४, ३)। आर्षुत्त (श्रु. १, ८७, ४)। उर्षस्तुती (श्रु. १, १८१, ७)। अर्षस्तम् (शौ. २, ७, ३) आदि। और 'निपाता आद्युदात्ता, उपसर्गाश्चामिवर्जम्' के न्याय से उपसर्ग उदात्त हैं, उक्त नियम से उनका स्वर श्रूयमाण हो रहा है। और समास बनाने के लिए मध्य में अवग्रह का चिह्न है। यदि क्त-प्रत्ययान्त कृदन्त क्रिया से पूर्व दो उपसर्ग होंगे तो उक्त नियम से^१ क्त-प्रत्ययान्त के अनन्तर-पूर्ववर्ती गति पर उदात्त का निर्देश होगा, तथा 'गतिगंती' (पा. ८, १, ७०) के नियम से पहले उपसर्ग को अनुदात्त होगा। जैसे—पुर्णाण्डम् (शौ. १४, २, १२ पपा. परिऽआनेदम्)। सुप्रदं. (शौ. ६, ७६, १ पपा. सुम्प्रेदं.)। आर्षात्तुऽइत्सुमि आर्षुत्त (मा. ८, ५८) आदि। यहाँ क्त-प्रत्ययान्त शब्द है। इनके पूर्व दो उपसर्ग समस्त हैं। उक्त नियम से अनन्तर-पूर्ववर्ती को प्रकृति-स्वर होगा, और पूर्व उपसर्ग को अनुदात्त।

यदि क्त-प्रत्ययान्त कृदन्त क्रिया से पूर्व तीन उपसर्ग होंगे। तो क्त-प्रत्ययान्त के साथ दो गतियों का समास दिया फर उक्त नियम से अनन्तरपूर्व की गति को प्रकृतिस्वर (उदात्त) होगा, और दूसरे उपसर्ग को 'गतिगंती' के नियम से अनुदात्त होगा। दोनों उपसर्गों के मध्य में अवग्रह का चिह्न होगा। सबसे पहले उपसर्ग की सामर्थ्य क्त-प्रत्ययान्त क्रिया के साथ नहीं है। इस लिए पद-पाठ में उसका उदात्तस्वर-युक्त निर्देश पृथक् होगा, क्योंकि या तो वह उपसर्ग अनर्थक है, या कर्मप्रवचनीय है, या किसी व्यवहित क्रिया के साथ उसका अन्यय है, ऐसा मानना पड़ेगा। जैसे—'पुर्णेऽपि समादिना।'

१. गतिगन्ताः (पा. ६, २, ४६)।

(शौ. १०,७,१५)। इस स्थल पर 'हिताः' यह क्त-प्रत्ययान्त शब्द √धा धातु से निष्पन्न है। उसके पूर्व 'अधि', 'सम्', 'आ' यह तीन उपसर्ग हैं। इनमें पहला उपसर्ग 'अधि' पद-पाठ में स्वतन्त्र उदात्तस्वर-सहित निर्दिष्ट है। क्योंकि इसकी 'हिताः' के साथ सामर्थ्य न होने के कारण इसमें समास की योग्यता नहीं है। 'पुरवे' इस सप्तम्यन्त पद के संनिधान में √धा धातु से बोधित धारण क्रिया का अनुवादी होने के कारण यह अनर्थक है। शेष दो उपसर्ग 'सम्' और 'आ' का परस्पर सम्बन्ध है, फिर दोनों उपसर्गों की 'हिताः' इस क्त-प्रत्ययान्त के साथ सामर्थ्य होने के कारण गति समास है। दोनों उपसर्गों का परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए 'सम्ऽआहिताः' ऐसा पद-पाठ में अवग्रह होगा। पूर्ववत् अनन्तर-पूर्ववर्ती गति को उदात्त का निर्देश होगा और दूसरे उपसर्ग 'सम्' को अनुदात्त होगा।

क्त-प्रत्ययान्त कृदन्त क्रिया से पूर्व दो उपसर्गों की स्थिति में भी अनन्तर-पूर्ववर्ती उपसर्ग का गति-समास होकर प्रकृति-स्वर (उदात्त-निर्देश)। और पहला उपसर्ग अनर्थक, कर्मप्रवचनीय या व्यूढ की स्थिति में पद-पाठ में पृथक् उदात्त-स्वर-युक्त मिलता है। जैसे—आ। निऽसंत्तः (ऋ. ३, ६, ४)। परिं। आऽभृतम (ऋ. ६, ४७, २७)। अभि। संऽवृत्तः (ऋ. ८, १७, ७)। अधिं। उत्ऽततम (शौ. २, ७, ३)।

१०. यही क्तान्त क्रिया का उपसर्गों के साथ सम्बन्ध तथा पद-पाठ में निर्देश क्तिन्-प्रत्ययान्त, तोसुन्-प्रत्ययान्त, तवेन्-प्रत्ययान्त, कृदन्त क्रियाओं के उपसर्ग-व्यवहार के लिए निर्दर्शन है। भेद केवल अनन्तर-पूर्व की गति को प्रकृति-स्वर (उदात्त) करने वाले पाणिनीय सूत्र में है। क्त-प्रत्ययान्त में अनन्तरपूर्व-गति को प्रकृति-स्वर 'गतिरनन्तरः' (पा. ६, २, ४६) सूत्र करता है, और क्तिन्-प्रत्ययान्त आदि के अनन्तर-गति को प्रकृति-स्वर 'तादी ष निति वृष्यती' (पा. ६, २, ५०) सूत्र करता है। क्तिन्-प्रत्ययान्त—अभिऽस्तेः (ऋ. १, ६१, १५)। प्रऽशंस्तये (ऋ. १, १२२, ११)। प्रऽइतिम् (ऋ. १, ३३, ४)। विऽडंष्टिषु (ऋ. १, १७१, ५)। दो उपसर्ग पूर्व वाले क्तिन्-प्रत्ययान्त का उदाहरण जैसे—प्रयुत्तव्यै (मै. ४, ७, ३)। परन्तु तै. ६, ६, ४, ६ में 'प्रयुत्तव्यै' उदाहरण में 'प्रति' उपसर्ग क्तिन्-प्रत्ययान्त 'स्तव्यै' से समस्त नहीं, पद-पाठ में

प्रतीति । उक्तव्या इत्युन्-स्तुञ्चै ऐसा निर्देश है । पहला उपसर्ग तीनों उक्त स्थितियों में से एक है । तोसुन्-प्रत्ययान्त—पेतोरित्वा-एतोः (सं. १, ५, १०, १) । दो उपसर्ग वाले उदाहरण में पहला उपसर्ग पद-पाठ में पृथक् है । एति । विजितोरिति वि-जितोः (सं. २, ५, १, ५) तवेन्-प्रत्ययान्त—परिऽएतवे (श्रु. ८, २४, २१) ।

११. ऐसे कृदन्त शब्द जो शतृ-प्रत्ययान्त, या शानच्-प्रत्ययान्त या ल्यप्-प्रत्ययान्त हैं, यदि उनके पूर्व दो उपसर्ग हैं, या तीन उपसर्ग हैं, तो कृदन्त के अनन्तरपूर्ववर्ती गति का समास होगा, और उत्तरपद-प्रकृति-स्वर^१ होगा, पद-पाठ में दोनों के मध्य में अवग्रह होगा । शेष पहला उपसर्ग या दो उपसर्ग पद-पाठ में पृथक् दिखाए जायेंगे । उन सब पर उदात्त का स्वतन्त्र निर्देश होगा । या वह अनर्थक होंगे या कर्मप्रवचनीय या फिर व्यूढ (अन्य व्यवहित-क्रिया से सम्बद्ध)^२ । जैसे—अभि । मु । प्रऽपीदतः (श्रु. १०, २२, १) । यह कृदन्त से पूर्व तीन उपसर्गों का उदाहरण है । इनमें पहले दो उपसर्ग 'अभि', 'मु' पद-पाठ में विगृहीत दिखाये गए हैं, दोनों पर अपना उदात्त का स्वर विद्यमान है । परन्तु तीसरा 'प्र' उपसर्ग 'पीदतः' इस शतृ-प्रत्ययान्त कृदन्त के साथ समस्त निर्दिष्ट है । और समास दिखाने के लिए मध्य में अवग्रह का चिह्न (ऽ) है । अा । निऽपथं (श्रु. १०, १४, ५) । यहाँ 'अा' विगृहीत है और ल्ययन्त समस्त 'निऽपथं' के मध्य में अवग्रह है । पशुऽऽर्षत्सु (सं. ३, १, ४, १) भी इसी प्रकार का शत्रन्त का उदाहरण है । परि विगृहीत है । कर्तृ स्थलों पर दो उपसर्गों के समास वाला शत्रन्त का प्रयोग मिलता है ।

१२. जहाँ गति के साथ समस्त कृदन्त शब्द में तद्धित-प्रत्यय भूयमाण हो । यहाँ गति और तद्धितान्त कृदन्त शब्द के मध्य में

१. गतिङात्ततोपरत्तत् इति (प. ६, २, १११) ।

२. इदं इत्युक्तं वयं पूर्वेण विष्टम् ।

कर्मरूपः कर्मप्रवचनीयं पशुः वा विगृह्यते ऽ (पञ्च. १, १, १०)

विगृह्यते = परत्तत् इत्युक् विदितम् ।

अवग्रह चिह्न (S) लगेगा^१ । जैसे—आजामिष्टाः (ऋ. १०, १५, ३ शौ. १८, १, ४५) । पद-पाठ की दृष्टि में आ । गमिष्टाः इन दो पदों का समास है, 'गमिष्टाः' शब्द कृदन्त 'गन्त्' शब्द से अतिशय अर्थ में तद्धित इष्टन् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । मध्य से 'त्' प्रत्यय का लोप हो गया है^२ । गति के साथ समास अनेक प्रकार के होते हैं । स्वर भी विभिन्न मिलते हैं । किन्तु प्रकृत में पद-पाठ-सन्वन्धी गति पर ही लिखा है ।



-
१. गतिपूर्वो यदा धातुः षचित् स्यात् हृदितोदपः ।
समस्यने गतिस्तथागमिष्टा इति निर्द्शनम् ॥ (अथा. १, १, ११)
 २. तुरिष्ठेमेवःसु (पा. ६, ४, १५४) ।

पञ्चम-अध्याय

श्रामन्त्रित-स्वर

सम्बोधन में प्रथमाविभक्त्यन्त शब्दों को श्रामन्त्रित कहते हैं^१। वेद श्रामन्त्रित-स्वर दो प्रकार का उल्लेख होता है, १. श्रामन्त्रित शब्द के आदि के अक्षर पर उदात्त। २. श्रामन्त्रित शब्द सारा ही अनुदात्त।

१. किसी मन्त्र का आदि, या पाद का आदि अथवा वाक्य का आदि श्रामन्त्रित शब्द किसी पद के परे न होने कारण आशुदात्त होगा^२। जैसे—मन्त्र के आदि में—‘अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः’ (श्र. ५, ४६, २)। यह पाँचों ही श्रामन्त्रित शब्द, मन्त्र के प्रारम्भ में आशुदात्त हैं। क्योंकि पूर्व पूर्व श्रामन्त्रित, पर श्रामन्त्रित की अपेक्षा अविद्यमानवत् होने के कारण^३ ‘इन्द्र वरुण’ इत्यादि श्रामन्त्रित शब्द पद से परे नहीं हैं। तात्पर्य यह कि ‘देवाः’ की अपेक्षा चारों पूर्व श्रामन्त्रित शब्द ‘अग्न इन्द्र वरुण मित्र’ अविद्यमानवत् (नहीं के तुल्य) हैं, अतः ‘देवाः’ शब्द भी किसी पद से परे न होकर मन्त्र के आदि में माना जाएगा, इसी लिए आद्यक्षर ‘दे’ पर उदात्त-स्वर का निर्देश है। इसी प्रकार ‘मित्र’ की अपेक्षा ‘वरुण’ अविद्यमानवत् है। ‘इन्द्र’ शब्द ‘वरुण’ की अपेक्षा अविद्यमानवत् है। और ‘अग्न’ के लिए ‘अग्ने’ शब्द अविद्यमानवत् है। इस प्रकार सभी श्रामन्त्रित शब्द पद से परे न होने के कारण मन्त्र के आदि में हैं। मन्त्र स्वर्णोक्त ऋतजात मुक्तेतो (श्र. १, १४४, ७) में भी श्रामन्त्रित आशुदात्त हैं। ऐसे ही—‘इष्टे रन्ते इष्टे काम्ये चन्दे ज्योतेर्दिते सरस्वति महि विष्टि’ (म. ८, ४३) इतना सारा मन्त्र-खण्ड पूर्व पूर्व श्रामन्त्रित के अविद्यमानवत् होने के कारण आशुदात्त है। इसके विपरीत ‘इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति’ (श्र. १०, ७५, ५) इस मन्त्र में ‘गङ्गे यमुने सरस्वति’ तीनों ही श्रामन्त्रित अनुदात्त हैं। क्योंकि यदि ‘सरस्वति’ की अपेक्षा ‘यमुने’ को और ‘यमुने’ की अपेक्षा ‘गङ्गे’ को पूर्व पूर्व की अविद्यमानवत् मान भी लें तो भी तीनों श्रामन्त्रित ‘मे’ पद के पर में हैं। अतः पद में परे होने के कारण श्रामन्त्रित आशुदात्त न हो सकेगा। पाद के आदि में—‘युष्टि’

१. श्रामन्त्रितम् (पा. २, ३, ४८)। २. श्रामन्त्रितम् च (पा. ६, १, १४८)।

३. श्रामन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (पा. ८, १, ७२)।

(ऋ. १०,७५,५) शब्द दूसरे पाद के आदि में होने के कारण पद से परे नहीं माना जाएगा और इसी लिए आद्यत्तर 'यु' पर उदात्त का वर्ण है। वाक्य के आदि में—इड एद्दित् एहि काम्या एत् (मा. ८,२७)। यहाँ 'एकतेड् वाक्यम्' (जहाँ एक तिङन्त क्रिया हो वह वाक्य होता है) के नियम से तीन वाक्य हैं—'इड एहि', 'अदित् एहि', 'काम्या एत्'। तीनों ही वाक्यों के स्वतन्त्र स्थिति में होने के कारण उनके आदि में 'इडे' 'अदिते' 'काम्याः' यह सब आमन्त्रित शब्द आद्युदात्त हैं। ऐसे ही—पितुः मातः (ऋ. १,१८५,११) आदि अनेकों दाहरण हैं।

२. उक्त आमन्त्रित के विपरीत यदि कोई आमन्त्रित शब्द पद से परे है और पाद के आदि में स्थित नहीं है, तो वह सर्वानुदात्त होगा। उसके प्रत्येक अक्षर पर पद-पाठ में अनुदात्त-चिह्न का निर्देश होगा। जैसे—'गृहे । यमुने । सुरस्वति' तीनों ही आमन्त्रित शब्द 'भे' से परे होने तथा पाद के आदि में स्थित न होने के कारण सर्वानुदात्त हैं।

आमन्त्रित को अविद्यमानवत् मान लेने का प्रभाव केवल परवर्ती आमन्त्रित पर ही नहीं होता, तिङन्त क्रिया पर भी होता है। क्योंकि सामान्य रूप में किसी अतिङन्त (सुबन्त) शब्द से परे होने पर तिङन्त क्रिया को सर्वानुदात्त होता है। परन्तु ऐसी स्थिति में जब तिङन्त क्रिया पाद के या वाक्य के आदि में हो या पूर्ववर्ती आमन्त्रित शब्द अविद्यमानवत् हो तो अतिङन्त से परे न होने के कारण उस क्रिया का यथायोग्य उदात्त-स्वर श्रूयमाण रहता है। जैसे—पाद के आदि में—असदित सुत्रिताय प्रयस्वान् (ऋ. ७,८५,४) यह अर्धर्च है। इसके प्रारम्भ में 'अयत्' यह क्रिया √अस् मुवि धातु के लोट् का रूप है। और इसके आदि 'अ' पर उदात्त का निर्देश है। वाक्य के आदि में—'वीथो भण्वाम्' (ऋ. ७,८२,७)। यहाँ वाक्य के आदि में तिङन्त क्रिया 'वीथः' का अन्तिम अक्षर उदात्त है। आमन्त्रित से परे—'अग्ने शुशुग्धि' (ऋ. १,१७,१)। यहाँ 'अग्ने' यह आद्युदात्त आमन्त्रित पद है। इसको अविद्यमानवत् मानकर अतिङन्त से परे न होने के कारण 'शुशुग्धि' (√शुच् 'दीप्तौ') क्रिया अन्तोदात्त निर्दिष्ट है। ऐसे ही 'आदिग्यासो भवत' (ऋ. १,१०७,१) भी है। 'इडःएहि' विख्याता ही गया है।

पाणिनीय सिद्धान्त के अनुसार आमन्त्रित पद आद्युदात्त हो या सर्वानुदात्त, दोनों ही स्थितियों में परवर्ती आमन्त्रित या उदात्त-स्वर-विशिष्ट क्रिया की अपेक्षा अविद्यमानवत् होता है। इसी लिए 'मल्लो मूढतां नः' (शौ. १, २०, १) आदि स्थलों में 'मल्लः' इस सर्वानुदात्त आमन्त्रित शब्द को अविद्यमानवत् मान कर ही 'मूढतां' क्रिया मध्योदात्त श्रयमाण है। पाणिनीय सूत्र से आद्युदात्त या सर्वानुदात्त दोनों स्थितियों में आमन्त्रित के अविद्यमानवत् होने से परवर्ती तिङन्त के अतिङन्त से परे न होने के कारण 'तिङ्तिङः' (पा. ८, १, २८) की प्रवृत्ति नहीं होती, और क्रिया में उदात्त-स्वर श्रुत रहता है। यही प्रक्रिया वैज्ञानिक तथा सार्वभौम प्रतीत होती है। इसी लिए अथर्ववेद-प्रातिशाख्य (१, १, २३) में इसी सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए 'अथर्वं भव्यं वाजिनः' (शौ. १, ४, ४) उदाहरण प्रस्तुत किया है। अथर्व-वेद के इस उदाहरण में स्पष्ट 'भव्यं' क्रिया को उदात्त-स्वर-विशिष्ट दिखाने के लिए पूर्ववर्ती आद्युदात्त आमन्त्रित 'अथर्वः' को अविद्यमानवत् मानना पड़ेगा। ऐसे ही 'सं वरणं पर्यमि' (श्रु. १, ५०, ६)। यहाँ 'पर्यमि' क्रिया को अनुदात्त क्यों नहीं हुआ। कदाचिन् 'वरण' आमन्त्रित को अविद्यमानवत् मान भी लें, तो भी 'त्वम्' इस पद से परे तो 'पर्यमि' क्रिया माननी ही होगी, फिर सर्वानुदात्त क्यों नहीं हुआ। लेकिन इसका समाधान तो स्पष्ट है। इसी मन्त्र में पूर्व से 'येन' इम यद्-युक्त का सम्बन्ध था रहा है, उसके कारण 'पर्यमि' क्रिया को अनुदात्त का निषेध हो जाएगा। यद्-युक्त के योग में तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता।

परन्तु बुद्ध संदिग्ध स्थलों में पाणिनीय के इस सार्वभौम नियम से भी अनुगम नहीं होता। जैसे—गावो भव्य वाजिनीः (शौ. १, ४, ४)। इस स्थल में 'गावोः' इस आद्युदात्त आमन्त्रित की अविद्यमानवत्ता में भी 'भव्यं' यह सर्वानुदात्त क्रिया वर्तमान है। 'तिङ्तिङः' (पा. ८, १, २८) सूत्र से तिङन्त क्रिया को अनुदात्त हो रहा है। यदि कहें कि यहाँ आमन्त्रित को अविद्यमानवत्त्व नहीं हुआ, तो प्रश्न उठेगा, क्यों नहीं हुआ, शास्त्र का अपवादक सूत्रान्तर फौन सा है। ऐसे ही 'इन्द्रोऽग्निः' (मा. ३, २, ९) का पद-पाठ 'इन्द्रं । अग्निः' है। यहाँ पूर्ववर्ती आद्युदात्त आमन्त्रित को अविद्यमानवत् मान कर 'अग्निः' इम आमन्त्रित पद को आद्युदात्त क्यों नहीं।

३. यदि आमन्त्रित शब्द (विशेष्य) के अनन्तर विशेषण आमन्त्रित श्रूयमाण हो तो पूर्व आमन्त्रित (विशेष्य) को अविद्यमानवत् नहीं होता^१। ऐसी स्थिति में दूसरा आमन्त्रित (विशेषण) पद से परे होने के कारण सर्वानुदात्त होगा। जैसे—अग्नें पावक रोचिषां (ऋ. ५, २६, १) 'अग्नें गृहपते' (मा. २, २७; ३, ३६) 'अग्नें व्रतपते' (मा. २, २८) इन उदाहरणों में विशेष्य आमन्त्रित 'अग्नें' के अनन्तर विशेषण आमन्त्रित को सर्वानुदात्त है।

४. बहुवचनान्त आमन्त्रित विशेषण परे रहते बहुवचनान्त विशेष्य आमन्त्रित को अविद्यमानवद्भाव विकल्प से होता है^२। जैसे—'देवीः पडुर्वोऽरु नः कृषीत' (ऋ. १०, १२८, ५) इस उदाहरण में 'देवीः' विशेष्य आमन्त्रित है, और पाद के आदि में होने के कारण आद्युदात्त हो रहा है। इसके अनन्तर 'पृष्ट्' 'उर्वी' दोनों ही बहुवचनान्त विशेषण हैं। उक्त नियम से विशेष्य बहुवचनान्त 'देवीः' को अविद्यमानवत्त्व का निषेध हो जाने से पद से परे होने के कारण दोनों ही विशेषण अनुदात्त हैं।

५. स्वरकर्तव्यता में परवर्ती आमन्त्रित में पूर्ववर्ती सुवन्त शब्द का अनुप्रवेश हो जाने से पराङ्गवद्भाव होता है^३। जैसे—'शुभं पतो' (ऋ. १, ३, १) यह आद्युदात्त आमन्त्रित है। इसमें पूर्वपद √शुभ् धातु का क्तिप्-प्रत्ययान्त पष्ठी विभक्ति में रूप 'शुभः' है, जो अन्तोदात्त है। उत्तरपद 'पतो' यह आमन्त्रित है। उक्त आमन्त्रित-स्वर के नियम की सामर्थ्य से 'शुभः' शब्द का आमन्त्रित 'पतो' में अनुप्रवेश (अङ्गवद्भाव) हो जाने से 'शुभः' इस पष्ठवन्त पद की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही, और परवर्ती आमन्त्रित का अङ्ग धन गया। अब 'शुभं पतो' शब्द आमन्त्रित है, और पूर्ववर्ती आद्युदात्त आमन्त्रित 'द्रवत्पार्था' के अविद्यमानवत् होने के कारण पाद के आदि में होकर आद्युदात्त आमन्त्रित है। ऐसे ही 'मरतां पितः' (तै. ३, ३, ९, १) शब्द भी एक आद्युदात्त आमन्त्रित शब्द है। यहाँ 'मरताम्' इस पष्ठवन्त का 'पितः' इस परवर्ती आमन्त्रित एकवचन में अङ्गवद्भाव हो गया है। और पाद के आदि में होने के कारण 'मरतां पितः' इतना आमन्त्रित आद्युदात्त है। ये उदाहरण तो पराङ्गवद्भाव में आद्युदात्त आमन्त्रित के हैं।

अनेक ऐसे भी आमन्त्रित हैं, जिनमें पराङ्गवद्भाव तो हो रहा है,

१. नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् (पा. ८, १, ७३)। २. विभाषितं विशेषवचने (पा. ८, १, ७४)। ३. मुषामन्त्रिते पराङ्गवत्स्ये (पा. २, १, ३)।

परन्तु पाद के आदि में न होने के कारण सर्वानुदात्त है। जैसे— 'ब्रह्मणस्पते' (ऋ. १, ४०, १)। अन्यत्र ऋ. (१, ४०, ५) में 'ब्रह्मणस्पतिः' यह संहिता-पाठ और ब्रह्मणः। पतिः ऐसा पद-पाठ है। दोनों शब्द आद्युदात्त स्वतन्त्र हैं। परन्तु 'ब्रह्मणस्पते' शब्द में परवर्ती आमन्त्रित 'पते' शब्द पद से परे होने के कारण सर्वानुदात्त है। जब पराङ्गवद्भाव से 'ब्रह्मणः' यह पष्ठ्यन्त शब्द 'पते' का अङ्ग बना तो इसका अपना स्वर विद्यमान न रहा, और यह भी सर्वानुदात्त हो गया है। स्मरण रहे उदात्त या स्वरित का चिह्न उस शब्द की स्वतन्त्र सत्ता का सूचक है। ऐसे ही 'सहसस्पुत्र' (ऋ. १, ४०, २) है।

आमन्त्रित के साथ उसका अङ्ग बनना मुख्य है। यदि आमन्त्रित परवर्ती होगा तो पराङ्गवद्भाव होगा, और यदि पूर्ववर्ती होगा तो पूर्वाङ्गवद्भाव होगा। जैसे— 'दुहितर्दिवः' (ऋ. ५, ७६, ६) है। यहां 'दुहितः' इस पूर्ववर्ती आमन्त्रित का अङ्ग बन जाने से 'दिवः' इस पष्ठ्यन्त अन्तोदात्त शब्द का अपना स्वर न रहा, और 'दुहितः' की तरह सर्वानुदात्त हो गया है।

६. जैसा पूर्व प्रतिपादन हो चुका है कि पूर्ववर्ती आद्युदात्त आमन्त्रित के अविद्यमानवत् होने के कारण अतिङ् से परे न होने के कारण अनन्तरपरवर्ती तिङन्त क्रिया में सर्वदा उदात्त-स्वर का श्रवण होता है^१। शुक्ल-यजुर्वेद-प्रातिशाख्य (६, १३) के अनुसार यदि आद्युदात्त आमन्त्रित और उदात्त-स्वर-विशिष्ट तिङन्त क्रिया के मध्य में एक शब्द का व्यवधान भी हो जाए तो भी तिङन्त क्रिया पर उदात्त-स्वर रहता है^२, और 'तिङ्इतिङ्' (पा. ८, १, २८) का नियम वहां लागू नहीं होता। जैसे— 'ब्रह्मस्रथं भुन्त्स्यामि' (मा. २२, ४) (हे ब्रह्मा ऋतिवज् ! मुझे अनुशासन करो, मैं अरज बांधूंगा) इस वाक्य में 'ब्रह्मन्' इस आद्युदात्त आमन्त्रित और 'भुन्त्स्यामि' इस उदात्त-स्वर-युक्त क्रिया के मध्य में 'अरवम्' शब्द का व्यवधान है।

७. राजर्षि भर्तृहरि ने 'ब्रजानि देवदत्त' इस उदाहरण में आमन्त्रित 'देवदत्त' को सर्व-निघात कहा है, क्योंकि यह आमन्त्रित क्रिया का विशेषक है^३।

१. उदात्तात्त्वामन्त्रितादनन्तरम् (शुभा ६, १२) आमन्त्रिताद् आद्युदात्ताद् भ्राण्यात् न निहम्यते (धभा. १, १, २३)। २. एकान्तरादपि (शुभा. ६, १३)।

३. संघो रनपद् यच्च तन् क्रियाया विशेषकम्।

ब्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सन्ति ॥ (वाक्यपदीय २, ५)

षष्ठ अध्याय

वैदिक-संहिताओं में विविध स्वर-चिह्न

संहिता तथा ब्राह्मणों में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरो के चिह्न भिन्न भिन्न हैं। सामान्य-रूप से संहिता-स्वरित का चिह्न अक्षर के सिर पर ऊर्ध्व-रेखा (।) है। किसी वेद-शाखा में यही चिह्न स्वरित स्वर का परिचायक न होकर उदात्त-स्वर का बोधक है। ऐसे ही सामान्यतः अक्षर के नीचे पढ़ी रेखा (-) अनुदात्त-स्वर की परिचायक है। परन्तु शतपथ ब्राह्मण में यही रेखा (-) उदात्त-स्वर की बोधक है। किसी वेद-संहिता में अनुदात्त स्वर की परिचायक रेखा अक्षर के नीचे खड़ी रेखा (।) है। सामवेद के स्वर-चिह्न सबसे निराले हैं। जब तक सम्पूर्ण स्वर-चिह्नों का यथार्थ ज्ञान न हो जाय किसी वेदाभ्यासी के लिए स्वरपूर्वक वेद पाठ दुष्कर है। अतः इस प्रकरण में विविध स्वर-चिह्नों पर विचार किया जाता है। उदात्त और अनुदात्त का विषय थोड़ा होने से मुख्य रूप से उन्हीं दोनों स्वरो के चिह्नों का इस प्रकरण में विचार है। स्वरित-चिह्नों का विचार स्वरित प्रकरण (दशम अध्याय) में देखें।

१. ऋग्वेद, शुक्ल-यजुर्वेद की दोनों शाखायें (माध्यन्दिनी और काण्व) कृष्ण-यजुर्वेद (तैत्तिरीय-शाखा) अथर्व-वेद (शौनक-शाखा), तैत्तिरीय-ब्राह्मण और तैत्तिरीय-आरण्यक—इस सब वेद-राशि में (क) उदात्त-स्वर का चिह्न अनुदात्त (सन्नतर) अक्षर के अनन्तर-पर में बिना रेखा का (रेखा-शून्य) अक्षर है (पृष्ठ ११-१२ पर विचार देखें)।

(ख) मन्त्र के या अर्धर्च के आदि में वह रेखा-शून्य अक्षर उदात्त है जिसके उत्तरवर्ती अक्षर पर ऊर्ध्वरेखा (।) का स्वरित चिह्न वर्तमान होगा। जैसे—'अग्नें वनपते' (मा २, २८) इस मन्त्र के प्रारम्भ में 'अग्नें' शब्द है। उत्तरवर्ती 'ग्नें' अक्षर पर स्वरित का चिह्न है। पूर्व अक्षर रेखा-शून्य 'अ' उदात्त है।

(ग) ऐसे दो रेखा-शून्य अक्षर भी उदात्त हैं जिनके मध्य में पढ़ी हुई (-) अनुदात्त-रेखा से युक्त अक्षर विद्यमान होगा। जैसे—'अग्नृ ऋषादि' (श्रु ६, १६, १०) इस संहिता-पाठ में 'ग्नृ' के पूर्ववर्ती 'अ' और उत्तरवर्ती 'ष्वा' दोनों उदात्त हैं। दो अनुदात्त अक्षरों के मध्यवर्ती रेखा-शून्य अक्षर भी उदात्त होते हैं। जैसे—'गृणानो

हृष्यदांतये' (ऋ. ६, १६, १०) इस संहिता-पाठ में 'गृणो' का अन्तिम उदात्त 'नो' पूर्ववर्ती अनुदात्त 'ण' और उत्तरवर्ती 'हृ' अनुदात्त दोनों के मध्यवर्ती होने के कारण उदात्त है। 'हृष्यदांतये' में 'ष्य' उदात्त है।

(घ) यदि अनुदात्त रेखा वाले पूर्व अक्षर और स्वरित-रेखा वाले उत्तरवर्ती अक्षर के मध्य में दो रेखा शून्य अक्षर हों तो दोनों उदात्त होंगे। जैसे—'अचातदुच्छ' (ऋ. १, ११३, १७) इस संहिता-पाठ में अनुदात्त 'अ' और स्वरित 'दु' के मध्यवर्ती 'चात' दोनों अक्षर उदात्त हैं। ऐसे ही मध्यवर्ती तीन अक्षर भी उदात्त हो सकते हैं। यह चारों नियम संहिता-पाठ में उपलब्ध होंगे। पद-पाठ में (क) और (ख) ही नियम मिलेंगे।

२. मैत्रायणी-शाखा, काठक-शाखा (कृष्ण-यजुर्वेद) और अथर्व वेद की पैप्पलाद-शाखा में उदात्त का चिह्न अक्षर के सिर पर ऊर्ध्व रेखा (।) है। यथा—'अं तद्विष्णु' (मै. १, २, ६)। चिंति सुक् (काठ ६, ८)। विश्वे देवास. (पै. २, १६, ४) सब ऊर्ध्व-रेखा वाले उदात्त हैं। ऋग्वेद आदि ग्रन्थ-राशि में जो ऊर्ध्व-रेखा वाला चिह्न संहिता-स्वरित का था, वह चिह्न इन शाखाओं में उदात्त का है। और मैत्रायणी और काठक (स्योडार संस्करण में) अनुदात्त का चिह्न रेखा-शून्य अक्षर है। पैप्पलाद-शाखा में अनुदात्त का चिह्न अनुदात्त-अक्षर के नीचे खड़ी रेखा (।) है। यथा—'देवानां भद्रां सुमतिर्कृण्वताम्' (पै. २, ३०, १) यहाँ खड़ी रेखा (।) अक्षर के सिर पर उदात्त का चिह्न, नीचे खड़ी रेखा अनुदात्त का और विन्दु () संहिता-स्वरित का सूचक है (यही विन्दु का चिह्न मैत्रायणी-पदपाठ में अवग्रह का सूचक है)। जिस पर कोई चिह्न नहीं, वह एक-श्रुति है। स्पष्टीकरण के लिए यही मन्त्र ऋग्वेद में यों है—'देवानां भद्रां सुमतिर्कृण्वताम्' (ऋ. १, ८६, २)। यद्यपि काठक-संहिता के मूल-कोशों में कहीं-कहीं नीचे खड़ी रेखा वाले अनुदात्त का संकेत मिलता है, परन्तु मुद्रित संस्करणों में नहीं है।

३. साम-वेद (कौथुम-शाखा) में अनुदात्त उदात्त और स्वरित के सामान्य रूप से चिह्न क्रम से अक्षर के ऊपर ३, १, २ सरचाए हैं। अनुदात्त (३) उदात्त (१) और स्वरित (२)। जैसे—^३यत्तये, ^३बर्हिषि (की १, १) ऋग्वेद (६, १६, १०) के पाठ में स्वर-संकेत यह होगा—^३यत्तये, ^३बर्हिषि ।

४. साम-वेद में यदि अव्यवधान से अनेक उदात्त अक्षर हों तो पहले उदात्त अक्षर पर ही १ संख्या का चिह्न लगेगा। जैसे—
'^३र^१पा^१हं^१ तद्^३ आ' (की. १, २०७) यहां '^{३१}रपाहंम' शब्द अन्तोदात्त है, इसी लिए '^१हंम' के सिर पर १ संख्या का निर्देश है। इसके अव्यवहित उत्तरवर्ती 'तद् आ' दोनों उदात्तों का उससे बोध हो गया, इस लिए इन पर संख्या का संकेत नहीं।

५. यदि उदात्त या स्वरित अक्षर से पूर्व अनेक अनुदात्त हों तो सब पर ३ संख्या का चिह्न नहीं लगेगा, बल्कि उदात्त या स्वरित से अव्यवहित पूर्व अनुदात्त (सन्नतर) पर ही ३ संख्या का चिह्न लगेगा। जैसे—समुद्रं (की. १, ११७) में 'द्रं' इस उदात्त से पूर्व 'समु' यह दो अनुदात्त हैं। किन्तु ३ का चिह्न 'मु' पर ही है।

६. साम-वेद में अनेक अव्यवहित उदात्तों के अनन्तर ऐसा अनुदात्त अक्षर विद्यमान हो, जिसके अनन्तर-पर में उदात्त अक्षर हो, तो उन अनेक अव्यवहित उदात्तों के प्रथम अक्षर पर उदात्तत्व-सूचक (२३) यह चिह्न लगाया जाता है। जैसे—'^{३२३}वसं^३ न धे^{३१२}नव' (की. १, १४६)। यहां 'सं न' इन दोनों उदात्तों के अनन्तर 'धे' यह अनुदात्त है, और इसके आगे फिर 'न' यह उदात्त अक्षर है। इसलिए 'सं' के सिर पर (२३) का निर्देश है।

७. सामवेद में दो अनुदात्तों के मध्यवर्ती उदात्त अक्षर पर उदात्तत्व-सूचक चिह्न (२) संख्या लगती है। जैसे—'^{३१२}गृणानो^३ ह्यदा^३तये' (की. १, १) इस संहिता-पाठ में 'गृणान' यह अन्तोदात्त शब्द है, उत्तरवर्ती 'ह्यदातये' का आद्यक्षर 'ह' अनुदात्त है, 'ण' और 'द' इन दो अनुदात्तों के मध्य-पतित 'नः' यह उदात्त-अक्षर 'नः' इस संख्या में परिवर्तित हो जावेगा।

८. साम-वेद में यदि मन्त्र के अन्त में स्वरित से पूर्व अनुदात्त अक्षर होगा, तो उस पर ३ के स्थान में ३क का निर्देश होगा। जैसे—^{३३३}गनुष्येभिः (की. १, ७१), ^{३क ३२}उरुष्यम् (की. २, १११६) इन उदाहरणों

में क्रम से 'व्ये' और 'व्ये' दोनों स्वरित हैं। मन्त्र के अन्त में होने से उन पर स्वरित का चिह्न २२ लगा है। उनके पूर्ववर्ती अनुदात्त 'उ' और 'उ' पर ३ संख्या के स्थान में ३क अनुदात्त का चिह्न है।

६. साम-वेद में मन्त्र के अन्त में उदात्तत्व-सूचक चिह्न (२) संख्या लगती है। जैसे—व्यम (कौ. १, १४)। यह अन्तोदात्त शब्द मन्त्र के अन्त में पठित है। इसलिए 'म' पर (२) संख्या का चिह्न है।

१०. साम-वेद में मन्त्र के अन्त में अनेक अव्यवहित उदात्तों का ज्ञान कराने के लिए सबसे पहले उदात्त अक्षर पर (२) संख्या का चिह्न लगेगा। जैसे—महो हि पः (कौ. २, ६६) यहां मन्त्रान्त में 'हि, पः' दोनों उदात्तों का ज्ञान कराने के लिए पूर्ववर्ती उदात्त 'हो' के सिर पर (२) संख्या का चिह्न है।

११. शतपथ-ब्राह्मण (माध्यन्दिन तथा काण्व) में उदात्त का चिह्न उदात्त अक्षर के नीचे पड़ी (-) रेखा है (जो चिह्न अन्यत्र अनुदात्त का है)। इस ब्राह्मण-शाखा में अनुदात्त का कोई चिह्न नहीं है। किसी शब्द में अक्षर के नीचे लगाई गई यह पड़ी (-) रेखा उदात्त अक्षर का ज्ञान करायेगी। जैसे—श्रोचर्णाध्वंशुंरादत्ते (माश. १, ३, ३, १) यहां 'श्रो' और 'आ' दोनों उदात्त अक्षर हैं।

१२. शतपथ-ब्राह्मण में जहां अव्यवहित अनेक उदात्त इकट्ठे पड़े हों। वहां सबसे अन्तिम अक्षर के नीचे ही उदात्तत्व-सूचक पड़ी (-) रेखा लगेगी। (स्मरण रहे साम-वेद में इसके विपरीत अनेक अव्यवहित उदात्तों के ज्ञान के लिए सबसे पहिले अक्षर पर १ संख्या लगती है)। जैसे—स आदत्ते (माश. ४, ३, ३, ६) अग्निमादत्ते (माश. ४, ६, १, ४) अप्पशुंरादत्ते (माश. १, ३, ३, १) इन सब स्थलों में क्रमशः 'आ' उदात्त पूर्ववर्ती उदात्त 'सः' का, 'आ' उदात्त पूर्ववर्ती उदात्त 'अग्नि' का, 'आ' उदात्त पूर्ववर्ती उदात्त 'शुं' का ज्ञान करा रहा है। यही न्याय अव्यवहितपूर्ववर्ती तीन या चार उदात्त अक्षरों में भी चलता है।

१३. शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त-स्वर के निर्देश में एक विशेषता यह भी है कि यदि अग्निमादत्ते का आदि अक्षर उदात्त है तो पूर्ववर्ती ब्राह्मण के अन्त में उदात्त अक्षर के नीचे उदात्तत्व का ज्ञान कराने

के लिए (...) ऐसी नीचे पड़ी हुई तीन विन्दुएं लग जाती हैं। जैसे—माश. १,२,४,७-८ में 'समिद्धि वसन्तः । अथाभ्याघ्राय जपति' यह दो ब्राह्मण हैं। दूसरे ब्राह्मण के आदि में 'अ' के नीचे उदात्त-चिह्न है। उसके पूर्व ब्राह्मण-समाप्ति-सूचक पूर्ण-विराम (।) है। और उसके पूर्ववर्ती 'वसन्तः' इस अन्तोदात्त शब्द के 'न्त' के नीचे ब्राह्मण के अन्त में उदात्तत्व सूचक (...) नीचे पड़ी तीन विन्दुएं हैं (वेवर-संस्करण देखें)। यहीं पर 'समिद्धि' (समित्, हि) शब्द में 'हि' के नीचे उदात्त का चिह्न है। और इस एक चिह्न से पूर्ववर्ती 'समित्' शब्द के अन्तिम 'मित्' के उदात्त का बोध हो जाने के कारण 'मि' के नीचे उदात्तत्व-सूचक चिह्न लगाने की आवश्यकता नहीं समझी गई है।

सप्तम अध्याय

एकश्रुति प्रकरण

[१ एक-श्रुति का महत्त्व, २ स्वर-संज्ञा प्रकार]

१. एक-श्रुति का महत्त्व

स्वर-संज्ञा की सामग्री पद-पाठ में भी मिल जाती है। संहिता-पाठ में विशेष ध्यान देने योग्य एक-श्रुति है। (आगामी उदात्त की श्रुति तक) स्वरित से अनन्तरपरवर्ती सम्पूर्ण अनुदात्तों को संहिता-पाठ में एक-श्रुति कहते हैं^१। उर्ध्व-रेखा वाले स्वरित चिह्न से आगे सपूर्ण रेखा-शून्य अक्षर एक-श्रुति कहलाते हैं। जब तक आगे रेखा-शून्य उदात्त अक्षर उपस्थित न हो, एक-श्रुति का ही अधिकरण चलता है। परन्तु रेखा शून्य एक-श्रुति से रेखा शून्य उदात्त अक्षर का भेद बताने के लिए रेखा-शून्य उदात्त अक्षर से अनन्तर पूर्व के अक्षर के (यथार्थ में यह अक्षर एक-श्रुति का ही अङ्ग है, किन्तु व्याकरण के नियम के अनुसार आगामी रेखा-शून्य उदात्त अक्षर के या उर्ध्व-रेखा वाले स्वरित अक्षर के कारण इसको सन्नतर या अनुदात्ततर कहा जाता है^२, और उसका चिह्न नीचे पड़ी अनुदात्त की रेखा है) नीचे अनुदात्त की नीचे पड़ी रेखा अवश्यम्भावी है। यही अनुदात्त-रेखा रेखा-शून्य एक-श्रुति तथा रेखा-शून्य उदात्त के मध्य में विच्छेदक रेखा है।

संहिता-पाठ के निर्माण के लिए पहले पद-पाठ के प्रथम पद 'भृगिन्म्' के अन्तिम 'गिन्म्' तथा दूसरे त्रिया-पद 'इंले' के आद्य अक्षर 'इं' का स्वर देखिये। 'गिन्' अक्षर अनुदात्त-रेखा वाले 'अ' के अनन्तर रेखा शून्य उदात्त है। आगे 'इं' 'इंले' त्रिया का प्रथम अक्षर अनुदात्त है। संहिता-पाठ में 'इंले' त्रिया का यही आद्य अनुदात्त 'इं' अक्षर स्वरित में बदल जायेगा। क्योंकि व्याकरण के नियम से उदात्त अक्षर के अनन्तरपरवर्ती अनुदात्त अक्षर को स्वरित हो जाता है^३। अथ पद-पाठ का भृगिन्म्। इंले

१. स्वरितान् संहितापामनुदात्तानम् (पा १ २, ३६)। २. उदात्तस्वरित पास्य सन्नतर (पा १, २, ४०)। ३. उदात्ताननुदात्तस्वरित (पा ८, ४, ६६)।

इतना वाक्य संहिता-पाठ में अग्निमीळे (ऋ. १, १, १) इस स्वरूप में परिवर्तित हो गया। 'अग्निमीळे' इस संहिता-पाठ के साथ अथ पद-पाठ के तीसरे पद 'पुरःऽहितम्' को जोड़ना है। क्योंकि 'पुरःऽहितम्' के आद्य अक्षर 'पु' के नीचे अनुदात्त-रेखा का चिह्न उसके अनन्तर-परवर्ती रेखा-शून्य उदात्त अक्षर 'रः' का बोधक है, इसलिए 'अग्निमीळे' इस संहिता-पाठ में 'मी' इस ऊर्ध्व-रेखा वाले स्वरित अक्षर से अनन्तर श्रूयमाण रेखा-शून्य 'ले' अक्षर एक-श्रुति कहलायेगा। इसी प्रकार 'पुरःऽहितम्' शब्द में 'तम्' यह रेखा-शून्य अक्षर एक-श्रुति है, क्योंकि ऊर्ध्व-रेखा वाले 'हि' स्वरित अक्षर के परवर्ती है। अथ हम पद-पाठ के अथग्रह चिह्नों को हटाकर अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम्। इस पद-पाठ का संहिता-पाठ 'अग्निमीळे पुरोहितम्' ऐसा पढ़ेंगे।

यदि संहिता-पाठ के पाद के आदि में ही उदात्त (रेखा-शून्य) अक्षर है, तो उसके पूर्व अनुदात्त (सन्नतर) की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ प्रथम उदात्त अक्षर के अनन्तरपरवर्ती अनुदात्त अक्षर को भी उसी स्थिति में ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित होगा, यदि उस अनुदात्त के आगे पुनः रेखा-शून्य उदात्त न आ रहा होगा। अन्यथा पूर्व अक्षर उदात्त, दूसरा अक्षर अनुदात्त और तीसरा अक्षर फिर उदात्त यही स्वरों का क्रम चलेगा। जैसे—'धनुः श्वाहाहि वीतये' (ऋ. ६, १६, १०) इस संहिता-पाठ में प्रथम अक्षर 'अ' उदात्त है। कारण आद्युदात्त आमन्त्रित पद है। यदि 'अने' के अनन्तर पर में 'घा' यह फिर उदात्त अक्षर न आता तो प्रथम आद्युदात्त 'घ' अक्षर के बाद 'न' अनुदात्त अक्षर अवश्य स्वरित होता, और उसके ऊपर स्वरित की रेखा (') रेखा होती। जैसे पद-पाठ में 'अने' इस निर्देश में स्पष्ट है। इसके विपरीत हम संहिता-पाठ में 'न' के बाद 'घा' यह उदात्त अक्षर आ रहा है, इस लिए स्वरित का संकेत ऊर्ध्व-रेखा न लगा कर सन्नतर (अनुदात्त) की सूचक पड़ी रेखा 'नु' के नीचे लगी हुई है। आगे 'घा' उदात्त के कारण 'वाहि' क्रिया का प्रथम अक्षर 'वा' स्वरित, और 'हि' एक-श्रुति है। 'वीतये' में क्रम से अनुदात्त उदात्त स्वरित वर्तमान है।

तात्पर्य यह कि संहिता-पाठ हो या पद-पाठ ऊर्ध्व-रेखा वाले स्वरित अक्षर के पश्चात् और सन्नतर (अनुदात्त) के निर्देशक अनुदात्त-

रेखाङ्कितअक्षर से पूर्व तक जो भी रेखा-शून्य अक्षर होंगे, एक-श्रुति कहलावेंगे। पृष्ठ ११-१२ में भी लिखा जा चुका है।

२. स्वर-संचार-प्रकार

(संहिता-पाठ में अनुदात्त, उदात्त, स्वरित और एक-श्रुति (प्रचय) की अनुस्यूत स्वर-शृङ्खला के ज्ञान की सुविधा के लिए स्वर-संचार का प्रकार शाकल्य-शैली से जान लेना चाहिए।

१. संहिता-पाठ या पद-पाठ में अक्षर के नीचे पढ़ी हुई रेखा

(-) अनुदात्त की सूचक होती है।

२. अनुदात्त (सन्नतर) के अनन्तर रेखा-शून्य उदात्त अक्षर होगा।

३. यदि किसी पाठ में दो या तीन अक्षरों वाला सर्वानुदात्त शब्द है, उसका मूढिति ज्ञान संहिता-पाठ में न होकर पद-पाठ में सुगम होगा। जैसे—'त्वा शतक्रतोऽभि प्रणोनुवुः' (श्रु. ६, ४५, २५) इस संहिता-पाठ में रेखा-चिह्न के आधार पर सर्वानुदात्त शब्द की इयत्ता का तुरन्त ज्ञान नहीं होता। जब खा। शतक्रतो इनि शतसुक्रतो। अभि। प्र। नोनुवुः। ऐसा पद-पाठ करते हैं तो अनुदात्त की इयत्ता का ज्ञान हो जाता है कि जिन जिन के नीचे पढ़ी रेखा (-) है, वह सब अनुदात्त अक्षर हैं, और अनुदात्त-चिह्न से युक्त अक्षरों के पश्चान् जो रेखा-शून्य अक्षर हैं, वे उदात्त हैं। और उदात्त अक्षर के अनन्तर यदि कोई ऊर्ध्व-रेखा (') वाला अक्षर उपलब्ध है तो वह स्वरित है। यहाँ 'खा' अनुदात्त, 'शतक्रतो' अनुदात्त, 'अभि' का 'अ' अनुदात्त, 'भि' उदात्त, 'प्र' उदात्त और 'नोनुवुः' यह सारी क्रिया अनुदात्त है। परन्तु यह अनुदात्तों की इयत्ता का अनुगम पद-पाठ में ही संभव है, संहिता-पाठ में नहीं। संहिता-पाठ में तो उदात्त अक्षर के अनन्तर-भाषी अनुदात्त को संहिता-स्वरित होते ही स्वरित-सूचक रखी रेखा (') के अनन्तरपर्यन्त सभी अनुदात्त एक-श्रुति के अङ्ग बन जाते हैं, और उनकी स्थिति का तब तक ज्ञान नहीं होता, जब तक आने वाले उदात्त अक्षर को घतनाने के लिए उदात्त अक्षर से पूर्ववर्ती अनुदात्त के नीचे पढ़ी रेखा (-) का संकेत उपलब्ध न हो। जैसे उक्त मन्त्र के 'त्वा शतक्रतो' इतने एव-भूति यने हुए अनुदात्त अक्षरों का ज्ञान तभी संभव है, जब कि आगामी 'भि' उदात्त का घोष कराने के लिए अभिनिहित (पूर्वरूप) संधि में 'तो' के नीचे अनुदात्त (सन्नतर) का चिह्न दृष्टिगोचर हो रहा है।

४. रेखा-शून्य उदात्त अक्षर के पश्चात् संहिता-पाठ में ऊर्ध्व-रेखा (१) वाला अक्षर स्वरित होगा। ऊर्ध्व-रेखा वाले स्वरित अक्षर के अनन्तर-परवर्ती समस्त रेखा-शून्य अक्षर एक-श्रुति कहलाते हैं।

५. उदात्त और स्वरित (जात्य-स्वरित तथा संधि-स्वरित) के पूर्व अनुदात्त (सन्नतर) की (-) रेखा रहना अत्यावश्यक है। जात्य-स्वरित से पूर्व अनुदात्त रेखा का उदाहरण—धीर्यम् (ऋ. १०, ६७, २१) है, और संधि-स्वरित से पूर्व अनुदात्त रेखा का उदाहरण—यामि-व्यंश्म (ऋ. १, ११२, १५) है। दोनों ही स्थलों पर स्वरित की ऊर्ध्व-रेखा से पूर्व अनुदात्त (सन्नतर) की रेखा है।

६. संहिता-स्वरित से पूर्व रेखा-शून्य उदात्त होना अनिवार्य है।

७. समस्त या अ-समस्त शब्द में एक ही अक्षर उदात्त या स्वरित (जात्य तथा संधि-स्वरित) होगा। शेष सभी अक्षर अनुदात्त होंगे।

८. यदि कोई दो अक्षर वाला आद्युदात्त शब्द है, तो पहला अक्षर रेखा-शून्य उदात्त और दूसरा अक्षर ऊर्ध्व-रेखा (१) से युक्त स्वरित होगा। जैसे—अर्ध्वन् (ऋ. १, ३७, १३) शब्द में दो ही अक्षर हैं।

९. यदि तीन अक्षरों वाला आद्युदात्त शब्द है तो पहला रेखा-शून्य उदात्त, दूसरा ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित, तीसरा रेखा-शून्य अक्षर एक-श्रुति होगा। जैसे—'अर्ध्वनः' (ऋ. १, ४२, १)।

१०. यदि तीन अक्षरों वाला मध्योदात्त शब्द है तो पहला अक्षर नीचे मढ़ी रेखा (-) से युक्त अनुदात्त, दूसरा रेखा-शून्य अक्षर उदात्त, तीसरा ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित होगा। जैसे—'अस्माकम्' (ऋ. १, ७, १०)।

११. यदि चार अक्षरों वाला ऐसा शब्द है जिसका दूसरा अक्षर उदात्त है, तो पहला अक्षर अनुदात्त, दूसरा रेखा-शून्य उदात्त, तीसरा ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित और चौथा रेखा-शून्य अक्षर एक-श्रुति होगा। जैसे—अस्माकामः (ऋ. १, ६७, ३) अस्माकमिः (ऋ. १, १००, ६) पूरुमादिशम् (ऋ. १, १३९, १०) इत्यादि।

१२. यदि मध्योदात्त शब्द चार अक्षरों वाला है और उसका तीसरा अक्षर उदात्त है, तो पहले दो अक्षरों के नीचे अनुदात्त-रेखा, तीसरा उदात्त और चौथा ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित होगा। जैसे—अग्निर्गन् (ऋ. ३, ५२, १) परन्तु यह स्थिति पद-पाठ में मिलेगी संहिता-पाठ में नहीं।

१३. यही स्थिति पांच अक्षरों वाले शब्द की होगी, यदि उसका तीसरा अक्षर उदात्त होगा। इसमें पांचवां अक्षर एक-श्रुति हो जाएगा। जैसे—कृणुंशोभना (ऋ. ८, ७८, ३)।

१४. यदि छः अक्षरों का शब्द हो और चौथा अक्षर उदात्त हो तो पहले तीन अक्षरों के नीचे अनुदात्त की रेखा, चौथा रेखा-शून्य अक्षर उदात्त, पांचवां ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित और छठा रेखा-शून्य एक-श्रुति। जैसे—पद-पाठ में 'गुतुंआरर्गिवा' (ऋ. १, १२४, ७)।

१५. यदि शब्द अन्तोदात्त है तो अन्तिम रेखा-शून्य उदात्त अक्षर से पूर्ववर्ती एक, दो या अधिक अक्षरों के नीचे पद-पाठ में अनुदात्त-रेखा का चिह्न होगा। जैसे—अर्वाः (ऋ. ३, ५४, १४) अण्वम् (ऋ. १, १६, ७) आऽद्वाऽशम् (ऋ. १०, ११४, ६) आऽतिऽयुतः (ऋ. १, ६६, १)।

१६. तिङन्त क्रियाएं प्रायः सर्वानुदात्त होती हैं। जैसे—विद्यते (ऋ. १०, ६४, २) विन्दन्ति (ऋ. १, १०५, १) आदि।

१७. यदि क्रिया के किसी भी अक्षर पर उदात्त है तो शेष अक्षरों पर पूर्व प्रक्रिया के अनुसार चिह्न निर्देश होगा। जैसे—आऽजुहोति (ऋ. ७, १, २३) आऽज्जगाम (ऋ. १०, २८, १) आदि।

१८. आमन्त्रित शब्द प्रायः सर्वानुदात्त होंगे। जैसे—कुशिकः (ऋ. ३, ५३, १०) नासुया (ऋ. १, ३४, ७) आदि।

१९. यदि आमन्त्रित शब्द आद्युदात्त है तो पहला अक्षर उदात्त, दूसरा स्वरित, शेष एक-श्रुति। जैसे—इन्द्रावरणा (ऋ. १, १७, ३) आदि।



अष्टम अध्याय

उदात्त-प्रकरण

[१. उदात्त-परिभाषा, २. सति-शिष्टस्वर, ३. तिङन्त-स्वर, L(क) विकरण-भेद से नौ गणों की निष्पत्ति, (ल) शिजन्तादि-स्वर, (ग) लसर्व-धातुक-स्वर, (घ) आर्षधातुक-स्वर] ४. उदात्त-स्वर, ५. आद्युदात्त-स्वर, ६. आद्युदात्तस्वर-विधायक नियम, ७. मध्योदात्त-स्वर, ८. अन्तोदात्त-स्वर, ९. विभक्ति-स्वर, १०. समाप्त-स्वर, ११. नञ्-स्वर, १२. सु-स्वर, १३. आद्यन्त-उदात्त-स्वर, १४. द्वि-उदात्त-स्वर, १५. त्रि-उदात्त-स्वर ।]

१. उदात्त-परिभाषा

उदात्त-प्रकरण प्रारम्भ करने से पूर्व अत्यावश्यक सामान्य परिभाषाओं पर विवेचन कर लेना चाहिए—

१. उदात्तस्वर-युक्त शब्द कई प्रकार के हैं । (१) उदात्त, (२) आद्युदात्त, (३) मध्योदात्त, (४) अन्तोदात्त, (५) आद्यन्तोदात्त, (६) द्वि-उदात्त, (७) त्रि-उदात्त । इनमें शब्द के जिस अक्षर पर उदात्त या स्वरित का चिह्न होगा, उससे अतिरिक्त समस्त अक्षर अनुदात्त होंगे^१ । इस परिभाषा की आवश्यकता एकाक्षर शब्दों के अतिरिक्त संपूर्ण शब्दों में आदि, मध्य या अन्त में उदात्त-स्वर की व्यवस्था करने के लिए है । और उदात्त-स्वर की व्यवस्था होने के पश्चात् शब्द के शेष अक्षर स्वतः अनुदात्त होंगे ।

व्याकरण-महाभाष्य के अनुसार आगम, विकार (आदेश), प्रकृति (धातु) तथा प्रत्यय के स्वरों की व्यवस्था के लिए इस परिभाषा की आवश्यकता है^२ । यथा—आगम-स्वर—चतुर् शब्द का प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'पुस्वार्ः' (श्रु. १, १२२, १५) रूप बनता है । जो कि चतुर् शब्द के अन्तिम स्वर 'ठ' को आम-आगम करके निष्पन्न होता है, यह 'भाग' आगम उदात्त होता है^३ । आगम-

१. 'अनुदात्तं पश्मेक्यतीम्' (पा. ६, १, १५८) ।

२. 'आगमस्य विकारस्य प्रकृतेः मध्यस्य च ।

पृषद्व्यानिपृषधर्मैक्यत्तं पदस्यार्ः' ॥ (महाभाष्य ६, १, १५८) ।

३. 'अनुदात्तद्विहोतामुदात्तः' (पा. ७, १, १८) ।

नियम के अनुसार मित् (जिसमें 'म' की इत्संज्ञा हो रही हो) आगम शब्द के अन्तिम स्वर के बाद उसका अवयव होकर होता है^१, इस लिए 'चतुर्' शब्द से चत्वारि सिद्ध होने की साध्यावस्था चतु+आम्+रु+अस् > (अनुबन्ध-लोप के पश्चात्) चतु+आ+रु+अस् > (यण्-सधि से) चत्+आ+रु+अस् = चत्वारि होगी। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि 'चतुर्' शब्द स्वतन्त्र था और उसका आद्युदात्त स्वर था। क्योंकि 'चतेरन्' (उणादि ५,५८) सूत्र से √चत् धातु से 'डान्' प्रत्यय होकर मित्-स्वर (इसी प्रकरण में आगे दें) से 'चतुर्' शब्द आद्युदात्त निष्पन्न हुआ है। पश्चात् उससे प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में उदात्त 'आम्' आगम हुआ। अब एक ही 'चवार' शब्द में आद्युदात्तत्व और मध्योदात्तत्व की प्राप्ति है। इस परिभाषा के अनुसार 'चतुर्' प्रकृति के आद्युदात्तस्वर की अपेक्षा मध्योदात्तत्व विधायक 'आम्' आगम का स्वर बलवान् है, अतः 'चत्वारि' में आगम का स्वर माना जाता है और शेष अक्षर अनुदात्त होते हैं, तथा 'त्वा' उदात्त के बाद अनुदात्त 'र' स्वरित हो जाता है। ऐसे ही 'चत्वारि' (श्रु. १, १६४, ४५) है। विकार-स्वर—यथा—'अस्थि' शब्द आद्युदात्त है, जो 'अस्तिअग्न्या क्विन्' (उणादि ३, १५४) के नियम से (√अस्+क्विन्) निष्पन्न हुआ है, और पूर्ववत् मित्-स्वर से आद्युदात्त है। 'अस्थि' शब्द के कृतीया विभक्ति के परुवचन (अस्थि+आ) में अस्थि के अन्त्यावयव 'इ' के स्थान में 'अन्' आदेश (विकार) उदात्त हुआ है^२, जो कि अस्थ्+अन्+आ > अस्थ्+अन्+आ > अस्थन्+आ = 'अस्थान्' (ते. ६, ५, २, २) रूप में परिणत हो गया है। यहाँ भी 'अस्थि' शब्द का अपना आद्युदात्त-स्वर रहे या विकार (आदेश) 'अन्' का उदात्त-स्वर रहे, इस विवाद में परिभाषा की व्यवस्था से विकार-स्वर से अन्तोदात्तत्व की व्यवस्था होती है, और शेष 'म' अनुदात्त होता है।

प्रकृति-स्वर—यथा—शोषायन्ति (श्रु. १०, १५४, ५)। यह रूप √शुप् 'रक्षणे' धातु से स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय^३ करके आयन्त प्रकृति

१. 'मिदृषोऽन्त्यात्वा' (पा. १, १, ४३)।
२. 'अस्थिअधिसाध्यामननुदात्त' (पा. ७, १, ७५)।
३. 'शुप्पविन्प्रविपन्त्य आय' (पा. ३, १, २८)।

को धातु मान कर^१ उससे प्रथम पुरुष के षट्पदान में सिद्ध हुआ है। यहाँ प्रथम √गुप् धातु धातु-स्वर^२ (आयन्तवद्भाव से) से अन्तोदात्त है। √गुप् धातु से स्वार्थ में 'गाय' प्रत्यय हुआ तो प्रत्यय-स्वर^३ से आय-प्रत्यय को आयुदात्तत्व प्राप्त है, फिर 'गोपाय' इस आयन्त शब्द को धातु-संज्ञा होने पर 'गोपाय' इस प्रकृति को धातु-स्वर से अन्तोदात्तत्व प्राप्त है, भाव यह कि मूल धातु के स्वर से 'गोपाय' आयुदात्त, आय-प्रत्यय के स्वर से 'गोपाय' मध्योदात्त और आयन्त शब्द की धातु-संज्ञा करके 'गोपाय' अन्तोदात्त प्राप्त है। तीनों स्वरों की व्यवस्था के लिए 'सति-शिष्टस्वरायलीयस्वम् अन्यत्र विवरणेनः' इस परिभाषा की आवश्यकता हुई। जिसका तात्पर्य यह है कि शब्द में एक स्वर के व्यवस्थित होने पर (सति) जो शेष वचे उसका स्वर बलवान् होता है (शिष्टस्वर-बलीयस्वम्) अर्थात् धातु-स्वर से प्रत्यय-स्वर बलवान् होता है, क्योंकि धातु-स्वरूप के उपपन्न होने पर ही उससे प्रत्यय होता है। धातु-स्वर का शेष प्रत्यय-स्वर है और प्रत्यय-स्वर होना चाहिए, परन्तु आयन्त-प्रकृति की धातु-संज्ञा दोनों की अपेक्षा सति-शिष्ट है, इसलिए 'सति-शिष्टस्वरायलीयस्वम्' के नियम से 'गोपाय' धातु का अन्तोदात्तत्व स्वर धातु-स्वर से व्यवस्थित हो जाता है, और शेष 'गोपा' अक्षर अनुदात्त होते हैं तथा स्वरित-प्रक्रिया से 'न्ति' स्वरित। ऐसे ही 'गोपायवम्' (श्रु. ६, ७४, ४) आदि हैं।

प्रत्यय-स्वर—यथा—कर्तुन्वम् (माश. १, २, ५, ११) यह मध्योदात्त शब्द शतपथ-ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। 'कर्तुन्वम्' (तै. १, ५, २, ४) यह स्वरितान्त शब्द अन्यत्र वेद में। इसी शब्द-भेद की उपपत्ति के लिए महर्षि पाणिनि ने 'स्यत्तव्यानीयः' (पा. ३, १, ६६) सूत्र बनाया है, जिस में तित् ('त्' की इत्संज्ञा वाला) होने से 'स्यत्' प्रत्यय से स्वरितान्त 'कर्तुन्वम्' शब्द की निष्पत्ति 'तित्स्वरितम्' (पा. ६, १, १८५) सूत्र से और 'तव्य' प्रत्यय से प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्त 'कर्तुन्वम्' शब्द की सिद्धि हो जाती है। दोनों ही स्थितियों में हैं दोनों प्रत्यय-स्वर ही। यह दोनों स्वर सति-शिष्टस्वर हैं, क्योंकि धातु-स्वर से √कृ धातु का

७. 'सनाद्यन्ता धातवः' (पा. ३, १, ३२)।

सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यद्-क्यपोऽथाऽऽचारकित्-खिज् यटौ तथा ।

यत्-आय-इयद्-खिद् वेति द्वादशाऽमी सनादयः ॥

८. 'धातोः' (पा. ६, १, १६२)। ९. 'आयुदात्तरच' (पा. ३, १, ३)।

अन्तोदात्तत्व-स्वर पूर्व में विद्यमान है। धातु-स्वर से √कृ का स्वर मान कर 'कर्त्तव्य' शब्द आद्युदात्त हो या प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्त या अन्त स्वरित। प्रकृत परिभाषा की सामर्थ्य से 'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वम्' की चरितार्थता होती है, और धातु-स्वर से प्रत्यय-स्वर बलवान् होकर मध्योदात्त तथा अन्त-स्वरित दोनों स्वर उपपन्न होते हैं। शेष अश अनुदात्त रहता है।

स्वरित का उदाहरण यथा—'वीर्येण' (आ २, ११, ५) है। 'वीर्ये' शब्द 'बिल्वमध्यगोर्वाणि छन्दसि' (फि० सूत्र ४, १) से अन्त-स्वरित है। 'र्ये' अक्षर के स्वरित व्यञ्जित होने पर उक्त परिभाषा सूत्र से शेष दोनों 'वी' और 'ण' अक्षर अनुदात्त हैं। 'वी' के नीचे आगामी स्वरित दिखाने के लिए सन्नतर की अवधि रेखा है और 'ण' एक-श्रुति रेखा-शून्य है। कुछ विवेचन पृष्ठ ८२ पर 'स्वर-संज्ञा प्रकार' प्रकरण में भी किया गया है।

२. उदात्त अक्षर के साथ उदात्त अक्षर का एकादेश हो तो उदात्त, उदात्त के साथ अनुदात्त का एकादेश हो तो उदात्त और उदात्त के साथ स्वरित का एकादेश हो तो भी उदात्त ही होता है। भाव यह कि उदात्त अक्षर के साथ किसी स्वर का भी एकादेश हो तो वह उदात्त ही होगा। इसके विपरीत काशिकाकार और स्वरमञ्जरीकार के मत में पूर्व-सूत्र 'उदात्तस्वरितवार्यण स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा. ८, २, ४) से इस प्रकृत सूत्र में 'अनुदात्तस्य' की अनुवृत्ति है, अतः उदात्त के साथ अनुदात्त के एकादेश का ही प्रकृत सूत्र विधायक है, अन्य के साथ नहीं, परन्तु उनका मत आगे प्रस्तुत किए जाने वाले वैदिक उदाहरणों से पुष्ट नहीं होता।

(५) उदात्त का उदात्त के साथ एकादेश उदात्त यथा—भूतार्थ शिषा (श्रु ४, ३७, ४)। इसका पद-पाठ 'भूतं। भर्षं उशिषा' है। पाद के आदि में होने से भू (लोट्-मध्यमपुण्य के बहुवचन) में आदेश 'त' का सति-शिष्टस्वर से प्रत्यय-स्वर श्रूयमाण है, और उस 'त' उदात्त के साथ अनन्तरवर्ती 'भर्षं उशिषा' शब्द के आदि 'भ' उदात्त का एकादेश होकर संहिता-पाठ में 'भूतार्थ शिषा' इस प्रकार दीर्घभूत 'ता' उदात्त है। ऐसे ही नीषायमानस (श्रु ४, ३८, ५) पदा, नीषा। भर्षमानस) भी है।

(ख) उदात्त का अनुदात्त के साथ एकादेश उदात्त-यथा—‘इहैवोव’ (शौ. ३, १४, ५ पपा. इह । एव । उत) । यहाँ पूर्व पूर्व उदात्त के साथ उत्तरोत्तर अनुदात्त की संधि में उदात्त हो रहा है । ‘उनासि’ (ऋ. ४, ३०, २२ पपा. उत । असि) यहाँ ‘उत्’ के अन्तोदात्त ‘त’ के साथ ‘असि’ अनुदात्त क्रिया के आद्यक्षर अनुदात्त ‘अ’ का दीर्घ एकादेश ‘ता’ उदात्त हुआ है । ‘देवाधा’ (ऋ. १, ११४, १० पपा. देव । अध) यहाँ तीसरे पाद के अन्त में स्थित सर्वानुदात्त आमन्त्रित ‘द्वि’ के अन्तिम अनुदात्त ‘व’ के साथ चौथे पाद के आदि ‘अध’ शब्द के उदात्त ‘अ’ का दीर्घादेश ‘वा’ उदात्त है । ‘विरुशोमम्’ (ऋ. ४, २०, २ पपा. विरुशो । इमम्) में दीर्घ एकादेश से ‘ई’ उदात्त है । दो इकारों के प्रक्षेप (संधि) में शाकल्य के मत में उदात्त पूर्व में हो तो अनुदात्त को स्वरित होता है, ऐसे ही सैप-संधि (यण्-संधि) तथा अभिनिहित (पूर्वरूप) संधि में भी^१ । जैसे—‘द्विवाँ चक्षुरावतम्’ (ऋ. १, २२, २०) यहाँ ‘द्वि+इव’ इस स्थिति में ‘इव’ सर्वानुदात्त के पूर्वावयव अनुदात्त ‘इ’ के साथ पूर्व-रिथत ‘द्वि’ के अन्त्यावयव उदात्त ‘वि’ की दीर्घ-संधि होकर ‘वी’ पर स्वरित का निर्देश है । कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा में यही मन्त्र है, परन्तु दीर्घ-संधि में स्वरित का निर्देश नहीं, प्रत्युत ‘वी’ उदात्त है । जैसे—‘द्विवाँ चक्षुरावतम्’ (तै. १, २, ६, २; ४, २, ६, ४) । यह तो शाखान्तर-कृत भेद है । ऋग्वेद में ही दीर्घ-संधि में जहाँ परवर्ती अनुदात्त दीर्घ ईकार के साथ पूर्ववर्ती ह्रस्व ‘इ’ उदात्त की संधि हो रही है स्वरित नहीं अपितु उदात्त की उपलब्धि होती है । जैसे—‘द्विवाँ च’ (ऋ. १, १३०, ४ पपा. द्वि । व) में ‘वी’ उदात्त है । इसके विपरीत ‘वीँ च ज्योतिर्हृदये’ (ऋ. ६, १, ६) में ‘वि’ का ‘इदम्’ के अनुदात्त ‘इ’ के साथ एकादेश ‘वी’ स्वरित है, और दीर्घ-कम्प का चिह्न वर्तमान है । एक ही वेद में कहीं दीर्घ-संधि उदात्त, कहीं स्वरित, क्या व्यवस्था हो, आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि दीर्घ ‘ई’ के साथ संधि में उदात्त^२, अन्यथा स्वरित । ‘स्वरितो वाऽनुदात्ते परादाँ’ (पा. ८, २, १) पद [उत्तरवर्ती शब्द] के आदि में स्थित अनुदात्त के साथ पूर्ववर्ती उदात्त का एकादेश विकल्प से स्वरित होता है, सूत्र का यह निष्कर्ष है ।

१. इकारपोरच प्रक्षेपे संमाभिनिहितेषु च ।

उदात्तपूर्वरूपे शाकल्यस्यैवमाचरेत् ॥ (ऋषा, ३, १३)

२. दीर्घप्रवेशे सूत्रात्: (सिद्धान्त कीमुदी) ।

३ उदात्त के साथ स्वरित के एकादेश में भी उदात्त तथा—
'कारं मस्त' (श्रु. १, १६८, ६ पपा कं। अवरम्) में 'कं' स्वरित के साथ
आद्युदात्त 'अवरं' शब्द के 'अ' का दीर्घ एकादेश होकर 'का' उदात्त
श्रूयमाण है।

४. अनुदात्त के साथ अनुदात्त के दीर्घ एकादेश में उदात्तत्व की
योग्यता नहीं, अत एकादेश भी अनुदात्त रहेगा। जैसे—'धासि'
(श्रु. ४, ३२, २ पपा. घ। असि)। यह प्रकृत सूत्र-नियम का प्रत्यु-
दाहरण है।

२. सति शिष्टस्वर

प्रसङ्गवशात् 'सति शिष्टस्वराबलीपस्त्वम् अन्यत्र विकरोग्य' इस परिभाषा
का भी स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। पहले बताया गया है
कि किसी स्वरूप के व्यवस्थित होने पर जो शेष बचे, उसका स्वर
बलवान् होता है (मति वच्छिद्यते तस्य स्वरस्य बलीपस्त्व भवति)। दूसरे
शब्दों में जो शेष बचता है उसका स्वर पूर्वसिद्ध-स्वर का बाधक
होता है^१। जैसे—'वीथ' (श्रु १, १५१, ७) यह ✓वी धातु से लट् में
मध्यम-पुरुष के द्विवचन में सिद्ध प्रयोग है। ✓वी धातु के अदादि-
गणी होने के कारण शप्-विकरण का लुक् हो जाता है। ✓वी धातु
को धातु-स्वर से अन्तोदात्तत्व पहले विद्यमान है। पीछे से 'थस्'
(लादेश) प्रत्यय हुआ। प्रत्यय-स्वर से 'थम्' भी उदात्त है। 'अनुदात्तं
पदमेकवर्णम्' (पा ६, १, १५४) परिभाषा की सामर्थ्य से एक शब्द में एक
ही उदात्त होना चाहिए। 'वीथ' में धातु-स्वर से उदात्त होकर 'वी'
को उदात्त हो और 'वीथ' ऐसा आद्युदात्त शब्द बने या प्रत्यय-स्वर से
'थस्' प्रत्यय उदात्त होकर अन्तोदात्त 'वीथ.' शब्द हो, इस स्थिति
में सति-शिष्टस्वर के नियम की क्रियात्मक रूप में उपस्थिति होती है।
और प्रत्यय-स्वर से धातु-स्वर का बाध होकर अन्तोदात्त 'वीथ' शब्द
की निष्पत्ति होती है।

इससे सिद्ध हुआ कि धातु और प्रत्यय के स्वरों में प्रत्यय-स्वर
बलवान् होगा। परन्तु 'पुनानि' (श्रु १, १६०, ३) आदि शब्दों में 'रना'
विकरण ✓पून् 'पवने' धातु तथा प्रथम-पुरुष के 'तिप्' (लादेश) प्रत्यय
के परचान् हुआ है। इसी लिए सति शिष्टस्वर से 'रना' का स्वर सपन्न
हुआ है। क्योंकि 'अनुदात्ती सुप्तिता' (पा ३, १, ४) सूत्र के नियम

१. यो हि वस्मिन् सति शिष्यते स तस्य बाधको भवति (काशिका)।

से तिप् (लादेश) प्रत्यय पित् (पू की इत्संज्ञा वाला) होने के कारण अनुदात्त है, विचार शेष रहता है कि धातु-स्वर से √पू धातु उदात्त हो या श्ना-विकरण उदात्त हो, सति-शिष्टस्वर के नियम से धातु-स्वर की अपेक्षा प्रत्यय-स्वर से 'श्ना' उदात्त होकर मध्योदात्त 'पुनाति' शब्द उपपन्न हो जाता है। ऐसे ही √मीन् 'हिंसायाम्' धातु से निष्पन्न 'मिनाति' (ऋ. १, १०६, १) रूप की भी उपपत्ति होगी। परन्तु 'पुनीषे' (ऋ. ७, ८५, १) शब्द में सति-शिष्टस्वर चरितार्थ नहीं होता। √पू धातु के आत्मनेपद में मध्यम-पुरुष के द्विवचन में थास् (लादेश) को 'से' आदेश होकर यह रूप सिद्ध हुआ है। सर्वप्रथम √पू धातु धातु-स्वर से अन्तोदात्त प्राप्त है, सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य से 'से' प्रत्यय प्रत्यय-स्वर से उदात्त श्रूयमाण है। 'पुनाति' के समान यहाँ 'पुनीषे' में भी श्ना-विकरण प्रत्यय-स्वर से उदात्त होना चाहिए, क्योंकि श्ना-विकरण धातु तथा 'से' प्रत्ययादेश दोनों के पश्चात् हुआ होने के कारण सति-शिष्ट है। परन्तु 'सति शिष्टस्वरबलीयत्त्वम अन्वत्र विकरणेभ्य' (विकरण को छोड़कर ही सति-शिष्टस्वर बलवान् होता है) इस सिद्धान्त से 'से' के पश्चाद्भावी श्ना-विकरण का स्वर भी सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य से सपन्न नहीं होता। 'पुनाति' में तो पित्-स्वर से अनुदात्त ने पहले ही प्रत्यय-स्वर को असमर्थ कर दिया, यहाँ तो प्रत्यय-स्वर तथा विकरण-स्वर का संघर्ष ही नहीं है, अतः धातु-स्वर की अपेक्षा विकरण-स्वर को सति-शिष्ट मानकर निर्वाह हो गया। 'पुनीषे' में प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर) के साथ विकरण-स्वर का संघर्ष है और इस संघर्ष में प्रत्यय-स्वर बलवान् होगा, विकरण-स्वर नहीं। इसी प्रकार 'सिनीथ' (ऋ. ७, ८४, २) शब्द भी √पिन् 'बन्धने' धातु से लट् के मध्यम-पुरुष के द्विवचन में सिद्ध है। यहाँ पर भी 'श्ना' के विकरण-स्वर की अपेक्षा प्रत्यय-स्वर से 'थस्' (लादेश) प्रत्यय को उदात्तत्व हुआ है और विकरण होने के कारण 'अन्वत्र विकरणेभ्य' की शक्ति से 'श्ना' उदात्त नहीं हुआ। ये श्ना-विकरण के उदाहरण हैं।

श्नु-विकरण स्वादि-गण का है। स्वादि-गण की √पुन् 'अभियवे' धातु से 'मुनुव.' (ऋ. ८, ३१, ५)। √चिन् 'चने' से 'चिनुषे'

३ विकरणस्वरस्तु सतिशिष्टोऽपि सार्वधातुस्वरं न ग्राहते (काशिका ६, १, १५८)।

(श्रु. १०, ६१, ५), √कृञ् से 'कृशुतम्' (श्रु. १, १३, १२) सिद्ध है। यहाँ सर्वत्र 'स्तु' विकरण की अपेक्षा प्रत्यय-स्वर हो रहा है, जो कि 'सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वर प्रत्यय-स्वरं न षाषते' इस नियम का निदर्शन है। यह सिद्धान्त वाचनिक नहीं, शास्त्र प्रतिपादित है। 'तास्यनुदात्ते' (पा. ६, १, १८६) सूत्र में 'तासि' से परे ल-सार्वधातुक प्रत्यय को अनुदात्त का विधान इसमें बलवत्तर प्रमाण है। अन्यथा 'भवितास्म' (शभा. १०, ८, ३, ७) इस प्रयोग में √भू धातु से लुट् में उत्तम-पुंस् के बहुवचन में 'मस्' (ल-सार्वधातुक) प्रत्यय होने के बाद ही विकरण 'तासि' हुआ है। इसलिए √भू की अपेक्षा 'मस्' सति-शिष्ट है और 'मस्' से भी 'तासि' विकरण सति-शिष्ट है। 'सतिशिष्टस्य बल्यस्त्वम्' इतने मात्र परिभाषा के स्वरूप से विकरण-स्वर के सति-शिष्ट होने के कारण 'तासि' का ही उदात्त स्वत सिद्ध था, और 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा. ६, १, १५८) सूत्र की मर्यादा से शेष अक्षरों को अनुदात्त होने के कारण ल-सार्वधातुक 'मस्' को अनुदात्त स्वत-सिद्ध था, फिर 'तास्यनुदात्ते' सूत्र में 'तासि' से परे ल-सार्वधातुक को अनुदात्त का विधान करने के लिए 'तासि' का पाठ क्यों किया गया। उक्त अनुदात्त-विधायक सूत्र में 'तासि' का पाठ इसमें नियामक है कि विकरण-स्वर सति-शिष्ट भी प्रत्यय-स्वर से बलवान् नहीं होता। इस सिद्धान्त-ज्ञापन की सामर्थ्य से 'तासि' के विकरण-स्वर में सति शिष्टस्वर के बलवान् होने का नियम तो चरितार्थ होगा नहीं। फल-स्वरूप प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर) बलवान् होने के कारण 'भवितास्म' ऐसा प्रयोग प्राप्त होगा, जो शतपथ-ब्राह्मण के पाठ से विरुद्ध है। जब सूत्र में 'तासि' को पढ़ते हैं, तो विशेष-विधान की सामर्थ्य से सति-शिष्ट ल-सार्वधातुक प्रत्यय को भी सूत्र से अनुदात्त होकर तासि का स्वर चरितार्थ होता है।

३. तिङन्त-स्वर

तिङन्त क्रिया में सामान्यतया अनुदात्त स्वर होता है। क्योंकि किसी भी अ-तिङन्त (मुबन्त) से परवर्ती तिङन्त क्रिया को 'तिङ्ङिति' (पा. ८, १, २८) सूत्र से सर्वानुदात्त हो जाता है। यदि कहीं वेद में तिङन्त क्रिया में उदात्त स्वर दृष्टि-गोचर होता है, तो उसमें ये विशेष कारण होने चाहिये। यह विवेचन पृष्ठ ७० पर भी हो चुका है, प्रकरण-पुष्टि के लिये पुनः प्रस्तुत है।

१. तिङन्त क्रिया मन्त्र के प्रारम्भ में हो। जैसे—‘द्वाशसो रक्षसः’ (ऋ. ४,४,१५)। यहां मन्त्र के आदि में ‘रक्ष’ क्रिया आद्युदात्त है। ‘वर्कारि वर्ह समिधान् ह्यर्यम्’ (ऋ. ४,६,११) यहां मन्त्र के आदि में ‘वर्कारि’ क्रिया ✓कृ धातु का कर्म-प्रक्रिया में लुङ् लकार के प्रथम-पुरुष में एकवचन का रूप है। अ-तिङ् से परे न होने के कारण तिङन्त को निघात नहीं होता।

२. तिङन्त क्रिया पाद के आदि में हो। जैसे—‘शंसोत्युक्थम्’ (ऋ. ४,६,११)। यहां ✓शंस् धातु का लोट् लकार में ‘शंसोति’ रूप पाद का आदि है। ‘असृदिस्त सुदिताय प्रयस्वान्’ (ऋ. ७,८५,४)। यहां पर भी ✓अस् ‘भुवि’ धातु का लोट् लकार में ‘असव्’ रूप पाद के आदि में है।

३. तिङन्त क्रिया वाक्य के आदि में हो। जैसे—‘प्राहस्मान्’ (ऋ. ४,४,१४)। यहां ✓पा ‘रक्षणे’ धातु के लोट् लकार के मध्यम-पुरुष एकवचन में ‘प्राहि’ क्रिया अन्तोदात्त है, सति-शिष्टस्वर की प्रधानता के कारण धातु-स्वर से ‘पा’ को उदात्त न होकर ‘सिप्’ प्रत्यय के आदेश ‘हि’ को प्रत्यय-स्वर से उदात्त हो रहा है। क्योंकि ‘हि’ अ-पित् होने के कारण पित्-कार्य (अनुदात्तत्व) की योग्यता से रहित है। ‘यजते व्यूधाः’ (ऋ. ४,६,११)। यहां ‘यजते’ क्रिया वाक्य के आदि में है।

४. तिङन्त क्रिया किसी आद्युदात्त आमन्त्रित से परे में हो। जैसे—‘अग्नें शुशुग्धा रुयिम’ (ऋ. १,१७,१)। यहां ✓शुच् ‘धीत्तौ’ धातु का ‘शुशुग्धि’ रूप लोट् के मध्यम-पुरुष के एकवचन में है। और पूर्ववर्ती आमन्त्रित शब्द ‘अग्नें’ के अविद्यमानत्व हो जाने के कारण प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त है। ‘अध्वर्यवो भरत’ (ऋ. २,१४,१)। यहां ‘भरत’ क्रिया ✓भृ धातु से लोट् में मध्यम-पुरुष के बहुवचन में आद्युदात्त है। ‘आषां जुनर्यथा च नः’ (ऋ. १०,६,३) आदि भी ऐसे ही विवेच्य हैं।

५. तिङन्त क्रिया तिङन्त क्रिया के अनन्तर पश्चात् हो। क्योंकि उस स्थिति में अ-तिङ् से परे में तिङन्त की स्थिति न होगी। जैसे—‘धीते ह्येतम्’ (ऋ. १,६३,७)। यहां ‘धीतम्’ क्रिया से परे होने के

१. सेर्षपिच (पा. ३,४,८७)।

कारण 'हयैतम्' को अनुदात्त नहीं हुआ। 'गण्डपो पीथः' (श्रु. १, १५१, ७; ५, ८२, ७) में भी यही न्याय है।

६. 'हि' अथवा यद्-वृत्त (यद् शब्द के रूप) का समान वाक्य में योग हो, तो भी तिङन्त क्रिया को अनुदात्त नहीं होता। उदाहरण आगे नवम-अध्याय में 'अनुदात्त के अपवाद' प्रकरण में विस्तार से देखिये।

जब यह निश्चित हो गया कि तिङन्त-स्वर का यथार्थ स्वरूप क्या है और किन स्थितियों में अनुदात्त न होकर तिङन्त क्रिया में उदात्त उपलब्ध होता है, तो गण-भेद से तिङन्त-स्वर की पृष्ठ-भूमि उपस्थित करने में पूर्व प्रकरणों में विशद रूप से वर्णित सति-शिष्टस्वर तथा लसार्वधातुक-अनुदात्त की पूर्ण सहायता प्राप्त होती है। स्मरण रहे लट्, लोट्, लङ्, विधि-लिङ् लकारों के स्थान में आदेश तिङ् (तिप् तस्मिन् आदि १८) प्रत्यय तथा शतृ और शानच् प्रत्यय लादेश कहलाते हैं। इनकी सार्वधातुक-संज्ञा होती है^१, इसलिए इन्हें ल-सार्वधातुक कहा जाता है। 'तसि' विकरण, अनुदात्तेत् (कतिपय अदादिगणी आत्मनेपदी √ईर्, √ईङ् आदि धातुएं) तथा डित् (√शीङ् 'स्वप्ने' आदि) धातुओं और अदुपदेश (भ्वादिगण और तुदादिगण में शप्-श दोनों विकरणों के कारण अकारान्त) धातुओं से अनन्तरवर्ती ल-सार्वधातुक प्रत्यय को अनुदात्त हो जाता है^२। इसी को संक्षेप में 'ल-सार्वधातुक-निघात' या 'ल-सार्वधातुक-अनुदात्त' कहते हैं।

(क) विकरण-भेद से नौ गणों की निष्पत्ति

धातु-पाठ को विकरण-भेद की विलक्षणता के कारण नौ गणों में विभक्त किया गया है। कर्तृवाच्यता का मुख्य समर्पक शप्-विकरण है^३।

भ्वादि-गण में धातु और लादेश प्रत्ययों के मध्य में प्रधान शप्-विकरण है। सर्वत्र धातु-पाठ-मात्र में मुख्य शप्-विकरण की प्राप्ति होती है, किन्तु अपने-अपने अवकाश में अन्य विकरण 'शप्' का बाध कर लेते हैं।

१. तिङ्शित्सार्वधातुकम् (पा. ३, ७, ११३)। २. तास्यनुदात्तेऽनुदात्तपदेशात्सार्वधातुकमनुदात्तमद्विवहोः (पा. ६, १, १८६)। ३. कर्तरि शप् (पा. ३, १, ६८)।

इस विकरण-संघर्ष का परिणाम एक अचिकल धातु-पाठ का नौ गणों में विभक्त हो जाना है। 'शप्' विकरण में 'श्' की इत्संज्ञा (शित्त्व) का फल सार्वधातुक-संज्ञा और 'प्' की इत्संज्ञा (पित्त्व) का फल पित्-स्वर से 'श्' (शप्-विकरण) को अनुदात्त हो जाना है। 'ज्वति' (मै. २, २, १०) आदि क्रियाओं में जहां धातु से पर-में 'तिप् तिप् निप्' (पित्) प्रत्यय हों, ल-सार्वधातुक-अनुदात्त की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं, वहां 'तिप्' और 'शप्' दोनों के पित्-स्वर से स्वयमेव अनुदात्त हो जाने से धातु-स्वर-से आद्युदात्त है।

अदादि-गण में 'शप्-विकरण' का बाधक 'लुक्-विकरण' है। लुक्-विकरण का तात्पर्य है धातु और तिङ्-प्रत्ययों के मध्य में 'श्' (शप्-विकरण) का लुक् हो जाना अर्थात् लोप हो जाना। भ्वादि-गण में जहां √भू धातु के 'भवति' रूप में मध्य+अ+ति यह तीन अङ्ग थे और मध्य में 'श्' दृष्टिगोचर होता था, अदादि-गण की √अद् 'अवणे' धातु से निष्पन्न 'अत्ति' क्रिया में √अद्+ति यह धातु और तिङ्-प्रत्यय से सम्बद्ध दो ही अङ्ग हैं, मध्यवर्ती 'श्' का अदादि-गण में लुक् हो गया, अदर्शन हो गया है। इस गण में अपवादों को छोड़कर सदा प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर) से अन्तोदात्त होगा।

जुहोत्यादि-गण में शप्-विकरण का बाधक श्लु-विकरण है। 'श्लु' का अर्थ भी यथार्थ में लोप है। श्लु-विकरण में भी लुक्-विकरण के समान शप्-विकरण का लोप (अदर्शन) इष्ट है, अन्तर केवल इतना है कि श्लु-विकरण के कारण जुहोत्यादि-गण की धातुओं में द्वित्वापत्ति तथा अभ्यास-कार्य होते हैं, जो लुक्-विकरण में नहीं है। जैसे 'अत्ति' क्रिया में √अद्+ति के विच्छेद से यह तो ज्ञान हो गया कि भ्वादि-गण की क्रियाओं के समान वहां √अद्+ति दोनों प्रकृति और प्रत्यय के मध्य में 'श्' (शप्) नाम की कोई वस्तु नहीं है, परन्तु √अद् धातु को द्वित्वापत्ति नहीं होती, जुहोत्यादि-गण की 'जुहोति' क्रिया में स्पष्ट रूप में √हु धातु की द्वित्वापत्ति और अभ्यास-कार्य से 'जुहु' निष्पन्न है। और श्लु (लोप) के धर्म के अनुसार जुहु+ति में मध्यवर्ती 'श्' (शप्-विकरण) का दर्शन नहीं होता, वल्कि गुण होकर जुहु+ति का 'जुहोति' बन जाता है। यहाँ 'मोहोभुहु' (पा. ६, १, १२२) सूत्र से मध्योदात्त होगा।

दिवादि-गण में शप्-विकरण का वाचक 'रप्' विकरण है। श्वन्-विकरण में आदि के 'श्' की इत्संज्ञा का फल सार्वधातुक-संज्ञा है और 'न्' की इत्संज्ञा का फल निन्-स्वर से क्रिया का आनुदात्त होना है। प्रकृति (धातु) और प्रत्यय (तिङ्) के मध्य में 'प्' का दर्शन होगा। 'दीप्यति' क्रिया में √दिप्+य्+ति यह तीन अक्षर श्रूयमाण होंगे, और 'दीप्यति' क्रिया का 'दी' अक्षर उदात्त होगा।

स्वादि-गण में शप्-विकरण का वाचक 'रु' विकरण है। पूर्ववत् 'श्' की इत्संज्ञा सार्वधातुक-संज्ञा की सूचक है, और धातु तथा तिङ् प्रत्यय के मध्य में 'रु' श्रूयमाण होगा। गुण करके √सु+नो+ति यह तीन अक्षर 'सुनोति' क्रिया में प्रतीत होते हैं। क्वादि-गण के समान इस गण में भी विकरण-स्वर से प्रत्यय-स्वर की प्रधानता है।

तुदादि-गण में शप्-विकरण का वाचक श-विकरण है। शप्-विकरण से श-विकरण का भेद 'प्' की इत्संज्ञा (पित्त्व) का है। और पित्त्व (प् की इत्संज्ञा) के कारण भ्वादिगणी धातुओं से 'भवति' में √भू धातु का गुणयुक्त रूप भो>भ्व् एवं 'जयति' में √जि धातु का जे>ज्य् रूप संभव होता है, क्योंकि गुण-निषेध के लिए ङित्त्व होना आवश्यक है^१, और ङित्त्व की संभावना ऐसे सार्वधातुक-संज्ञक प्रत्यय में ही हो सकती है जो पित् न हो^२। भ्वादि-गण में विकरण 'शप्' है, जो कि 'प्' की इत्संज्ञा के कारण पित् है, जिसमें ङित्त्व (गुण-वाचकता) की योग्यता नहीं है, इसके विपरीत तुदादि-गण में श-विकरण जिसमें 'प्' की इत्संज्ञा का प्रश्न ही नहीं, अ-पित् होने के कारण ङित्त्व माना जाता है, इसी लिए श-विकरण से युक्त 'तुदति' (√तुद्+अ+ति) क्रिया में गुण होकर 'तोदति' (√तोद्+अ+ति) नहीं बनता।

विकरण-भेद (शप् 'पित्' श 'अपित्') की इसी विलक्षणता के कारण भ्वादिगणी धातुओं की क्रियाओं के स्वर में और तुदादिगणी धातुओं की क्रियाओं के स्वर में महान् अन्तर है। भ्वादिगणी धातुओं की क्रियाओं में 'शप्' (पित्) विकरण के मध्यवर्ती होने से मध्य का 'अ' अक्षर पिन्-स्वर से अनुदात्त होगा, अन्तिम अक्षर ति, सि, मि हुए तो पित्-स्वर से अन्यथा लसार्वधातुक-अनुदात्त के कारण अनुदात्त है ही, शेष पहला धातु-सम्यन्धी अक्षर धातु-स्वर

१. ङित्त्वादिर्निषेध (पा. ६, १, ११७)। २. ङित्ति च (पा. १, १, ५)।

३. सार्वधातुकमपित् (पा. १, २, ४)।

से उदात्त होगा, और भ्वादिगणी क्रियाएं सदा आद्युदात्त रहेंगी। तुदादिगणी धातुओं की क्रियाएं सर्वदा मध्योदात्त रहेंगी। क्योंकि श-विकरण में पित्-स्वर से अनुदात्तत्व की योग्यता नहीं है। वहाँ पूर्ववत् वृतीय अक्षर अनुदात्त होगा, और सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य से बलवान् होने के कारण धातु-स्वर की अपेक्षा विकरण को उदात्त होगा। मध्य में विकरण उदात्त होने के कारण क्रिया का रूप मध्योदात्त होगा।

रुधादि-गण में शप्-विकरण का बाधक शन्-विकरण है। 'शन्' में 'श्' की इत्संज्ञा तथा 'म्' की इत्संज्ञा है, मित् होने से सर्वत्र धातु के मध्य में 'न' (शन्) का अन्तर्भाव होगा। जैसे 'रुणद्धि' क्रिया में रुणध्+ति यह दो प्रकृति और प्रत्यय अङ्ग हैं। शन्-विकरण के धातु में अन्तर्भाव होने के कारण √रुध् धातु का मूल-रूप 'रुणध्' में परिवर्तित हो गया है। ति, सि, मि, तो पित्-स्वर से अनुदात्त हैं, इसलिए धातु-स्वर से 'रुणध्' के अन्तिम अक्षर 'ण' को उदात्तत्व होने के कारण 'रुणद्धि' शब्द मध्योदात्त होगा। 'रुद्धः' में प्रत्यय-स्वर से 'तम्' प्रत्यय उदात्त होकर शब्द अन्तोदात्त होगा, क्योंकि 'तस्' प्रत्यय अपित्-सार्वधातुक होने के कारण डित् है। इसलिए 'शन्सोत्सोपः' (पा. ६, ४, १११) सूत्र से 'रुणध्' में 'ण' के 'अ' का लोप होकर √रुन्ध् धातु रह जायेगी, और √रुन्ध् धातु के स्वर की अपेक्षा प्रत्यय-स्वर बलवान् है। 'रुन्धन्ति' में मध्योदात्त होगा, क्योंकि 'आद्युदात्तश्च' (पा. ३, १, ३) के नियम से 'अन्ति' प्रत्यय आद्युदात्त होगा। 'रुन्धत्' (शतृप्रत्ययान्त) में 'शत्' (शतृ) प्रत्यय का स्वर होने से अन्तोदात्त शब्द बनेगा। 'रुन्धान' (शानच्-प्रत्ययान्त) में चित्त्व (च् की इत्संज्ञा) होने के कारण चित्-स्वर से अन्तोदात्त होगा।

तनादि-गण में शप्-विकरण का बाधक 'अ' विकरण है। 'तनोति' क्रिया में √तन्+उ+ति इस प्रकार तीन अङ्गों की स्पष्ट प्रतिपत्ति होगी। ति, सि, मि तो पित् हैं और अनुदात्त हैं, इसलिए विकरण 'अ' का उदात्त सति-शिष्टस्वर से सिद्ध होगा और मध्योदात्त क्रिया-शब्द होगा। 'अन्ति' प्रत्यय के आद्युदात्त होने के कारण 'तन्वन्ति' क्रिया भी प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्त होगी। अन्यत्र तस्, यस् आदि में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त शब्द बनेंगे।

क्रपादि-गण में शप्-विकरण का बाधक श्ना-विकरण है। क्रपादि-

गणी धातुओं की क्रियाओं के मध्य में 'ना' विकरण दृष्टिगोचर होता है। यहां भी ति, सि, मि (पित्) में प्रत्यय के अनुदात्त होने से सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य के कारण विकरण-स्वर से क्रिया-शब्द मध्योदात्त होंगे। 'अन्ति' में प्रत्यय-स्वर से प्रत्यय का आदि अक्षर उदात्त होने से शब्द मध्योदात्त होगा। यहां 'शनाभक्तयोत्त' (पा ६,१,११२) सूत्र से द्वित् सार्वधातुक में शना-विकरण के 'भा' का लोप हो जाया करता है। अन्यत्र तस्, थस् आदि अपित्-सार्वधातुक प्रत्ययों में प्रत्यय-स्वर से सदा अन्तोदात्त शब्द निष्पन्न होगा। क्योंकि सति-शिष्टस्वर की बलवत्ता विकरण-स्वर को छोड़कर मानी गई है। अर्थात् 'क्रोशोत्' में √क्री धातु के स्वर से 'तस्' प्रत्यय का स्वर बलवान् है, क्योंकि धातु से प्रत्यय हुआ है, धातु-स्वर की अपेक्षा प्रत्यय का स्वर सति-शिष्टस्वर है। √क्री धातु से 'तस्' प्रत्यय होने के पश्चात् मध्य में 'भा' विकरण हुआ है, इसलिए ययार्थ में तो 'शना' का उदात्त-स्वर सब की अपेक्षा सति-शिष्ट होने के कारण सब से बलवान् है। और सतिशिष्ट-प्रत्ययस्वर तथा सतिशिष्ट-विकरणस्वर के संपर्प में विकरण-स्वर की बलवत्ता होनी चाहिए, परन्तु 'मन्वत्र विकरणेभ्य' (विकरणों को छोड़कर ही सति-शिष्टस्वर की प्रधानता है, अर्थात् विकरण-स्वर सति-शिष्ट होता हुआ भी प्रत्यय-स्वर की अपेक्षा अनुत्कृष्ट है) के सिद्धान्त से प्रत्यय-स्वर ही बलवान् होता है, और 'तस्' का ही स्वर निश्चित होता है।

भावकर्म-प्रक्रिया में धातु और प्रत्यय के मध्य में 'क्' विकरण होता है। विकरणान्त धातु के अतुपदेश होने के कारण उससे परवर्ती लादेश अनुदात्त है और ल-सार्वधातुक को अनुदात्त होने पर सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य से सर्वदा 'व' उदात्त होगा, और क्रिया-शब्द मध्योदात्त होगा।

(ख) णिजन्तादि-स्वर

चुरादिगण को धातु-संज्ञा की दृष्टि से मौलिक नहीं माना जाता। क्योंकि चुरादिगणी धातुओं की धातु-संज्ञा 'भूवादयो धातव' (पा. १,३,१) सूत्र से नहीं होती, उनको सनाशन्त की श्रेणि में रख कर 'सनाशन्ता धातव' (पा ३,१,३२) इस सूत्र के विशेष नियम से उनकी धातु-संज्ञा होती है। चुरादि-गण में धातुओं से 'क्षिप्' प्रत्यय स्वार्थ में होता है। 'भोरयति' यह क्रिया-शब्द 'स्वयं चोरी करने वाले' का

अभिधायक है। प्रेरणा अर्थ में णिच् प्रत्यय इससे भिन्न है। कुछ भी हो णिच् प्रत्यय स्वार्थ में हो या प्रेरणा अर्थ में णिच्-प्रत्ययान्त इतने अंश की उक्त सूत्र से धातु-संज्ञा हुई है। 'धातोः' (पा. ६,१,१६२) सूत्र के नियम से उतने अंश को धातु मानकर उसके अन्त को उदात्त होगा। √भू धातु के णिच्-प्रत्ययान्त 'भावयति' रूप में 'भावि' अंश को धातु मान कर उसके अन्त्य 'इ' को उदात्त होगा, इसलिए 'भावयति' क्रिया में 'व' उदात्त होगा। शेष विवेचन भ्वादिगणी धातुओं के क्रिया-शब्दों के समान समझना चाहिए।

सन्नन्त-प्रक्रिया में इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय में 'न' की इत्संज्ञा है। और प्रत्यय के नित् होने के कारण नित्-स्वर से सन्नन्त क्रिया 'चिकीर्षति' आदि में सदा आदि अक्षर उदात्त होगा।

यङन्त-प्रक्रिया में यङ्-प्रत्ययान्त 'बोभूय' इतने अंश की धातु-संज्ञा है। इसलिए धातु-स्वर से 'य' इस अक्षर पर उदात्तत्व होगा और क्रिया सदा मध्योदात्त रहेगी। यद्यपि 'बोभूयन्ते' में अभ्यस्त-स्वर से आद्युदात्त होना चाहिए, किन्तु 'अभ्यस्तानामादिः' (पा. ६,१,१०६) सूत्र से आद्युदात्तत्व करने के लिए अभ्यस्त रूप 'बोभू' का अजादिल-सार्वधातुक से अनन्तर पूर्व होना आवश्यक है जो यहाँ नहीं है।

यङ्-लुक्-प्रक्रिया में यङ् प्रत्यय के अदर्शन के कारण शेष धातु-स्वरूप अभ्यस्तसंज्ञक है और अजादिल-सार्वधातुक से अनन्तर-पूर्व भी है, इसके कारण अभ्यस्त स्वर (पा. ६,१,१०६;१६०) से क्रिया का आद्य अक्षर उदात्त होगा।

नाम-धातु में भी क्यच्, क्यङ् प्रत्ययों से तदन्त अंश की धातु-संज्ञा होगी और धातु-स्वर से धात्वंश का अन्तिम अवयव अन्तोदात्त होगा। क्रिया इस विचार से मध्योदात्त होंगी।

(ग) लसार्वधातुक-स्वर

यह पीछे लिखा जा चुका है कि सार्वधातुक-संज्ञक लट्, लोट्, लङ्, विधि-लिङ् इन चार लकारों के स्थान में लादेश तिङ् प्रत्ययों तथा शर्त्, शानच् (शित्) प्रत्ययों को ल-सार्वधातुक कहा जाता है। गण-भेद से लसार्वधातुक प्रत्ययों के स्वर का निर्देश इस स्तम्भ में दिखायेंगे।

१. भ्वादि-गण के लट् लकार में क्रिया का आद्य अक्षर (धात्वंश) उदात्त होगा, क्योंकि तिप्, सिप्, मिप् तीनों प्रत्यय पित्

(पू की इत्संज्ञा वाले) हैं। अनुदात्तौ सुप्ति (पा. ३, १, ४) सूत्र के नियम से वह अनुदात्त होंगे। मध्यवर्ती शप्-विकरण भी पित् होने के कारण अनुदात्त होगा। शेष रहा धात्वंश पहला अक्षर, 'धातोः' (पा. ६, १, १६२) सूत्र के नियम से वही उदात्त होगा। जैसे— 'चरति' (श्रु. ४, ३८, ४) यहां ✓चर् + अ + ति यह तीन अक्षर हैं। अ + ति दोनों अनुदात्त होने से शेष आद्यव्यय ✓चर् धातु के 'च' पर उदात्तत्व का संकेत है। ऐसे ही 'चरति' (श्रु. ७, ४६, २) आदि हैं। यह प्रक्रिया पित्त-सार्वधातुक में होगी। अपित्त-सार्वधातुक (तस्, अन्ति आदि में, त, आताम्, ऋ आदि तथा शठ्, शानच्) में भी क्रिया या शब्द के आद्य अक्षर पर ही उदात्त का संकेत रहेगा। यहां त-सार्वधातुक प्रत्ययों को लसार्वधातुक-अनुदात्त से अनुदात्तत्व होता है, मध्यवर्ती शप्-विकरण पित्त होने से अनुदात्त है ही, शेष प्रथम अक्षर (धात्वंश) ही उदात्त होगा। जैसे—तपन्ति (श्रु. ६, ५६, ८) नर्यय (श्रु. १, ४१, ५) नमते (श्रु. ६, २४, ८) गृहते (श्रु. १०, २७, २४) पचन् (श्रु. ५, २६, ११) पचन्तम् (श्रु. २, १२, १४) यार्चमानः (शौ. ६, ११८, ३) इत्यादि में सर्वत्र लसार्वधातुक-निघात से लादेश सार्वधातुक प्रत्यय अनुदात्त, 'शप्' अनुदात्त, शेष धात्वंश धातु-स्वर से उदात्त है।

लोट् लकार में भी उक्त प्रक्रिया ही चरितार्थ होगी। उत्तम-पुरुष में मिप् वस्, मस् प्रत्ययों को मध्य में 'आट्' आगम होता है, और उत्तम-पुरुष पित्त माना जाता है। यहां ✓भू > भव् + अ + आ + नि (=भवानि) यह चार अक्षर होंगे। परन्तु आद्यक्षर पर ही उदात्त होगा। पित्त होने से अ + आ + नि सब अनुदात्त हैं।

लट् लकार में सर्वत्र कोई भी गण हो, परस्मैपद हो या आत्मनेपद, कर्तृ-वाच्य हो या भावकर्म-वाच्य अट्-आगम ही उदात्त होगा जैसे—अभवत् (श्रु. १, ५८, १) अहंषोत् (श्रु. २, १७, ६) अर्भुत् (श्रु. १, ४६, १०) अमेवत् (श्रु. १४, ४, २, ६) अर्हति (श्रु. ५, ६, ११) आदि। विधि-लिङ् में लट् लकार जैसा ही न्याय चरितार्थ होगा।

'भवन्ती' आदि स्त्रीलिङ्ग के शब्दों में 'होप्' प्रत्यय पित्त-स्वर से अनुदात्त हो जाएगा, तथा शत्रन्त के समान आशुदात्त शब्द होगा।

२. अदादि-गण में ✓ईर् ✓ईड् आदि अनुदात्तेत् (आत्मनेपदी) धातुओं तथा ✓शीड् 'स्वने' आदि डिन् धातुओं से परे लसार्वधातुक-

प्रत्ययों को लसार्वाधातुक-अनुदात्त के नियम से अनुदात्त हो जायेगा^१। मध्य में शप्-विकरण का लुक् हो चुका है। शेष धात्वंश को ही धातु-स्वर से उदात्त होगा।

गण के अन्त में स्वप् आदि कुछ धातुएं हैं, वहाँ इडागमरहित कित् डित् अजादि ल-सार्वाधातुक प्रत्यय परे रहते विकल्प से आद्युदात्त होगा^२। धात्वंश उदात्त हुआ तो आद्युदात्त, अन्यथा प्रत्यय-स्वर। 'स्वर्णस्वस्यै ज्ञातयः' (शी. ४, ५, ६) में उक्त नियम से धात्वंश 'स्व' को उदात्त होने से क्रिया आद्युदात्त है। विकल्प पक्ष में प्रत्यय-स्वर से 'घन्तु' का आद्यक्षर उदात्त होगा, और क्रिया मध्योदात्त होगी।

'रांश्री जागति' (मै. ३, ६, ३)। मैत्रायणी शाखा में उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है। इसलिये 'जागति' का 'गि' उदात्त है। स्मरण रहे √जागृ धातु अभ्यस्त-संज्ञक है^३, और अभ्यस्त धातुओं में पित्-स्वर से 'तिप्' के अनुदात्त हो जाने पर 'अनुदात्ते व' (पा. ६, १, १६०) सूत्र के नियम से आद्यक्षर उदात्त होना चाहिए, परन्तु 'भीहीभृद्' (पा. ६, १, १६२) इस विशेष नियम से 'तिप्' (पित्) प्रत्यय के पूर्ववर्ती अक्षर 'गि' को उदात्त हुआ है। इस प्रकार क्रिया-शब्द मध्योदात्त होगा। यदि √स्वप् धातु में निर्दिष्ट आद्युदात्त के नियम से क्रिया का आद्यक्षर उदात्त होगा तो क्रिया-शब्द आद्युदात्त होगा। जैसे—'नूतेषु जागति' (शी. १६, ४८, ५)। यहाँ 'जागति' क्रिया का आद्यवयव 'जा' उदात्त है। इसी का विकल्प-पक्ष उक्त मध्योदात्त है। जहाँ आद्युदात्त और मध्योदात्त दोनों की योग्यता नहीं, वहाँ प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त होगा। जैसे—'जागृहि' (ऋ. १०, ८७, २४) 'जागृत' (शी. १, ३०, १) इन दोनों स्थलों में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त है।

उक्त प्रकार के धातुओं को छोड़कर अदादि-गण में सदा अ-पित् प्रत्ययों में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त रहेगा। जैसे—'हते' (मै. ४, २, ३)। 'दुहे' (ऋ. ६, ८६, २)। यहाँ 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा. ७, १, ४१) सूत्र से √दुह् + ते > दुग््ये > मध्यवर्ती 'त' का लोप होकर 'दुहे' शब्द बना है। 'इतः' (ऋ. १०, ६४, १४), 'इतः' (ऋ. ६, ६०, ६)। 'अन्ति' में प्रत्यय के आद्यवयव 'अ' को प्रत्यय-स्वर से आद्युदात्त हो जाने के

१. तास्यनुदात्तेऽन्वित् (पा. ६, १, १८६)। २. स्वपादिर्हितामध्यनिदि (पा. ६, १, १८८)। ३. जचित्यादयः षट् (पा. ६, १, ६)।

कारण क्रिया मध्योदात्त होगी। जैसे—'द्विपत्ति' (शौ. ६,५,२) 'उशान्ति' (श्र. १,२,४) आदि। 'मन्ति' (श्र. ८,८४,६) 'वन्ति' (श्र. १,१००,२) यहाँ धात्वन्तर के अभाव के कारण मध्योदात्त भी आद्युदात्त प्रतीत होता है। 'एषि' (श्र. १,१२२,१०) 'हन्ति' (श्र. १,४०,८) 'हेषि' (श्र. ३,५३,२१) आदि पित् सार्वधातुक में प्रत्यय तो पित्-स्वर से अनुदात्त हो गया। शेष धात्वन्तर पर धातु-स्वर से उदात्त रहेगा।

शब्द-प्रत्ययान्त शब्द प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त होंगे। जैसे—'दुह्व' (श्र. १०,१२२,६) 'स्तुवन्तम' (श्र. २,२०,३)। 'शस्' आदि अजादि-विभक्तियों में 'शतुरनुमो नद्यजादी' (पा. ६,१,१०३) के नियम से विभक्ति उदात्त होगी और शब्द अन्तोदात्त होगा। जैसे—'द्विपत्तः' (श्र. ६,४९,१३), 'द्विपत्ते' (श्र. १,५०,१३), 'स्तुवते' (श्र. २,२२,३)।

स्त्रीलिङ्ग में नदी-स्वर^१ से 'हीप्' प्रत्यय के 'ई' के उदात्त होने से सदा अन्तोदात्त शब्द होगा।

शानच्-प्रत्ययान्त शब्दों में चित्-स्वर से अन्तोदात्त होगा। जैसे—'दुहानः' (श्र. ६,४२,४) आदि।

लोट् में मध्यम-पुरुष के एकवचन में प्रत्यय-स्वर से 'हि' को उदात्त होगा। क्योंकि 'सिप्' के स्थान में 'हि' आदेश अ-पित् होता है^२। जैसे—'पाहि' (श्र. १,३६,१५) 'याहि' (श्र. १,१२६,६) 'इहि' (श्र. ८,३२,२२) इत्यादि। इसके विपरीत भ्वादि-गण में 'हि' का लुक् हो जाने के कारण^३ धातु-स्वर से क्रिया आद्युदात्त ही होगी। जैसे—'नय' (श्र. १,१८६,१) आदि।

'वेद' (श्र. १,१६४,०) आदि में तिङ् (लादेश) को 'शल' हुआ है^४। इसलिए लित्-स्वर से प्रत्यय का पूर्ववर्ती धात्वन्तर उदात्त होगा।

लङ् में पूर्ववत् अङ्-आगम को उदात्त होता है। जैसे—'अर्हन्' (श्र. १,३२,४)।

विधि-लिट् में उदात्त यामुट्-आगम का 'वा' रहेगा। जैसे—'द्विष्वात्' (तै. २,९,४,४) 'विष्वात्' (श्र. १,५,३) आदि।

३. जुहोत्यादि-गण में श्लु-विफरण से धातु को द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'उभे अम्पस्ताम्' (पा. ६,१,५) सूत्र के

१. शतुरनुमो नद्यजादी (पा. ६,१,१०३)। २. सेमंविष्च (पा. ३,४,८०)।

३. अतो हेः (पा. ६,४,१०५)। ४. विदो षटो वा (पा. ३,४,८३)।

नियम से अभ्यस्त-संज्ञा होगी। अजादि (इडागम-रहित) अपित्-सार्वधातुक (अन्ति, शट्, शानच् प्रत्ययों में) 'अभ्यस्तानामादिः' (पा. ६,१,१८६) सूत्र से क्रिया का आद्यक्षर उदात्त होगा। जैसे—'जुह्वत्' (ऋ. ७,८५,१), 'जुह्वानः' (ऋ. १,७५,१) आदि। पित्-सार्वधातुक पर में होने पर 'अनुदात्ते च' (पा. ६,१,१६०) सूत्र से आद्यक्षर उदात्त होगा। जैसे—'विभंषि' (ऋ. ६,५३,८) आदि। विवेचन आगे आद्युदात्त-प्रकरण में देंगे। डीवन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द आद्युदात्त होंगे।

पित् प्रत्ययों में ✓भी, ✓ही आदि कतिपय धातुओं के पित्-प्रत्यय से पूर्ववर्ती धात्वंश को उदात्त होता है^१, आद्युदात्त नहीं होता। जैसे—'विभंषि' (मा. १६,३), इसी का पाठ-भेद उक्त आद्युदात्त 'विभंषि' (ऋ. ६,५३,८) है। 'विभंषि' (ऋ. ४,५०,७) 'जुहोमि' (ऋ. ३,१८,३) आदि।

लोट् के मध्यम-पुरुष के बहुवचन में 'थ' को 'त' आदेश होता है^२। उस आदेश को वेद में 'तप्, तनप्' आदेश होते हैं^३। तप्, तनप् दोनों पित् हैं। इसलिए यहां भी पित्-प्रत्यय से पूर्ववर्ती धात्वंश को ही उदात्त होगा। क्रमशः जैसे—'जुहोता' (ऋ. १,१५,६), 'जुहोतन' (ऋ. ७, ५८,१) आदि। यहां पित् होने के कारण ही अपित्-सार्वधातुक को होने वाले डित्त्व के कारण 'हु' को गुण का निषेध नहीं हुआ और 'हो' बना है।

ऐसे ही लोट् के उत्तम-पुरुष के एकवचन में 'मिप्' के स्थान में 'मेनिः' (पा. ३,४,८६) सूत्र से 'नि' होता है और उसको 'आहुत्तमस्य पित्त्वं' (पा. ३,४,६२) से आह-आगम हो जाने पर 'आनि' इतना अंश पित् माना जाता है। पित्त्व के कारण पूर्ववर्ती धात्वंश को उदात्त होगा, जैसे—'जुह्वानोऽ' (तै. ६,५,६,१) में धात्वंश 'ह' उदात्त है। इस उदाहरण में विशेष ध्यान देने योग्य 'नीऽ' इतने क्रिया के अन्तिम अंश को प्लुत का निर्देश और उदात्तत्व होना है। 'अमुक कार्य करना कि नहीं करना' इस विचार में वाक्य की 'दि' को उदात्त प्लुत हो जाया करता है^४, उसी नियम से यहां उदात्त प्लुत का संकेत है।

१. भीदीभृदुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति (पा. ६,१,१६२)।

२. तस्यऽथमिषो तान्तन्तामः (पा. ३,४,१०१)। ३. तप्तनपूतनयनाश्च (पा. ७,१,४५)। ४. विचार्यमाणानाम् (पा. ८,२,६७)।

शेष हलादि ल-सार्वधातुक अ-पित् प्रत्ययों में नहीं आशुदात्त होगा और नहीं प्रत्यय से पूर्व का मध्योदात्त स्वर हो सकेगा। वहाँ प्रत्यय-स्वर से सदा अन्तोदात्त रहेगा। जैसे—‘विभ्रत’ (श्र. ५,४७,४) ‘विभीत’ (शौ. २,१५,१) ‘विभूय’ (श्र. १०,३०,१२)। ‘शुधि’ (शौ. १,८,१)। यहाँ ‘सेष्टपिच्य’ (पा. ३,४,८७) सूत्र से ‘सिप्’ के स्थान में ‘हि’ को ही ‘हुक्त्वो हेषि’ (पा. ६,४,१०१) सूत्र से ‘धि’ अ-पित् होता है। इसी लिए प्रत्यय-स्वर से ‘धि’ उदात्त है।

लङ् लकार में अङ्-आगम को ही उदात्त होगा। जैसे—‘अङुक्षेव’ (शौ. १,८,१) आदि। यहाँ ‘अ’ उदात्त है।

विधि-लिङ् में यामुट्-आगम उदात्त होगा। जैसे—‘विभीषात्’ (श्र. १,४१,६) आदि।

दिवादि-गण में सर्वत्र परस्मैपद हो या आत्मनेपद शप्-विकरण के वाचक श्यन्-विकरण में ‘वृ’ की इत्संज्ञा होने के कारण ‘न्नित्वादि-निष्पन्’ (पा. ६,१,१६७) सूत्र से नित्-स्वर से क्रिया-शब्द आशुदात्त होंगे। जैसे—‘रीयते’ (श्र. १,१३५,७) ‘सिष्यति’ (श्र. १,१८,७) ‘भीष्यतु’ (श्र. २,३२,४) ‘विष्यामि’ (शौ. ७,७८,२) ‘विष्यता’ (श्र. १,८६,९) आदि।

लङ् में अङ्-आगम को उदात्त होगा और शतृ, शानच् प्रत्ययों में भी आशुदात्त, स्त्रीलिङ्ग में डीवन्त शब्द भी आशुदात्त होंगे।

स्वादि-गण में तिप् सिप् मिप् (पित्) प्रत्ययों के पित् स्वर से अनुदात्त हो जाने से सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य से मध्यवर्ती श्नु-विकरण ही उदात्त होगा, और मध्योदात्त क्रिया-शब्द बनेंगे। जैसे—‘सुनोति’ (श्र. १,१२२,६) आदि।

अपित्-प्रत्ययों में प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्ट) से सदा अन्तोदात्त शब्द बनेंगे। ‘कृणुते’ (श्र. २,२५,१) ‘सुनुत’ (श्र. ५,३१,५) आदि। ‘कि’ के स्थान में ‘अन्ति’ में प्रत्यय-स्वर से आशुदात्त होने से ‘सुन्वन्ति’ (श्र. ३,३०,१) कृण्वन्ति’ (श्र. ३,३७,२) में मध्योदात्त रहेगा।

लोट् में ‘सुलु’ (श्र. १,२८,६) में प्रत्यय का लोप हो जाने से सति-शिष्ट विकरण-स्वर है।

‘सुनोत’ (श्र. ७,३२,८) में ‘व’ के स्थान में ‘तप्’ आदेश पित् है और पित्-स्वर से अनुदात्त है, इसलिए पूर्ववत् ही विकरण-स्वर से मध्योदात्त होगा। ऐसे ही ‘सुनोतन’ (श्र. ५,३४,१) में

वादेश 'तन्प्' पित् है, यहाँ भी पूर्ववत् मध्योदात्त है। लोट् के उत्तम-पुरुष में आट्-आगम भी पित् होता है, इसलिए विकरण-स्वर से 'सुन्वाम' (ऋ. ३, ५३, ४) आदि मध्योदात्त हैं।

शतृ-प्रत्ययान्त शब्द अदादि-गण के तुल्य अन्तोदात्त होंगे। 'सुन्वन्तम्' (ऋ. २, १२, १४) शब्द 'सुन्वत्' (अन्तोदात्त) प्रातिपदिक का द्वितीया विभक्ति के एकवचन में रूप है। 'शम्' आदि अजादि विभक्तियों में विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्त होगा। जैसे—'सुन्वतः' (ऋ. १, २, ६)।

स्त्रीलिङ्ग में नदी-स्वर' से अन्तोदात्त शब्द बनेंगे। 'कृष्वती' (ऋ. १, ६२, ४) आदि।

शानच्-प्रत्ययान्त शब्द भी चित्-स्वर से अन्तोदात्त हैं। जैसे—'सुन्वानः' (ऋ. १, १३३, ७) आदि।

लट् में अड-आगम उदात्त होता है। विधि-लिट् में यासुड् आगम उदात्त होता है।

तुदादि-गण में तिप् सिप् मिप् (पित्) को पित्-स्वर से तथा अ-पित् प्रत्ययों को ल-सार्वधातुक-निघात से अनुदात्त होने से सति-शिष्टत्वात् मध्यवर्ती 'ञ' (श-विकरण) उदात्त होगा। जैसे—'विन्दति' (ऋ. ६, १०, २१) 'विन्दते' (ऋ. ६, ५१, १६) 'सिघ्नति' (ऋ. ८, ७२, १०)।

लोट् लकार में, शतृ और शानच् प्रत्ययों में सर्वत्र मध्यवर्ती विकरण उदात्त रहेगा। शतृ-प्रत्ययान्त शब्दों में पूर्ववर्ती 'ञ' (विकरण) के कारण 'आर्षीनघोर्नुम्' (पा. ७, १, १०) सूत्र के नियम से 'दीप्' प्रत्यय परे होने पर विकल्प से नुम्-आगम होगा। जहाँ नुम्-आगम होगा, वहाँ 'इष्पती' (ऋ. ५, ३७, ३) आदि शब्दों में मध्योदात्त ही रहेगा। क्योंकि नुम्-आगम से रहित शतृ-प्रत्ययान्त अन्तोदात्त शब्द से परे ही नदी-संज्ञक 'ई' को उदात्त होता है। जहाँ नुम्-आगम नहीं यहाँ नदी-स्वर' से स्त्रीलिङ्ग शतृ-प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त होंगे।

गधादि-गण में पहले ही लिए आये हैं कि विकरण के धातु में अन्तर्भूत हो जाने से धातु (प्रकृति) और प्रत्यय दो ही अंश होंगे। तिप्, मिप्, सिप् (पित्) में पित्-स्वर से प्रत्यय अनुदात्त है। इसलिए धातु-स्वर से शेष धातुश उदात्त होगा। अ-पित् ल-सार्वधातुक

प्रत्ययों तस्, थस् आदि में डित्त्व मान कर धात्वन्तर्भूत 'श्नस्' के 'श्' का लोप होगा। प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्तत्व होगा। 'अन्ति, आते, अते' आदि प्रत्ययों की प्रत्यय-स्वर से आनुदात्त हो जाने से 'मिन्दन्ति', 'इन्धाते', 'नुज्जते' (श्र. ५, ४२, ६) आदि क्रिया-शब्द मध्योदात्त होंगे। इस प्रकार एक ही धातु के लट् लकार में मध्योदात्त तथा अन्तोदात्त रूप निष्पन्न होंगे। लोट् में भी यही क्रम है। लङ् में अङ् आगम और विधि-लिङ् में यासुङ्-आगम उदात्त होंगे। शतृ-प्रत्ययान्त अन्तोदात्त से परे 'शस्' आदि अजादि विभक्तियों को तथा स्त्रीलिङ्ग में डीप् (नदी) को नदी-स्वर से पूर्ववत् अन्तोदात्त होगा। शानञ्-अन्त में चित्-स्वर से अन्तोदात्त होगा।

तनादि-गण में स्वादि-गण के समान तिप्, सिप्, निप् तथा तप्, तनप् (पित्) आदि प्रत्यय अनुदात्त हैं, इसलिए मध्यवर्ती 'व' विकरण उदात्त होगा। जैसे—'वृनोति' (श्र. १, १३३, ०) 'वृनोषि' (श्र. १, ३१, १३) 'करोति' (मा. ००, ८) 'गृणोति' (तै. १३, १३, १) आदि में विकरण स्वर है। 'कुर्वन्ति' (तै. २, ५, ५, ६) आदि में प्रत्यय-स्वर से 'अन्ति' का आद्यच्चार 'श्' उदात्त होने से त्रिया मध्योदात्त होगी। शेष हलादि अ-पित् प्रत्ययों में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त होगा। जैसे—'वनुध.' (श्र. ०, ३०, ६) 'गृणुतम' (श्र. १, ६३, १) आदि। शेष स्वादिगणवत् है।

ऋशादि-गण में 'मिनाति' (श्र. १, १०६, १) आदि में पित्-प्रत्यय अनुदात्त हो जाने से सतिशिष्टत्वात् 'श्ना' विकरण उदात्त होगा और क्रिया मध्योदात्त। अ-पित् प्रत्ययों में अजादि अन्ति, आते, अत् (शतृ) आन (शानच्) में पूर्ववर्ती 'श्ना' विकरण के 'शा' का लोप हो जायेगा^१। इस लिए प्रत्यय स्वर से सर्वत्र प्रत्यय के आद्यवयव उदात्त होंगे। इस लिए गृणते' (श्र. १, ११३, १०) आदि अजादि विभक्तियों में 'गृणत्' (शतृ-प्रत्ययान्त) अन्तोदात्त शब्द से परे विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्त होगा। शतृ प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीप्रत्यय में भी नदी-स्वर से 'ई' (डीप्) को उदात्त होगा। और शानञ्-प्रत्ययान्त शब्दों में चित्-स्वर से अन्तोदात्त होगा।

१ शनसोरत्त्वोप (पा ६, ४, १११) । २ शनाम्यस्तयोरात् (पा ६, ४, ११२) ।

अ-पित् हलादि प्रत्ययों में प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर) से अन्तोदात्तत्व ही रहेगा। जैसे—‘सिनीध’ (ऋ ७, ८४, ३) ‘पुनीपे’ (ऋ. ७, ८५, १) आदि में ‘धस्’ और ‘से’ उदात्त है।

लोट् के परस्मैपद के मध्यम-पुरुष के एकवचन में ‘हि’ पर में होते हुए ‘इञ् श्न शानञ्छौ’ (पा. ३, १, ८३) सूत्र से ‘श्ना’ को ‘शानच्’ आदेश होगा। अनुबन्ध-लोप के परचात् ‘श्नान्’ विकरण अकारान्त शेष रहेगा। और ‘अतो हे’ (पा ६, ४, १०५) सूत्र से ‘हि’ का लोप होकर चिन् स्वर से अन्तोदात्त क्रिया-शब्द निष्पन्न होगा। अन्यत्र ‘हि’ प्रत्यय का ही स्वर होगा। लड् लकार में सर्वत्र अड्-आगम उदात्त होता है। विधि लिङ् में ‘पृणीयात्’ (ऋ. १०, ११७, ५) आदि में यामुट्-आगम ही सर्वत्र उदात्त होगा।

भाषकर्म-प्रक्रिया में मध्यवर्ती यक् विकरण उदात्त होगा। जैसे—‘सूयते’ (ऋ. ४, ५८, ६), ‘क्रियते’ (ऋ ३, ४१, ३), ‘उच्यते’ (ऋ. ३, ५७, ५) आदि। लड् में अड्-आगम सर्वत्र उदात्त होगा।

णिजन्त-प्रक्रिया में धातु-स्वर^१ से णिच्-प्रत्ययान्त धात्वश अन्तोदात्त होगा। शेष पित् तथा अपित्-लसार्वधातुक की स्वर-प्रक्रिया का अनुगम भ्वादि-गण के समान है। जैसे—‘कृष्याति’ (ऋ. १०, २, ४), ‘पतयन्ति’ (ऋ १, १३५, ६), ‘पुतयन्त’ (ऋ १ १६६, ७), ‘पातयन्ते’ (ऋ ८ ४६, १८), ‘गमयेत्’ (मै १, ८, ५), ‘जुनयन्’ (ऋ. १, ३२, ४), ‘जुनयन्ती’ (ऋ. १०, १२१, ७) आदि।

सन्नन्त-प्रक्रिया में इच्छार्थक ‘सृ’ प्रत्यय नित् (‘न्’ की इत्संज्ञा वाला) है। अतः नित्-स्वर^२ से ल-सार्वधातुक में आशुदात्तत्व होगा। जैसे ‘चिर्हीयति’ (शौ ५, ८, ३) ‘बभूवति’ (मै १, ५, ८) आदि।

यङन्त प्रक्रिया में पीछे लिख आए हैं धातु-स्वर से यङ्-अन्त भाग को अन्तोदात्तत्व होगा, ल-सार्वधातुक प्रत्यय ल-सार्वधातुक-अनुदात्त की प्रक्रिया से अनुदात्त होंगे, और मध्योदात्त क्रिया-शब्द यद्वेगेंगे। जैसे—‘वेदिग्यते’ (ऋ १, ८१, १४), ‘नेत्रोषते’ (मा. ३४, ९) आदि।

यद्लुगन्त-प्रक्रिया में योग्यतानुसार पित् और अजादि-लसार्वधातुक प्रत्ययों में अथ्यस्त-स्वर^३ से आशुदात्त होगा। जैसे—

१ धातो (पा ६, १, १६२)। २. म्निवादिभिष्यम् (पा ६, १, १३०)।
३. अथ्यस्तानामादि, अनुदात्ते च (पा ६, १, १८१, १६०)।

'नर्नमीति' (श्रु. ५, ८३, ५), 'नर्नमीति' (तै. ४, ७, १२, २), 'वर्निकन्ति' (श्रु. ६, ४३, ५), 'वर्निकन्त' (श्रु. ६, ६०, ६), 'कर्नित्' (श्रु. १, १३१, ३), 'जहन्त' (श्रु. ६, ६६, २४), 'नर्नमत्' (श्रु. ८, ४३, ८), 'नर्नमाने' (श्रु. १०, ८२, १), 'नर्नमाने' (तै. ४, ६, २, ४) आदि ।

नाम-धातु के क्यच्, क्यङ्, काम्यच् आदि प्रत्ययों से तदन्त भाग की 'सनाधन्ता धातवः' (पा. ३, १, ३२) सूत्र से धातु-संज्ञा होकर पित् प्रत्ययों में पित्-स्वर से प्रत्यय के और मध्यवर्ती विकरण के अनुदात्त हो जाने से तथा 'बुवायते' (श्रु. १, ५५, २) आदि अ-पित् प्रयोगों में ल-सार्वधातुक निघात से प्रत्यय अनुदात्त हो जाने के कारण धातु-स्वर से धातु का अन्त्यावयव 'य' उदात्त होगा । जैसे—'पुत्स्यति' (श्रु. ६, ५३, ३) 'पुत्स्यसि' (श्रु. १, ५४, ४) 'नस्यति' (श्रु. १, ३६, ६) आदि । 'द्वेषन्त' (श्रु. ३, ९, १) आदि शत्रन्त शब्दों में तथा 'ओज्जयमानम्' (श्रु. २, ११, ११) आदि शानञ्-अन्त शब्दों में यही न्याय होगा । और शत्रन्त से अजादि 'शब्' आदि विभक्तियों में विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्त रूप निष्पन्न होंगे ।

(घ) आर्धधातुक-स्वर

आर्धधातुक-स्वर में गण-भेद नहीं है । किसी भी गण की धातुओं से आर्धधातुक प्रत्यय समान रूप में होते हैं । लिट्, लुट्, लृट्, लेट् (सार्वधातुक लेट् का विवेचन भ्वादि-गण के तुल्य ऊपर गतार्थ हो चुका है) आशीर्लिङ्, लुङ्, लृङ् इन लकारों में आर्धधातुक-संज्ञा का अवकाश है ।

परस्मैपद में लिट् लकार के प्रथम-पुरुष तथा उत्तम-पुरुष के एकवचन में लिङ् प्रत्यय को 'णल्' आदेश^१ होता है । लिट् ('ल्' की इत्संज्ञा वाला) होने के कारण द्वित्वापन्न धातु का 'णल्' से अनन्तरपूर्ववर्ती अंश लिट्-स्वर^२ से उदात्त होगा । जैसे—'जुजान' (श्रु. २, १२, ३), 'जुजान' (श्रु. २, १२, १०), 'बभूव' (श्रु. २, १२, ६) आदि । अतुस्, उस्, अथुस्, अ, व, म प्रत्ययों (तिङादेशों) में प्रत्यय-स्वर^३ होगा । अतुस्, अथुस् द्वचत्तर हैं, इसलिए प्रत्यय-स्वर से आशुदात्त होगा । अर्थात् मध्योदात्त प्रिया-शब्द

१. परस्मैपदानां णल्लुप्तस्यङ्गुसणत्वमा (पा. ३, ४, ८२) । २. लिति (पा. ६, १, १३३) । ३. आशुदात्तरप (पा. ३, १, ३) ।

होगा। जैसे—'बभ्रुवहुः' (ऋ. ६, ६२, ५), 'चक्रथुः' (ऋ. १, ६२, १; ७, ८२, ५)। उस्, अ, व, म एकाक्षर हैं, इसलिए प्रत्यय-स्वर से भी क्रिया-शब्द अन्तोदात्त होंगे। जैसे—'यामूधुः' (ऋ. २, २०, ४), 'चक्र' (मै. ४, १४, १) 'चुकुमा' (ऋ. १, ३१, १८) आदि। 'धल्' में लित्-स्वर से मध्योदात्त होगा। 'चक्रथं' (ऋ. १, ६६, ४), 'बभ्रुविथ' (ऋ. ८, ३३, १६)।

आत्मनेपद में 'एश्' प्रत्यय का स्वर होगा—'चक्रे' (ऋ. १, २५, १५) 'भेजे' (ऋ. ७, १८, १६) आदि। आताम्, आथाम् में प्रत्यय-स्वर से 'आ' उदात्त होकर मध्योदात्त क्रिया-शब्द होंगे। जैसे—'भेजाते' (ऋ. ७, ३६, १), 'चक्रायें' (ऋ. १, १०८, ३)। 'इरेच्' में चित्-स्वर से अन्तोदात्तत्व होगा। जैसे—'चक्रिरे' (ऋ. १, ४०, ५), 'भेजिरे' (शौ. १२, १, २३)। 'धाष्' के स्थान में 'से' आदेश प्रत्यय-स्वर से उदात्त होगा। जैसे—'चक्रिषे' (ऋ. १, ५२, १२)। वहिङ्, महिङ् प्रत्यय-स्वर से आद्युदात्त होंगे।

जहां आदन्त धातुओं से परे 'णल्' को 'ञी' आदेश हो जाता है, वहां प्रत्यय-स्वर से 'ञी' उदात्त होगा। जैसे—'पुषी' (ऋ. १, १६२, १४)।

'दंशे' (ऋ. ५, ४४, ६) आदि कतिपय विलक्षण क्रिया-शब्द हैं, जहां अभ्यस्त-स्वर से आद्युदात्तत्व सिद्ध करने के लिए लिट् लकार में तिङ्-देश को भी छान्दस सार्वधातुक मानकर अजादि-लसार्वधातुकत्व की व्यवस्था करनी पड़ती है। परन्तु वेद में ऐसे शब्द अपूर्व नहीं। श्नु-विकरण सदा ल-सार्वधातुक में होता है। वेद में 'शुञ्चिरे' (ऋ. ८, ५३, ३) इस लिट् के रूप में श्नु-विकरण उपलब्ध है। जिसकी सिद्धि के लिए लिट् लकार में भी लसार्वधातुकत्व माने बिना निर्याह नहीं होता।

लुट् लकार में सदा 'तासि' विकरण उदात्त रहेगा, यह पूर्व कहा जा चुका है। जैसे 'भवितात्म' (शत्रु. १२, ८, ३, ७)। शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न निम्न रेखा (—) है।

एट् लकार में मध्यवर्ती स्य-विकरण को उदात्त होगा। जैसे—'कुरिष्यमि' (ऋ. १, १, ६), 'भविष्यति' (ऋ. १०, ८६, ७), 'पृषयामि' (ऋ. ६, ६, ९), 'जृनिष्यमांयम' (मा. १८, ५) आदि।

आशीलिङ् में यामुट्-आगम उदात्त होगा। जैसे—'भूयाम्य'

१. ब्रिटिशम्योरेतिरेष् (पा. ३, ४, ८१)। २. ङिः (पा. ६, १, १६३)।

३. भाग बी षष्ः (पा. ७, १, ३४)।

(तै ४,३,११,३), 'भूवास्म' (मै २,१३,१०)। मैत्रायणी-शास्त्र में उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व रेखा है।

लुङ् में अङ्-आगम उदात्त रहेगा। जैसे—'अभूत्' (ऋ. १,४६,१०) आदि। लुङ् में भी अङ्-आगम उदात्त होगा।

४. उदात्त-स्वर

एकाक्षर नौ प्रादि—प्र, सम्, निस्, दुस्, वि, धा, नि, सु, उद्, उदात्त स्वर-युक्त हैं। यह आद्युदात्त आदि की गणना में नहीं आ सकते (विस्तृत विवेचन 'गति-स्वर' के प्रकरण में पढ़ें)।

निपातों की इयत्ता का यथार्थ ज्ञान तो असम्भव है, परन्तु आचार्यों ने शास्त्रों के निरन्तर अद्यगाहन के पश्चात् कुछ सख्या का पता लगाया है। ऋग्वेद के महान् भाष्यकार आचार्य वेङ्कटमाधव का प्रयास इस दिशा में अत्यन्त प्रशंसनीय है। उन्होंने ऋग्वेद (३,७,१) की अपनी भाष्य-भूमिका में निपातों की इयत्ता तथा उनके स्वर की स्थिति का विशद चित्रण किया है^२। उनमें एकाक्षर कतिपय निपात उदात्त स्वर-युक्त हैं। जैसे—'न' (ऋ १,५८,२३) आदि। उपमा या प्रतिषेध आदि अर्थों में 'न' निपात उदात्त है।

१ लुङ् लृङ् लृङ् च लृङ् च लृङ् च लृङ् च (पा ६,४,७१)।

२ इयत्ता इति सख्यान निपातानां न शक्यते।

उपसर्गास्तु विज्ञेया क्रियायोगेषु विंशतिः ॥

निपाता — ^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८} अलु काम वै पृथङ् नाऽच्छा सचा पुन ।

^{९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७} शरयन्वत्तं दिवा माकिर्यधेत् इति सद मुहु ॥

^{१८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७} आदधाऽद्य भियू शीर्भे वृषा स ज्योग् ऋधक् वृषक् ।

^{२८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७} हिरुक् श्रीपडर वट् तु किञ् हन्त नकिन्विह ॥

^{३८ ३९ ४०} अथो यदि नमस्तेऽमी चत्वारिंशद् उदाहता ।

आद्युदात्ताश्च सर्वेऽमी सख्यन्येऽपि च तादशा ॥

^{१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०} नामेदाशु वरट् स्वाहा नाना जोष स्मदन्ति कम् ।

^{११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २०} शन सामि हि मा वलि माळी माळी स्नेमि तात् ॥

आचार्य वेङ्कटमाधव (ऋ. १,७०,३-४) ने 'न' को समुच्चयार्थक भी माना है। भाष्यकार रुन्दस्वामी ने पदपूर्णाार्थक भी माना है। ऐसे ही प्रतिषेध अर्थ में 'भा' (ऋ. १,५,१०) उदात्त है।

एकाक्षर उपसर्ग तथा निपातों के अतिरिक्त एकाक्षर त्यद्, तद् आदि सर्वनाम शब्दों के विभक्त्यन्त रूप 'त्यम्' (ऋ. १,६१,१५) आदि सद्य उदात्त-स्वर से युक्त हैं।

गो, त्मन्, यो, इप्, दिव्, विश् आदि शब्दों के विभक्त्यन्तों में एकाक्षर उदात्त होंगे, और द्व्यक्षर योग्यतानुसार आद्युदात्त और अन्तोदात्त भी होंगे। जैसे—एकाक्षर—'त्मन्' (ऋ. ४,४,६) उदात्त, और द्व्यक्षर 'त्मन्' (ऋ. १,२०,१४) 'त्मनि' (ऋ. १,१५८,४) आद्युदात्त। यहाँ 'मात्मन्' शब्द के आद्यक्षर 'मा' का 'म-त्रेष्वाहवादेरात्मनः' (पा. ६,४,१४१) सूत्र से लोप हो गया है। 'त्मन्' रूप में यद्यपि 'आङ्' पर में नहीं, परन्तु 'आङोऽन्यत्राऽपि छ दसि लोपो दृश्यते' (काशिका ६,४,१४१) इस नियम से आदि के 'आ' का लोप हो गया है।

५. आद्युदात्त-स्वर

परां, अपं, अनुं, अवं, अधिं, अपिं, अतिं, प्रतिं, परिं, उर्प यह दस उपसर्ग आद्युदात्त हैं। जैसे—अनुं (ऋ. १,१८७,४) अपिं (ऋ. १, १८६,१) 'उर्प' (ऋ. १,२,६) आदि।

२० २१ २२ २३ २४ २५ २६
भूपत्यं मृपा ह्यः श्रजको वस्तोः पङ्विंशतिः ।

अन्तोदात्ता निपातेषु—ननु नूनं स्वयं पुरा ॥

५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३
उतापिरेव मदिन्त्या पत्रादेवम् अमा तिरः ।

१४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२
प्रातरुवाऽङ्ग सुष्ठ्वद्धा कुवित् सद्य इह मियः ॥

२३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३०
साकमारात् सह चिरमन्तर् आशु सनाद् ऋते ।

३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८
अन्तरा सनुत. स्वस्ति चनाऽऽरेऽशाऽनुपक् पुमः ॥

३९ ४०
दोषा साय चरवारिंशत्, सन्ति षाये च तादशाः ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
दिद् सरो हुर्क पराचैः शनैर्मिथुया मृपु ॥

९ १०
सस्वर, ईपादना तेऽमी दरा सन्ति तथाऽपरे ।

[निपातों में भी दो अक्षर वाले कतिपय निपात आद्युदात्त : जैसे—'अच्छ' (ऋ. १,२,२ प्रभृ.) 'अध' (ऋ. १,१८६,६) आदि विस्तार वेङ्कटभाष्य-भूमिका में (टिप्पण में) देखें।

[अत्यं (ऋ. २,३०,११), सूर्यः (ऋ. १,२३,७) आदि क्य प्रत्ययान्त शब्दों में, उत्तरम् (ऋ. २,२३,८), नूतनस्य^१ (ऋ. २,२,४ नूतनः^१ (ऋ. ७,१८,२०) आदि तद्धित शब्दों में आद्युदात्त होंगे क्योंकि सर्वत्र प्रत्यय पितृ होने के कारण अनुदात्त होंगे और शेष प्रकृत्यंश ही उदात्त रहेगा।]

इन्द्राय (ऋ. ३,३६,७), ऋषिः (ऋ. १,३१,१) आदि उणादि निष्पन्न शब्द भी आद्युदात्त होंगे।

वैदिक शब्दों में आद्युदात्त शब्दों की इयत्ता का निर्देश अतन्म है। ऐसे अनन्त आद्युदात्त शब्द हैं। पाणिनीय-अष्टाध्यायी के स्व प्रकरण में आद्युदात्तत्व-विधायक कतिपय नियम धताये गए हैं जिन आद्युदात्त शब्द सिद्ध होते हैं। >

६. आद्युदात्त-स्वर-विधायक-नियम

१. सिच्-अन्त (लुङ् लकार में 'क्वि' विकरण के स्थान में 'सि' आदेश जिसके अन्त में हो) क्रिया में विकल्प से आद्युदात्त होते हैं। जैसे—यद्वेव ज्ञोत्रो जनिष्ठाः (ऋ. १,६८,२), जनिष्ट हि जेभ्यो व (ऋ. ५,१,५), यथा नर्व जनिष्टारगी (ऋ. ५,६,३), छात्रा यमग्नि पृथि जनिष्ठम् (ऋ. १०,४६,६) इत्यादि उदाहरणों में 'जनिष्ठाः, जनिष्ठा जनिष्ठम्' क्रियाओं में स्पष्ट आद्युदात्त हो रहा है। क्योंकि 'हि' तथा 'वर', 'वर्षा', 'पम' (यद्-भृत्) इन शब्दों के योग में तिङन्त क्रियाओं को अतिङन्त से परे सर्वानुदात्त होने का नियम^२ बाधित हो जाता है।

विकल्प-पक्ष में इस सूत्र से आद्युदात्त न होकर प्रत्यय-स्वर ३ तिङ्-विकृति में अन्तोदात्त अवण होगा। जैसे—यासिष्ठं शतित्वंपर (ऋ. १,११६,४)।

२. स्वप्-आदि (अदादिगणी √स्वप्, √स्वस्, √अन √जत्, √जात् आदि) तथा √हिस् धातु की विकल्प से

१. नवत्य न् आदेशः यतनप्लुथि प्रथया यत्पदाः (पावा. ५,४,२५)
२. आदिः सिचोऽन्यत्रास्याम् (पा. ६,१,१८७)। ३. तिङ्-विकृतिः (पा. ८,१,२८)।

आद्युदात्त होता है, यदि इडादि-भिन्न (जिनके आदि में इट्-
आगम नहीं हुआ है) अजादि (जिनके आदि में अच् ८ अ इ उ
आदि स्वर वर्ण हैं) कित् ('क्' की इत्संज्ञा वाले) और डित्
(‘ड्’ की इत्संज्ञा वाले) ल-सार्वधातुक प्रत्यय परवर्ती हों। जैसे—
स्वर्षस्वस्यै ज्ञातयः (शौ. ४,५,६) यहां लोट् लकार के प्रथम-पुरुष
के बहुवचन में इड्-आगम से रहित तथा अ-पित् सार्वधातुक होने
के कारण डित् प्रत्यय परवर्ती होने के कारण √स्वप् धातु को
आद्युदात्त हो रहा है।

‘ये च भूतेषु जाप्रति’ (शौ. १६,४८,५) । यहां √जागृ धातु
की अभ्यस्त-संज्ञा होने के कारण ‘कि>अति’ ल-सार्वधातुक
प्रत्यय हो रहा है। क्योंकि अदादिगणी √जत् आदि
छः धातुओं की अभ्यस्त-संज्ञा होकर, ‘अदभ्यस्तात्’ (पा. ७,१,४)
सूत्र से अभ्यस्त से परे ‘कि’ के ‘क’ भाग को ‘अत्’
आदेश होने का नियम है। यहां √जागृ धातु को आद्युदात्त
हुआ है। विकल्प-पक्ष में जहां धातु को आद्युदात्त न होगा,
वहां सति-शिष्टस्वर से प्रत्यय-स्वर होगा, जैसे—उतादित्वा जागृत
युपमस्मिन् (शौ. १,३०,१), संत्वां शिशामि जागृहि (श्रु. १०,८७,२४)
इत्यादि में ‘जागृत’, ‘जागृहि’ दोनों स्थलों में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त
हुआ है। क्योंकि अजादि ल-सार्वधातुक परवर्ती न होने के कारण
आद्युदात्त संभव नहीं है। धातु के आद्युदात्तत्व में परवर्ती ल-सार्वधातुक
का कित् या डित् होना परमावश्यक है। इसी लिए उसके विपरीत
जहां पर मे ल-सार्वधातुक अजादि न होगा और पित् (तिप्, सिप्,
मिप्) होगा, वहां प्रस्तुत सूत्र-नियम तो चरितार्थ होगा नहीं, इसलिए
मध्योदात्त क्रिया-शब्द धनेगा। क्योंकि पित् ल-सार्वधातुक प्रत्यय पर
में पूर्ववर्ती √भी ‘भये’, √ही ‘हज्जायाम्’, √भृ ‘धातृपोषयोः’, √हु
‘दानादयोः’ √मद्, √जन्, √धन, √दरिद्रा और √जागृ धातुओं
को उदात्त हो जाता है। जैसे—यां प्रथमां दीक्षितो रीत्रिं जागति (शै. ३,
६,३) इस प्रयोग में ‘ग’ पर मध्योदात्त स्वर है। स्मरण रहे
मैत्रायणी-संहिता में उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है। उक्त उदाहरण

१. स्वषादिहिसामव्यतिष्ठि (पा. ६,१,१८८) । २. सार्वधातुकमपित्
(पा. १,२,४) । ३. जज्ञिष्यादपः पट् (पा. ६,१,६) ४. भोद्दीष्टुहमदजन-
धनदरिद्राजागरो प्रत्ययात् पूर्व पिति (पा. ६,१,१६२) ।

में ऊर्ध्व-रेखा वाले सप्त शब्द उदात्त हैं। यह तो ✓स्वप् आदि धातुओं का विवरण है। (पृष्ठ १०० पर तिङन्त-स्वर में अदादि-गण के ल-सार्वधातुक-स्वर के विवेचन में भी यह उदाहरण प्रस्तुत किये जा चुके हैं)।

✓हिस् धातु रुधादि-गण की है उक्त सूत्र नियम में इस धातु का विशेषत उल्लेख होने के कारण धातु में आद्युदात्तत्व का श्रवण होगा। जैसे—न य हिंसन्ति धीतय (ऋ. ६,३४,३)।

३. प्रत्यय को आद्युदात्त होता है^१। यदि प्रत्यय में दो अक्षर होंगे तभी आद्युदात्तत्व का यथार्थ दर्शन होगा। जैसे—गन्ति (ऋ. १, ३७, १३), ग्यति (ऋ. ५, २३, ३), मन्ति (ऋ. ८, ८४, ६) आदि प्रयोग क्रम से अदादि-गणी ✓या 'प्रापणे', ✓वी 'गत्यादिपु', ✓हन् 'हिसागत्यो' धातुओं से ल-सार्वधातुक भि०अन्ति प्रत्यय से निष्पन्न है। सति-शिष्टस्वर से 'अन्ति' प्रत्यय आद्युदात्त हो रहा है। शेष अक्षर 'न्ति' के अनुदात्त हो जाने से, उदात्त से परवर्ती होने के कारण उस अनुदात्त को स्वरित^२ हो गया है जो ऊर्ध्वरेखा (') से चिह्नित है। जहाँ एकाक्षर प्रत्यय हैं, वहाँ आद्यन्तभाव से एक ही अक्षर में आद्युदात्तत्व की कल्पना करनी होगी। जैसे—धीथ (ऋ. १, १५१, ७) आदि में मध्यम-पुरुष के द्विवचन में 'थन्' इस एकाक्षर ल-सार्वधातुक प्रत्यय को भी सति-शिष्टस्वर से प्रत्यय-स्वर होकर अन्तोदात्त क्रियारूप निष्पन्न हुआ है।

४. इड्-आगम (आर्धधातुक प्रत्ययों में बल-आदि प्रत्यय परे होने पर इट्-आगम होता है^३) से रहित अजादि ('अच्' स्वरवर्ण आदि वाले) ल-सार्वधातुक प्रत्यय परवर्ती होने पर अभ्यस्त धातु को आद्युदात्त होता है^४। जैसे—ये ददति श्रिया वसुं (ऋ. ७, ३२, १५)। इस प्रयोग में ✓दा 'दाने' धातु के लट् के प्रथम-पुरुष के बहुवचन में भि०अति प्रत्यय से 'ददति' रूप निष्पन्न हुआ है। धातु के द्वित्वापन्न रूप (✓दा>ददा) की अभ्यस्त-सङ्गा^५ है, अभ्यस्त रूप से अनन्तर परे में ल-सार्वधातुक 'भि' प्रत्यय को 'अति' आदेरा है, जो कि स्पष्ट

१. धातुदात्तश्च (पा. ३, १, ३)। २. उदात्तापनुदात्तस्य स्वरित (पा. ८, ४, ६६)। ३. आर्धधातुकव्येड् वलादे (पा. ७, २, ३५)। ४. अभ्यस्तानामादि (पा. ६, १, १८६)। ५. उमे अभ्यस्तम् (पा. ६, १, ५)।

अजादि ल-सार्वधातुक है। ददा + अति इस स्थिति में घात्वंश 'आ' का लोप हो गया है^१, और दद् + अति = ददति बना है। यहाँ अजादि 'अति' परे होते अभ्यस्त 'ददा' के आद्यक्षर 'द' को इस सूत्र-नियम से आद्युदात्त हुआ है।

ऐसे ही षडोपधीर्जिहते (ऋ. ५, ८३, ४) में √ओहाङ् 'गती' के लट् लकार में प्रथम-पुरुष के बहुवचन में आत्मनेपद में ऋ > अते (अजादि लसार्वधातुक) प्रत्यय परे रहते 'जिहा' इस अभ्यस्त रूप के आद्यक्षर 'जि' पर आद्युदात्त है।

ऐसे ही 'शत्' (अत्) 'शानच्' (आन) इन अजादि ल-सार्वधातुक प्रत्ययों के परे रहते भी अभ्यस्त धातुओं को आद्युदात्त होगा। जैसे—'पुनर्दंता' (ऋ. ५, ५१, १५) में दंता। घनिष्णत् (ऋ. ६, ६०, ६) में घनिष्णत्, दधाना इन्द्र इदुर्धः (ऋ. १, ४, ५) में 'दधानाः', 'चित्रं कृतुं कृणुते चैकिताना (ऋ. १, ११३, १५) में 'चैकिताना' क्रम से √दा, और √हन् धातु के यङ्-लुगन्त घनिहन् तथा √धा, एवं √कित् से रूप निष्पन्न हैं। सर्वत्र आद्युदात्त है। यद्यपि शानच् प्रत्यय में 'ष्' की इत्संज्ञा होने से चित्-स्वर^२ से अन्तोदात्तत्व प्राप्त है, परन्तु विशेषविहित होने के कारण आद्युदात्त ही होगा।

५. यदि ल-सार्वधातुक प्रत्यय अजादि न हों, और अनुदात्त प्रत्यय परे हों तो भी अभ्यस्त को आद्युदात्त होता है^३। जैसे—'मिमाति मायुम्' (ऋ. १, १६४, २८) यहाँ पर √मा धातु से तिप् (पित् लसार्वधातुक) परे रहते अभ्यस्त को आद्युदात्त हुआ है। तिप्, सिप्, मिप् प्रत्यय पित् होने के कारण अनुदात्त होते हैं^४।

६. सर्व शब्द सर्वनाम-संज्ञक है और काशिकाकार ने अन्तोदात्त शब्द माना है। अन्तोदात्तत्व में प्रमाण 'सर्वस्य विकारः सर्वः' प्रस्तुत किया है और 'अनुदात्तादेश्' (पा. ४, २, ४४) से विकार अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय से सिद्ध किया है। क्योंकि अन्तोदात्त द्व्यक्षर शब्द ही अनुदात्तादि हो सकता है। सर्वग्रन्थः (शौ. ११, ६, २४) आदि बहुव्रीहि समास के प्रयोगों के पूर्व-पद में अन्तोदात्तत्व (प्रकृतिस्वर) का ही श्रवण इसमें उपपादक हो सकता है। कर्मधारयसमास में 'सर्व'

१. श्नाभ्यस्तयोरात्: (पा. ६, ४, ११२)। २. चित्: (पा. ६, १, १६३)।

३ अनुदात्ते च (पा. ६, १, १६०)। ४. अनुदात्तो सुप्तिता (पा. ३, १, ४)।

गुणकार्त्स्न्ये' (पा. ६,२,६३) सूत्र से पूर्व-पद में अन्तोदात्तत्व का विधान इसमें सहायक नहीं है। परन्तु सुप् (सु, औ, जस् आदि) विभक्ति पर में हो तो सर्व शब्द को आद्युदात्तत्व हो जाता है^१। जैसे—सर्वः (ऋ. १,४१,२), सर्वम (ऋ. १,२६,७), सर्वस्य (ऋ. १०, १३७,६), सर्वा (ऋ. १,१२६,७), सर्वाः (ऋ. १,१८८,८), सर्वांस् (ऋ. १, १६१,८), सर्वाण्यः (ऋ. २,४१,१२), सर्वांसाम् (ऋ. १,१२७,८), सर्वे (ऋ. १,१६१,३) आदि।

समास में पूर्वपद-प्रकृतिस्वर के उदाहरण भी मिलते हैं, वहां अन्तर्वर्तिनी सुप् विभक्ति मानकर आद्युदात्त शब्द की कल्पना करनी होगी। जैसे—सर्वसेनः (ऋ. १,३३,३), सर्ववीरः (ऋ. ३,६२,३) आदि।

७. लित् (जिसमें 'ल्' की इत्संज्ञा होती है) प्रत्यय पर में हो तो पूर्व धात्वंश को आद्युदात्त होता है^२। जैसे—ल्यु—वर्धनम् (ऋ. २, १२,१४)। √वृष् धातु से कर्ता अर्थ में 'ल्यु' प्रत्यय हुआ है^३। प्रत्यय के आदि के 'ल्' की इत्संज्ञा होकर^४ शेष 'यु' को 'घन' आदेश हो जाता है^५। √वृष्+यु>घन=वर्धन। ल्यु प्रत्यय यद्यपि धातु-स्वर की अपेक्षा सति-शिष्ट होने से बलवान् है, परन्तु इस सूत्र से विशेष विधान होने के कारण धात्वंश को उदात्त हुआ है। घरणः (ऋ. २, २४,७)। ल्युल्—जग्मन् (मा. ३०,१६)। √जभि 'शाश्विनामे' से कर्ता में 'ल्युल्' प्रत्यय हुआ है^६। अन्त्य 'ल्' की इत्संज्ञा होकर^७ 'यु' को 'अक' आदेश हुआ है^८। √जग्म्+यु>अक=जग्मन्। यहां पर भी लित् प्रत्यय के परे होने के कारण आद्युदात्त है। ल्युद्—भोजनम् (ऋ. १,८३,४; २,१५,२) यहां √भुज् धातु से भाव-कर्म में 'ल्युद्' प्रत्यय हुआ है। शेष 'ल्यु' जैसे जानना। ऐसे ही वरणम् (ऋ. ५,३१,७) शब्द √कृ+ल्युद् से निष्पन्न है।

(८. अजन्त धातुओं को कर्ता अर्थ में 'क्' प्रत्यय परे होने पर विकल्प से आद्युदात्त होता है^९)] कर्मकर्तृ-प्रक्रिया में यह नियम

१. सर्वस्य सुप् (पा. ६,१,१६१)। २. जिति (पा. ६,१,१६३)।
३. नन्दिग्रह्णिषादिभ्यो ल्युखिन्यचः (पा. ३,१,१२४)। ४. जश्चत्तिते (पा. १,३,८)। ५. युवोरनाकौ (पा. ७,१,१)। ६. ल्युल्पूर्वा (पा. ३, १,१३३)। ७. इक्षत्यम् (पा. १,३,३)। ८. अक्ः कर्तृवकि (पा. ६, १,१६५)।

चरितार्थ होता है। जैसे—यो जिनाति न जीयते (ऋ. ६, ५५, ४), न जीयते कर्वाचन (ऋ. १०, १५२, १) ✓जि धातु से कर्मकर्तृ-प्रक्रिया में प्रथम-पुरुष के एकवचन में आत्मनेपद तथा 'यक्' आगम करके यह रूप बना है। यहाँ दीर्घ हुए 'जी' इस धात्वंश को 'य' प्रत्ययाश परे आद्युदात्त हुआ है। इसी का अथर्ववेद (१, २०, ४) में पाठ-भेद 'जीयते' यह मध्योदात्त शब्द है। जहाँ विशेष विहित होने के कारण 'यक्' विकरण का स्वर हुआ है। सायणाचार्य जी ने अपने ऋग्वेद और अथर्ववेद के भाष्य में दोनों जगह 'न च शत्रुभि पराजितो भवति' यह अर्थ किया है। इस लिए निर्दिष्ट उदाहरण सूत्र-नियम का और पाठ-भेद से पदान्तर में मध्योदात्तत्व का भी उपपादक हो जाता है। ऐसे ही 'युदा वा जीयेरन्' (तै. ७, २, १, ४) यह भी इसी सूत्र-नियम का उदाहरण है।

६. वित् (जहाँ 'ञ्' की इत्संज्ञा हुई है) और नित् (जहाँ 'न्' की इत्संज्ञा हुई है) प्रत्यय परे होने पर (शब्द या क्रिया में) नित्य आद्युदात्त होता है^१। जैसे वित्—यन् प्रत्यय^२—दैव्यं (ऋ. १, २७, १२), दैव्यं (ऋ. १, ३१, १७), दैव्याय (मा. १, १३)। अन्—दैव (शौ. ७, १२, १), दैवेन (मा. ३७, १५), पार्थिवात्^३ (ऋ. १, ६, १०), और्दुम्बरेण^४ (शौ. १६, ३१, १), और्दिगाहाय^५ (मा. २६, ६०) आदि में देव आदि शब्दों से 'अन्' प्रत्यय हुआ है। 'ञ्' की इत्संज्ञा होने से प्रत्यय वित् है, और इसी लिए शब्द के आद्यक्षर को निर्दिष्ट नियम से आद्युदात्तत्व हुआ है। ऐसे ही और्द्याय (तै. ७, १, ८, १), भारद्वाज (ऋ. ६, ५१, १२) इन दोनों शब्दों में अपत्य अर्थ में 'अन्' प्रत्यय है^६। इन्—और्हालकि (तै. ७, २, २, १) शब्द उदात्तक शब्द से अपत्य अर्थ में बना है। जानकम् (तै. २, ३, ८, १) जनक शब्द से अपत्यार्थ में। प्यत्र^७—और्षद्वेषाय (मा. ३०, १३) उप-द्रष्टृ शब्द से। बाष्पाति (ऋ. १९६, १) फवि शब्द से। जारुग्वाय (मा. ६, ४०) जन-राज शब्द से। वस्मिन् विस्वानि पौत्वा (ऋ. १, ५, ६) पुस्-शब्द से कर्म अर्थ में प्रत्यय हुआ है^८। ऐसे ही तद्विषय के संपूर्ण वित्-प्रत्ययों में

१. कर्मवर् कर्मणा सुदयमिय (पा. ३, १, ८७)। २. विन्प्यादि-नियम (पा. ६, १, १९७)। ३. देवाद् यजनी (पाया. ४, १, ८५)। ४. श्विषया जानी (पाया. ४, १, ८५)। ५. वृतादिग्योऽन् (पा. ४, १, ८६)। ६. अनुप्याज-तयै विदादिग्योऽन् (पा. ४, १, १०४)। ७. धा इत् (पा. ४, १, १५)। ८. गुणवचनमाहणादिभ्य कर्मणि च (पा. ५, १, १२४)।

यही स्थिति है। व्य^१—गार्हपत्येन (ऋ १,१५,१२)। कृदन्त शब्दों में घञ्—भोगे (ऋ. १,१६३ ७)। रोगे (शौ ६,४४,१), मोर्दा (ऋ ६, ११३,११) आदि। उकञ्—कामुका (तै ६,१,६६), हार्हका (तै. ५, ६,४,५), घातुक (शौ १२,४,७) आदि।

इसी प्रकार नित्—मनिन्^२—कर्मण (ऋ १,११,४), ब्रह्म (ऋ २,१८,७)। वृन्—कर्त्ता (ऋ. २,३४,६), जनिता (ऋ ३, १,१२)। तोसुन्—कर्त्ता (ऋ १,११५,४), जनिता (ऋ ४, ६,७)। कृत्यार्थे त्वन्—जनित्वम् (ऋ. १,६६,४)। तवेन—सर्ववे (ऋ २,१८,१२), यातवे (ऋ १,३७,१०), हवीतवे (ऋ ८,१०१,४), कर्त्तरे (ऋ १,८५,६)। तुमुन्—कृतुम् (मै ४,६,८)। असेन्—श्वसे (ऋ २,१०,६)। किन्—जज्ञि (ऋ. ६,६१,२०), चक्रे (ऋ. १,६,२)। शध्यन्—विश्वे (ऋ १,८१,४)। श्यन्—जायते (ऋ १,३१,११), युध्यमाना (ऋ. २,१२,६)। अमुन्^३—नम (ऋ. २,२१,२), सुते र्वधिञ्च मुश्चर्न (ऋ १,३,६) यहा चर्न शब्द चनस् (=अ-न) से नित् होने के कारण आद्युदात्त है। सन्—जिघांसति (ऋ २,२३,१२) सन्नन्त √हन् धातु से। चिकीर्षति (शौ ५,८,३) सन्नन्त √कृ धातु से। शानन्^४—पर्वमानम् (ऋ ६,१३,१२)। वर्जमानात् (ऋ. २,१८,३)। इण्ठन्—कारिष्ठ (ऋ ७,६७,७) कर्त्तृ-शब्द से अतिशय अर्थ में 'इण्ठन्' प्रत्यय है। यजिष्ठ (ऋ १,७७,१) यण्टृ-शब्द से। इसी प्रकार नर्विष्टया (ऋ १,८२,२) नव-शब्द से। ईयमुन्—नर्वीयसा (ऋ. १,१२,११) आदि सपूर्ण कृदन्त तथा तद्धितान्त चित्, नित् प्रत्ययों में इस सामान्य सूत्र नियम से आद्युदात्त शब्दों की निष्पत्ति होती है। इसी नियम को चित् स्वर तथा नित्-स्वर कहते हैं।

१०. पद से परे न हो और पाद के आदि में स्थित हो (चाहे अविद्यमानवद्भाव से ही क्यों न सपन्न हुआ हो) ऐसे आमन्त्रित (संबोधन) का आद्यक्षर उदात्त होता है^१। जैसे—अभिना यवंगीरिष (ऋ. १,३,१), वायुवार्धाहि दर्शात (ऋ १,२,१), इन्द्र वाजेषु नोऽत्र (ऋ. १, ७,४) यहा 'अभिना', 'वाया', 'इन्द्र' इन पाद के आदि में स्थित

१ गृहपतिना ससुक्ते व्य (पा ४, ४, २०) । २ सर्वधातुभ्यो मनिन् (उणादिसूत्र ४, १४२) । ३ सर्वधातुभ्योऽमुन् (षष्ठादिसूत्र ४, १८६) । ४ पूज्यज्ञो शानन् (पा ३, २, १२८) । ५ आमन्त्रितस्य च (पा ६, १, १२८) ।

प्रत्यय (पा. ३,३.५६) करके 'जवं' शब्द निष्पन्न है। सिद्धान्तकौमुदी में 'जष्यनेन जयोऽरवः' यह उदाहरण लौकिक है, वैदिक नहीं।

१५. जो कोई शब्द वेद में आद्युदात्त उपलब्ध होता है, और उसकी सिद्धि के लिए कोई विशेष सूत्र नहीं है, ऐसे आद्युदात्त शब्दों का अनुगम करने के लिए वृपादि-गण में पाठ मान लेते हैं। क्योंकि वृपादि-गण में पठित शब्दों को आद्युदात्तत्व होता है^१, और वृपादि-गण इसी लिए आकृति-गण है। गण-पाठ में वृपादि-गण में वृष, जन, ष्वर आदि शब्द पठित हैं। व्याकरण के न्याय से 'वृष' शब्द 'वर्षतीति वृषः' इस कर्ता अर्थ में 'इगुपधशमीकिरः कः' (पा. ३,१,३५) सूत्र से √वृष् धातु से क-प्रत्यय होकर सिद्ध है। परन्तु सति-शिष्टस्वर (प्रत्यय-स्वर) से यह अन्तोदात्त बनेगा, आद्युदात्त नहीं। ऐसे ही 'जायते इति जनः' इस व्युत्पत्ति से √जन् धातु से तथा 'ज्वातीति संतापयतीति ज्वाः' इस व्युत्पत्ति से √ज्वर धातु से कर्ता अर्थ में अच्-प्रत्यय (पा. ३,१,१३४) करके चित्-स्वर से 'जव' शब्द और 'ज्वर' शब्द अन्तोदात्त प्राप्त हैं। उपलब्ध आद्युदात्त होते हैं, इसलिए ऐसे शब्दों का वृपादि-गण में पाठ करने से आद्युदात्तत्व हो जाता है। जैसे—वृषा (शौ.२०,१२७,५), नू चिस दम्भते जनः (श्रु. १,४१,१)। 'ज्वर' का वैदिक उदाहरण लभ्य नहीं है।

कामम् (श्रु. २,२०,४) शब्द √कम् धातु से 'घञ्' प्रत्यय में बना है। आकारवान् घञन्त शब्द^२ अन्तोदात्त होते हैं, किन्तु इस गण में पाठ के कारण आद्युदात्त हो गया है।

१६. 'शुष्क' और 'धृष्ट' शब्द को आद्युदात्त होता है^३। √शुष् और √धृष् धातु से क्त-प्रत्यय होकर दोनों शब्द प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त प्राप्त हैं। किन्तु निर्दिष्ट विशेष नियम से आद्युदात्त होते हैं। जैसे—अतसं न शुष्कम् (श्रु. ४,४,४)। 'षाद्राम्ना हि धृष्टं प्रहरति' (शामा. १४, ३,१,२२)। स्मरणा रहे शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त अक्षर का ज्ञान कराने के लिए अक्षर के नीचे पड़ी रेखा का चिह्न लगाते हैं। इसलिए 'धृष्टम्' यह आद्युदात्त शब्द है।

१७. कर्तृवाचक 'भाषित' शब्द आद्युदात्त होता है। जैसे—कूपनि-फाल् भाषितम् (श्रु. १०,११०,०)। कर्तृवाचक 'भाषित' शब्द को

१. वृपादीनी च (पा. ६, १, २०३)। २. कर्षोऽरवतो घपोऽन्तोदात्तः (पा. ६, १, १५६)। ३. शुष्कधृष्टौ (पा. ६, १, २०६)।

शेखरकार आचार्य नागेश ने ✓अश् 'भोजने' धातु से कर्ता अर्थ में क्त-प्रत्यय करके इसी सूत्र-नियम की सामर्थ्य से धातु की उपधा को दीर्घत्व और आद्युदात्तत्व दोनों माने हैं^१। क्योंकि पदपाठकार ने 'आशित' शब्द के मध्य में अवग्रह-चिह्न नहीं माना। महर्षि शाकल्य समस्त शब्द के दो अवयवों का निर्देश करने के लिए पद के मध्य में (S) ऐसा अवग्रह का चिह्न लगा दिया करते हैं। इसके विपरीत व्याकरण-महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने 'आशित' शब्द में 'आड्' उपसर्ग को आद्यवयव मानकर आ+अशित ऐसा अवग्रह-युक्त शब्द माना है^२। काशिका-वृत्ति ने भी महाभाष्यकार का समर्थन किया है^३। शेखरकार ने भी महाभाष्यकार का आदर करते हुए विकल्प पक्ष में उनका सिद्धान्त माना है। हमारी दृष्टि में शेखरकार का पहला अवग्रह-रहित पदपाठानुसारी पक्ष युक्ति-युक्त है। जिस सूत्र की सामर्थ्य के विशेष-विधान से आद्युदात्तत्व हो सकता है, उसी सामर्थ्य से उपधादीर्घत्व की कल्पना भी अधिक युक्ति-संगत है। यदि पाणिनीय सूत्रों 'पठिक्विंशति' (पा. ५, १, ५६), 'आसन्दीवत्' (पा. ८, २, १२) से निपातनात् अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है। यदि 'गरिष्ठ' शब्द की निष्पत्ति के लिए गुरु+इष्टन् में 'प्रियस्थिर' (पा. ६, ४, १५७) से निपातन से गुरु को 'गर्' हो सकता है। यदि ✓अ धातु के 'इयति' का 'अलति' रूप 'दायतिर्दयति' (पा. ७, ४, ६५) सूत्र की सामर्थ्य से निपातनात् बन सकता है तो उसी निपातन^४ के न्याय से आद्युदात्तत्व के साथ-साथ उपधादीर्घत्व मान लेना अधिक युक्तियुक्त है, इससे पदपाठकार का भी समर्थन हो जाता है। ऐसी युक्ति-युक्त शब्द-सिद्धि की संभावना में भी महाभाष्यकार पतञ्जलि का आड्-उपसर्गपूर्वक

१. सकर्मकादप्यरोः कर्तरि क्त उपधादीर्घश्चाऽत्रैव निपात्यते (लघु-शब्देन्दुशेखर)। २. किं निपात्यते ? आशिते कर्तरि निपातनम् उपधादीर्घत्वम् आद्युदात्तत्वं च (घातिक्)। आशित इति क्तः कर्तरि निपात्यते। आशितयान् आशिताः, उपधादीर्घत्वम् आद्युदात्तत्वं च निपात्यते। आद्युदात्तत्वम् अनिपात्यम्, अधिकांशत्वं सिद्धम्। उपधादीर्घत्वम् अनिपात्यम्। आट्पूर्वस्य प्रयोगः। यथेवमग्रप्रदः प्राप्नोति, न अण्येन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम अण्यमनुवर्षम्। यथाअण्यं पदं कर्तव्यम् (महाभाष्य)। ३. आट्पूर्वदरा भोजनेऽन्मात् कर्तरि णो निपात्यते। ४. यदिह अण्येनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात् सिद्धम् (काशिका पा. ५, १, ५६)।

✓अश् धातु से 'आर्षित' शब्द को सिद्ध मानकर पदपाठकार को अवग्रह करने के लिए बाध्य करने में कोई अकाट्य तर्क नहीं है। ✓अश् धातु से णिजन्तावस्था में कर्म में क्त-प्रत्यय करके 'आर्षित' शब्द अन्तोदात्त होगा। जैसे—आर्षितम् (शभा. १४,७,३,११)।

१८. 'रिक्त' शब्द को वेद में विकल्प से आद्युदात्तत्व होता है^१। उदाहरण उपलब्ध वैदिक-स्वर-युक्त साहित्य में प्राप्त नहीं है। अन्तोदात्त 'रिक्त' शब्द उपलब्ध है। जैसे—रिक्ताय स्वाहा (तै. ७,३,२०,१)।

१९. छन्द में 'जुष्ट' और 'अर्षित' शब्दों को विकल्प से आद्युदात्तत्व होता है^२। पक्ष में अन्तोदात्तत्व भी। जैसे—जुष्टो दमूना अर्षिधि-दुरोणे (ऋ. ५,४,५)। यहाँ 'जुष्ट' शब्द आद्युदात्त है। 'मती जुष्टो धिषां हितः' (ऋ. ६,४४,२) में अन्तोदात्त 'जुष्ट' है। 'अर्षित' शब्द भी पठर आहुरर्षितम् (ऋ. १,१६४,१२) में आद्युदात्त है। और अर्षिताः पृथिन चलाचलातः (ऋ. १,१६४,४०) में अन्तोदात्त है। इस प्रकरण में क्त-प्रत्ययान्त शब्दों को आद्युदात्तत्व के विधान से सिद्ध है कि यथार्थ में क्त-प्रत्ययान्त शब्द सामान्य तौर पर प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस 'जुष्टार्षिते चच्छन्दसि' (पा. ६, १,२०६) सूत्र में 'छन्दसि' शब्द पठित है। इसके अगले सूत्र 'नित्यं मन्त्रे' (पा. ६,१,२१०) सूत्र में 'मन्त्रे' पढ़ा गया है। 'छन्दसि' शब्द वेद के मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग दोनों के लिए सामान्य है। ब्राह्मण-भाग की व्यावृत्ति के लिए 'नित्यं मन्त्रे' सूत्र में 'मन्त्रे' शब्द चरितार्थ होगा। तात्पर्य यह कि दोनों सूत्रों का अनुगत अर्थ यह होगा कि वेद के ब्राह्मण-भाग में 'जुष्ट' और 'अर्षित' शब्द आद्युदात्त और अन्तोदात्त दोनों प्रकार के हों और 'मन्त्रे' = मन्त्र-भाग में नित्य (केवल) आद्युदात्त। उपलब्ध इससे विपरीत होता है। आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त दोनों प्रकार के जुष्ट और अर्षित शब्द वेद के मन्त्र-भाग में ही उपलब्ध हैं। ब्राह्मण-भाग में नहीं। कदाचित् आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त दोनों प्रकार के शब्दों वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों को काल-रुचलित भी मान लें, परन्तु मन्त्र-भाग में तो 'नित्ये' का प्रतिबन्ध लगा हुआ है। उसके अनुसार मन्त्र-भाग में आद्युदात्त ही दोनों शब्द मिलने चाहियें, न कि अन्तोदात्त भी। इसलिए सिद्धान्तकीमुदी में तो भट्टोजिदीक्षितजी ने 'एतस्य

१. रिक्ते विभाषा (पा. ६,१,२०८)। २. जुष्टार्षिते चच्छन्दसि (पा. ६,

शक्यमर्तुम्' (यह सूत्र प्रत्याख्यानयोग्य है) इन शब्दों से प्रत्याख्यान की पुष्टि की है। काशिराकार ने 'केचित्' का पक्ष देकर कहा है कि उनके मत में 'जुष्टार्पिते चच्छन्दसि' (पा. ६,१,२०६) सूत्र से 'निश्च्य मन्त्रे' सूत्र में जुष्ट शब्द की ही अनुवृत्ति है, अर्पित की नहीं, अतः अर्पित-शब्द आद्युदात्त अन्तोदात्त दोनों मिलेगा, और जुष्ट केवल आद्युदात्त। किन्तु यह सगत नहीं। जुष्ट-शब्द के भी आद्युदात्त अन्तोदात्त दोनों वैदिक उदाहरण हमने ऊपर दिखाये हैं। जिससे 'केचित्' का समाधान न-गस्य है।

२०. युष्मद् और अस्मद् शब्दों के 'इत्' (पष्ठी विभक्ति के एकवचन) तथा 'रे' (चतुर्थी विभक्ति के एकवचन) में निष्पन्न त्वं, तुभ्यम्, ममं, मद्यम् आद्युदात्त होते हैं^१। शेष विभक्ति-वचन में अन्तोदात्त ही रहते हैं। जैसे—त्वं ममं नहि पस्तव नो ममं (ऋ. ८, ३३, १६), तुभ्यं हिम्वानः (ऋ. २, ३६, १), मद्यं वातं पवताम् (ऋ. १०, १२८, २)।

२१. दो अच् (स्वर अक्षर) वाले यत्-प्रत्ययान्त (कृदन्त हो या तद्धित शब्द, जिनके अन्त में 'यत्'प्रत्यय हो रहा हो) शब्द को आद्युदात्त होता है^२। 'नाभ्य' (नो शब्द से तद्धित 'यत्' प्रत्यय) करके निष्पन्न) शब्द को छोड़ कर। जैसे—युञ्जन्त्यस्य काभ्या हीं (ऋ. १, ६, २)। यहाँ 'काभ्या' शब्द णिङ्-प्रत्ययान्त ✓कमु 'कान्ती' धातु से अर्हार्थ में 'यत्' प्रत्यय होकर निष्पन्न है। 'यत्' में अन्त्य 'त्' की इत्संज्ञा हो जाने से तित् प्रत्यय कहलायेगा। और 'तित् स्वरितम्' (पा. ६, १, १८५) सूत्र से 'काभ्या' शब्द में अन्व-स्वरित प्राप्त है। परन्तु निर्दिष्ट नियम से स्वरित न होकर आद्युदात्त होता है। ऐसे ही 'हभ्यः' (ऋ. १, ३३, २) शब्द ✓हु धातु से अर्हार्थ में पूर्ववन् 'यत्' प्रत्यय करके यत्प्रत्ययान्त शब्द बना है। और 'नहभ्यः' (ऋ. १, ३२, १२) शब्द अस्व शब्द से तद्धित 'यत्' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। दोनों ही प्रकार के यत्प्रत्ययान्त द्व्यच् शब्दों में यह आद्युदात्त नियम चरितार्थ होगा। इसी को यतोऽज्ञायोऽस्यर कहते हैं। नाभ्य-शब्द यत्प्रत्ययान्त द्व्यच् होते हुए भी पर्युदास की सामर्थ्य से आद्युदात्त न होकर स्वरितान्त ही होगा। जैसे—शाभ्याः (ऋ. १, ८०, ०), शाभ्यानाम् (ऋ. १, ३३, ११)।

१. युष्मदस्मदोऽपि, अपि च (पा. ६, १, २११; २१२)। २. यतोऽज्ञायः (पा. ६, १, २१३)। ३. नोऽयोधमं (पा. ४, ४, ११)। ४. अषो यत् (पा. ३, १, ६०)।

२२. √ईड 'स्तुतौ', √वदि 'अभिवादनन्तुषो', √वृङ् 'संमत्तौ', √शंस 'स्तुतौ', √दुह् 'अपूरणे' धातुओं के एयत् प्रत्ययान्त शब्दों को आद्युदात्त होता है^१। जैसे—ईदयो नूनैस्त् (श्र. १, १, २), आद्युदात्त ईदयो वन्चञ्च (श्र. १०, ११०, ३), खेच नो धेहि वार्धम् (श्र. ३, २१, २), उक्थमिन्द्राय शशम् (श्र. १, १०, ५)। 'दोष' का वैदिक उदाहरण अनुपलब्ध है।

२३. दिशा-वाचक 'आशा' शब्द आद्युदात्त होता है। जैसे—इन्द्र आशांम्यस्पर्ति (श्र. २, ४१, १२)। इसके विपरीत आशंसा-वाचक 'आशा' शब्द अन्तोदात्त होगा^२। जैसे—आशाम् (शौ. ६, ११३, ३)।

७. मध्योदात्त-स्वर

१. सामान्यतः प्रत्यय-स्वर आद्युदात्त होने के कारण^३ सति-शिष्टरर से प्रत्यय-स्वर बलवान् होगा, और शब्द में उसका श्रवण मध्योदात्त के रूप में होगा। जैसे—उच्यति (श्र. १, ०३, १०) में √वच् धातु से उच्यादि 'अयच्' प्रत्यय हुआ है। अनुबन्ध 'क्' का परिहार करके धातु में सप्रसारण होकर √वच् + अय = उच्य में प्रत्यय-स्वर से प्रत्यय का आदि 'ञ' उदात्त है। इसलिए शब्द मध्योदात्त होगा। युषियम् (श्र. १, ६, ४) में 'अइति' प्रथम में यज्ञ-शब्द से ष-प्रत्यय^४ और 'व' > 'इष' आदेश^५ होकर प्रत्यय-स्वर से प्रत्यय का आदि 'इ' उदात्त है। और शब्द मध्योदात्त है। मुञ्चतेन (श्र. १, ५४, ५) में 'अम्बु' शब्द से स्वार्य में स-प्रत्यय^६ और स > ईन आदेश^७ होकर प्राच् + ईन में प्रत्यय-स्वर से आदि के 'ई' को आद्युदात्त होने से मध्योदात्त शब्द बना है। शुकमयम् (श्र. १, ११४, ४३) में 'अयट्' प्रत्यय के आदि 'न' को उदात्तत्व होने से मध्योदात्त शब्द है। ऐसे ही दशादि-भाण के इनोति (श्र. ८, ३६, ५), इनोति (श्र. ४, १०, ७) आदि में मध्यपर्वो 'रु' विकरण पर सति-शिष्ट होने के कारण प्रत्यय-स्वर में उदात्तत्व हुआ है। और तिङन्त रिया मध्योदात्त है। अदादिगणी धातुओं के शत-प्रत्ययान्त 'इदुवन्तम्' (श्र. २, २०, ३) आदि 'स्तुत्' शब्द से, र्यादिगणी धातुओं के शप्रन्त

१. ईद-इदुत्तन्तुहा ददा (न. ६, १, २१४)। २. आशाया परिगान्वा वेत् (क्रि.गु. ११८)। आशायाय अन्तेदाय इत्यम्। ३. अदुदात्तव (न. ३, १, ३)। ४. अन्तिगर्सं यत्तौ (न. ४, १, ०१)। ५. अन्तेवेत्तद्विद वदन्तुया अन्तेदन्तम् (न. ३, १, २)। ६. त्रियन्तेवेत्तद्विद त्रियन्तम् (न. ४, ४, ८)।

‘सुन्वन्तम्’ (ऋ. २, १२, १४) आदि ‘सुन्वत्’ शब्द से, तुदादिगणी धातुओं के ‘नुदस्व’ (ऋ. ६, ५३, १), नुदामः (शौ. १०, ३, ४३), इच्छन्ति (ऋ. ३, ३०, १) इत्यादि क्रियारूपों और इच्छन्तः (ऋ. १, ७२, २), क्षियन्तम् (ऋ. २, १२, ११), इच्छन्ती (ऋ. ५, ३७, ३) आदि शत्रन्त और इच्छमांतः (ऋ. १, १२६, १) शानच्-प्रत्ययान्त रूपों में ल-सार्वधातुक को अनुदात्त हो जाने पर मध्यवर्ती विकरण ‘अ’ को प्रत्यय-स्वर से उदात्त हुआ है। जिससे सब शब्द मध्योदात्त हैं। ‘चत्वारः’ शब्द मध्यवर्ती उदात्त आम्-आगम के कारण मध्योदात्त है। ऐसे ही ऋधादिगणी धातुओं के रूपों में भी प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्त होगा। जैसे—पुनन्ति (ऋ. ३, ८, ५), पुनातं (ऋ. ६, १०४, ३)। हुष्यै (ऋ. १, १२२, ४) में ‘अयै’ प्रत्यय के आद्युदात्त होने के कारण मध्योदात्त है।

२. लित् (जिनमें ‘ल्’ की इत्संज्ञा हुई है) प्रत्यय पर रहते पूर्ववर्ती धात्वंश को उदात्त होकर आद्युदात्त शब्दों का निर्देश पीछे ही चुका। णल्, थल्, तातिल्, तल् (लित्) प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द मध्योदात्त होते हैं। जैसे णल्—सुपायं (ऋ. ४, ४५, ५), जगामं (ऋ. १०, ५८, १), जजानं (ऋ. २, १२, ३), जघानं (ऋ. २, १२, १०), ध्रुवं (ऋ. २, १२, ६)। थल्—जगन्धं (मा. १३, ४६), दुनोद्विधं (ऋ. २, १३, ६)। तातिल्—द्वेषतांता (ऋ. १, ३४, ५)। तल्—जुनतांम् (तै. २, २, १, ४) आदि।

३. शिच्-प्रत्ययान्त, आय-प्रत्ययान्त, यक्-प्रत्ययान्त, यङ्-प्रत्ययान्त क्यच्-क्यङ्-प्रत्ययान्त शब्द मध्योदात्त होंगे। जैसे—जुनयन् (ऋ. १, ३२, ४), जुनयन्तीः (ऋ. १०, १२१, ७), गोपायतम् (ऋ. ६, ७४, ४)। सुयते (ऋ. ४, ५८, ६), क्रियते (शौ. ३, २६, ३), द्विद्यन्ते (ऋ. ३, ४१, ३), नेनीयते (मा. ३४, ६), ओज्जायमानम् (ऋ. २, १२, ११)।

४. स्य-विकरण को प्रत्यय-स्वर से उदात्त होकर शब्द मध्योदात्त होगा। जैसे—जुनिष्यमाणम् (मा. १८, ५), कुरिष्यसि (ऋ. १, १, ६)।

५. षट्-संज्ञक (नकारान्त षञ्च्न्, सप्तन् आदि संख्यावाची शब्द) और त्रि, चतुर् शब्दों से मत्तादि (मत्न् प्रत्याहार^१ के ‘भ्’ इत्यादि अक्षर जिसके आरम्भ में हैं) विभक्ति पर रहते उपोत्तम (अन्त्यवर्ण का पूर्ववर्ती) वर्ण उदात्त होता है। जैसे—प्रथमभिः (ऋ. ३, ७, ७), सप्तम्यः (ऋ. ८, ६९, १६), द्वादशभिः (ऋ. २, १८, ४), द्वादशुं (ऋ. ८, १०१, १३), त्रिंशद्युः (ऋ. २, ५, ५), चतुर्षुभिः (ऋ. ८ ६०, ६)।

६ √बिमी 'भवे', √ह्री 'जज्ञायाम्', √हुभृन् 'घाणपोषणयो', √दृ 'दानादनयो', √मदी 'हर्षे', √जन 'जनने', √घन 'घाम्बे', √दरिद्रा 'दुर्गती', √जामृ 'मिद्राचये' इन धातुओं के अभ्यस्तरूपों में ल-सार्धधातुक पित् प्रत्यय परे होने पर प्रत्यय से पूर्व को उदात्त होता है^१। पित् से तप्, तिप्, सिप्, निप् आदि सभी प्रत्ययों का ग्रहण है। जैसे—विभ्रमि, विभेमि (शब्दा. १०, ३, ३८)। जनपय-नाल्लण में उदात्त का चिह्न नीचे पड़ी रेखा है। विभ्रमि (श्रु. ४, ५०, ७), जुहोव (श्रु. १, १५, ३), जुहोति (श्रु. १० ७३, ५), जुहोमि (श्रु. ३, १८, ३), मुमत्तु (श्रु. १, १२२, ३), जर्जन्त् (मै. १, ३, २०, काठ. ६, ८) इधन्त् (श्रु. १०, ७३, १) आदि। शेष विचार 'तिङन्त-स्वर' प्रकरण आदि में दें।

७ रिन् ('अनीप्' आदि प्रत्यय जिनके अन्त्य के 'र' की इत्संज्ञा हो रही है) प्रत्यय परे होने पर उपोत्तम (उत्तम=अन्त्य वर्ण का समीपवर्ती पूर्व वर्ण) वण को उदात्त होता है^२। जैसे—आहवनीय (शब्दा. १ ३, ३, १२), हवनीयम् (शब्दा. ५, २, ४, ४), उपनीय (मै. ६, १, ५ १) आदि। पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर अर्वाचीन भारतीय विद्वान् भी 'अनीप्' प्रत्यय को व्यर्थ मानते हैं। अर्थात् उनके मत में यह सूत्र वृथा है, उक्त प्रयोग 'आहवन्' 'हवन्' और 'उपयन्' शब्दों से अर्थात् में वदित छ>इय प्रत्यय करके प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर से प्रत्यय के इय-आदेश के आद्यक्षर 'इ' के उदात्त होने से नर्थादात्त सिद्ध है।

८ षट्-आदेश-युक्त विधाओं में उपोत्तम (षट् का पूर्ववर्ती धातुप्रत्यय अक्षर) को उदात्तत्व विपर्यय में होता है^३। षट्-आदेश गिष्-प्रत्ययान्त धातुओं से लुट् लकार में चिन् के स्थान में होता है। जैसे—द्रीमि गृण्वन् (मै. ५, १३ ८)। षट् करने' अर्थ में √यु धातु में लुट् के प्रधान-रूप में षट्-आदेश-युक्त यह रूप है। गृण्वन् में 'ष्' का 'व' 'व' में है, हमने पूर्ववर्ती धातुप्रत्यय 'व' को उक्त नियम से उदात्त क हुआ है। मैत्रायणी-संहिता में उदात्त का चिह्न ऊपर-रेखा होता है।

१ अर्थात् अहोमन्त्रकर्मकादिनामनां प्रत्ययान् पूर्व रिन् (वा ६ १, ११२)।
२ इत्येवमि रिन् (वा ६, १, २१०)। ३ षट्कर्मनाम्यम् (वा ६, १, २१८)।

६. 'क्त्वा' प्रत्यय को यक्-आदेश होकर निष्पन्न शब्दों में मध्योदात्त होगा^१। जैसे—कृत्वायं (मा. ११, ५३)।

१०. परस्मैपद प्रत्ययों में यामुट्-आगम हित् और उदात्त होता है^२। और अ-पित् प्रत्ययों में क्रिया-शब्द मध्योदात्त होंगे, और पित्-प्रत्ययों में अन्तोदात्त। जैसे—पृणीयात् (ऋ. १०, ११७, ५), दुग्वाताम् (ऋ. ७, ४२, १) आदि।

८. अन्तोदात्त-स्वर

अन्तोदात्त शब्द दो प्रकार के हैं। १. विभक्तीतर प्रत्ययों से निष्पन्न अन्तोदात्त। २. विभक्ति-स्वर से निष्पन्न। प्रथम प्रकार निम्न है।

१. आकारवान् यञ्-प्रत्ययान्त शब्द तथा 'कयं' शब्द अन्तोदात्त होते हैं^३। जैसे—राम् (शब्दा. ४, ६, १, ७), रामम् (ऋ. १०, ३, ३), भारम् (ऋ. १३, १, ३) आदि। यहाँ √रम् धातु का उपधा-वृद्धि^४ होकर राम, और √भृ धातु का अजन्त^५ वृद्धि होकर भार आकारवान् है। इसके विपरीत भोग, मोद आदि यञ् प्रत्ययान्त शब्द आकारवान् नहीं हैं, इसलिए वहाँ यह नियम चरितार्थ नहीं होता, और वित्-स्वर से वहाँ आद्युदात्त हो जाता है। काम (ऋ. २, ३८, ६), यामं (तै. ६, ३, १, ६) यह शब्द आकारवान् होकर भी अन्तोदात्त नहीं है। वृषादि-गण (पा. ६, १, २०३) में पाठ होने के कारण आद्युदात्त हैं। 'त्यागतागहास' (पा. ६, १, २१६) सूत्र में 'त्याग' को आद्युदात्त बताया गया है। परन्तु वेद में अन्तोदात्त है। त्यागम् (ऋ. ४, २४, ३)। आचार्य वेङ्कटमाधव ने इसका अर्थ 'यन' किया है (एगन्ते इति)। इसके विपरीत 'सर्ग' (ऋ. २, २०, १) आदि शब्दों में आकारवान् न होने से वित् स्वर से आद्युदात्त ही होगा।

२. (परवर्ती अनुदात्त को निमित्त मानकर जहाँ पूर्व उदात्त का लोप होता है, वहाँ निमित्तीभूत अनुदात्त को उदात्तत्व होता है^६) यह

१. ऋशो यक् (पा. ७, १, ४१)। २. यामुट् परस्मैपदेवृदात्तो हिर्य (पा. ३, ४, १०३)। ३. कर्वाऽप्यो धनोऽन्तोदात्तः (पा. ६, १, १५६)। ४. अत उपधाया (पा. ७, २, ११६)। ५. अथो न्यिति (पा. ७, २, ११५)। ६. अनुदात्तस्य च यत्र दात्तलोप (पा. ६, १, १६१)।

नियम प्रायः जहां भ-संज्ञा के कारण पूर्व अवर्ण का लोप होता है, वहां चरितार्थ होता है। जैसे—देवी (श्र. १,४०,३), नदी (श्र. १,१२५,३) 'दोष्यति इति देव', 'नदति इति नद' इस कर्त्ता अर्थ में 'नन्दिप्रह्विषादिभ्यः' (पा. ३,१,१३४) सूत्र से पचादि-नाण मे पठित देव और नद शब्द से अच् प्रत्यय (टिक्) हुआ है। अच्-प्रत्ययान्त शब्द चित्स्वर से अन्तोदात्त होते हैं। टित्स्व (ट् की इत्संज्ञा) के कारण 'दिद्विषाण्' (पा. ४, १,१५) इत्यादि सूत्र से स्त्री-लिङ्ग मे 'डीप्' प्रत्यय होता है। डीप् प्रत्यय में 'प्' की इत्संज्ञा है, इसलिए पित्-प्रत्यय होने से 'धनुशक्तौ सुष्पितौ' (पा. ३,१,४) सूत्र से 'इं' अनुदात्त है। देव+इं, नद+इं इस स्थिति में भ-संज्ञा मानकर 'यस्येति च' (पा. ६,४,१४८) सूत्र से 'देव' के और 'नद' के अन्तिम अवर्ण का लोप हुआ है। और भ-संज्ञा होने मे निमित्त अजादि प्रत्यय 'इं' (डीप्) है, इसलिए 'इं' अनुदात्त को मानकर पूर्ववर्ती 'देव' और 'नद' के अन्त्य उदात्त 'च' का लोप होने से निमित्तीभूत 'इं' को इस नियम से उदात्तत्व हो गया है। इसी नियम से विहित स्वर को उदात्तनिवृत्ति-स्वर कहते हैं। 'पृथिवी' शब्द अन्तोदात्त है। इसकी अजादि अन्त्यनाम विभक्तियों को निमित्त मानकर भसंज्ञा के कारण 'भ्रप रेर्लोप' (पा. ७,१,८८) सूत्र से 'श्' टि का लोप हुआ है। अत विभक्ति उदात्त होगी। जैसे—पृथ (श्र. १,४२,२), पृथा (श्र. १,३८,५) आदि।

३. धातु को अन्तोदात्तत्व होता है। मूल धातु इत्संज्ञा आदि होकर एकाक्षर शेष रह जाती है। इस नियम से उसी एक अक्षर को उदात्त होगा। स्पष्ट ज्ञान के लिए इस नियम के उदाहरण दो तीन अक्षरों वाली धातुएं हैं। जहां मूल धातु से णिच्, णिङ् आदि प्रत्यय करके णिजन्त णिङन्त शब्दों की 'सनायन्ता धातव' (पा. ३,१,३२) सूत्र से धातु-संज्ञा होकर तिङन्त क्रियाएं निष्पन्न होती हैं, यहां इस सूत्र-नियम की स्पष्ट प्रतिपत्ति होती है। जैसे—कामपाठे (श्र. २,१५,८) में रिण्-प्रत्ययान्त कामि धातु के अयय 'म' को उदात्त हुआ है। ३१पाप (श्र. १,११५,१२) में णिच्-प्रत्ययान्त दादि धातु के अयय 'द' को उदात्त हुआ है। गोपापय' (श्र. ६,४४,४) में आप-प्रत्ययान्त गोपाय के 'व' को। मृपावति (श्र. १,१३१,७) में 'वामिण्यति' अर्थ में वयच्-प्रत्ययान्त अपाय धातु के, दुपुत्राये

(ऋ. १०, ३७, १२), दुवस्यन्ति (ऋ. १, ६२, १०) यहाँ 'व्यङ्' तथा 'व्यच्' प्रत्ययान्त $\sqrt{\text{दुच्छुनाय}}$, $\sqrt{\text{दुवस्य}}$ धातुओं के अन्त्य अवयव 'य' को इस नियम से अन्तोदात्त हुआ है। धातु-स्वर से इसी नियम का सर्वत्र बोध होगा।

४. जिन शब्दों की निष्पत्ति चित् (च् की इत्संज्ञा वाले) प्रत्ययों से होती है, वह अन्तोदात्त होते हैं^१। जैसे अच्—सुभार्य (ऋ. १, १३, १) 'सुव' शब्द $\sqrt{\text{पूङ्}}$ 'प्रेरेणे' धातु से भाव में अच् प्रत्यय^२ करके निष्पन्न है, और चित् स्वर से अन्तोदात्त है। ऐसे ही भोजम् (ऋ. २, १७, ८), जीव (ऋ. १, ६८, २) में कर्ता अर्थ में अच् प्रत्यय और श्यामु (ऋ. ३, ५५, ४) में $\sqrt{\text{शी}}$ धातु से अधिकरण में 'अच्' प्रत्यय है। शानच्—इयान (ऋ. १, ३०, १४) $\sqrt{\text{इण्}}$ 'गती' धातु से, हिन्वाना (ऋ. ० २१, ५) $\sqrt{\text{हि}}$ धातु से आदि। इरेच्—इरिरे (ऋ. २, २३, १४) आदि। कानच्—इजानार्य (ऋ. १, ११३, २०) आदि। अकच्—अन्यकेषाम् (ऋ. १०, १३३ १)। मात्रच्—बाहुमानान् (शाम्ना. ३, ५, ४, १४)। क्यच्—पुस्यु (ऋ. ०, ३२, १)। घच्^३—इन्द्रियम् (ऋ. १ ५५, ४)। इण्युच्^४—पतयिष्यु (ऋ. १, १६३, ११)। कान्यच्—धनकाम्या (शौ. १२, २, ५१)। टच्^५—देवद्वन्द्वसनि (मै. ३, २ ६)। षष्ठसामम् (मै. १८, १८, १) यहाँ षष्ठीसमासान्त से प्रत्यय है। और चित्तय के कारण अन्तोदात्त शब्द है। इसी स्वर को चित्-स्वर कहते हैं।

५. तद्धित में कित् (क् की इत्संज्ञा वाले) प्रत्यय जिन शब्दों के अन्त में होंगे उन्हें अन्तोदात्तत्व होता है^६। जैसे—मामतेयम् (ऋ. १, १४०, ३)। सूक्तद्रष्टा महर्षि 'देषतमा' को मामतेय कहा गया है। इनकी माता का नाम ममता था। 'ममताया अपत्यम्' अर्थ में 'ह्योभ्यो ष्' (पा. ४, १, १२०) सूत्र से ष् प्रत्यय को 'एय' आदेश होकर शब्द निष्पन्न हुआ है। ष् प्रत्यय कित् है, इसलिये अन्तोदात्त शब्द है। इसी स्वर को कित्-स्वर कहते हैं। सपूर्ण तद्धित कित् प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त इसी सूत्र-नियम से सिद्ध होगा।

१. चित् (पा. ६, १, १६३)। २. षष्ठीसमासान्त अपत्यम् (पा. ३, ३, ५६)। ३. इन्द्रियम् (इन्द्रियम्) (पा. ४, २, १३३)। ४. देवद्वन्द्वम् (पा. ३, २, १३०)। ५. धनकाम्या (पा. १२, २, ५१)। ६. कित् (पा. ६, १, १६५)।

६. एकाक्षर-प्रत्ययान्त शब्द भी अन्तोदात्त होते हैं। जैसे—
 मुनूत्। (श्रु. ८, ३१, ५) में सति-शिष्टस्वर की प्रधानता के कारण प्रथम-
 पुरुष के द्विवचन में 'त्स्' प्रत्यय को अन्तोदात्तत्व हुआ है। यद्यपि प्रत्यय
 स्वर से प्रत्ययों को आद्युदात्तत्व होता है। परन्तु एकाक्षर प्रत्यय तो
 आद्युदात्त भी यथार्थ में अन्तोदात्त हैं। स्पष्ट प्रतिपत्ति प्रत्यय-स्वर
 को दो या तीन अक्षरों वाले प्रत्ययों में होती है। ऐसे ही—इदि
 (श्रु. २, १७, ८) शब्द √दा 'दाने' धातु से नाच्छ्रील्य में कि-प्रत्यय करके
 निष्पन्न है। कि-प्रत्ययान्त शब्द को लिङ्वद्भाव से^१ द्वित्व हो गया
 है। और प्रत्यय-स्वर से शब्द अन्तोदात्त है। ऐसे ही स्वादि, तुदादि,
 रुधादि, तनादि, क्रयादि गणों की धातुओं से शरु-प्रत्ययान्त शब्द
 अन्तोदात्त होंगे। क्योंकि अनुबन्ध-लोप होकर एकाक्षर 'म्' यह
 प्रत्यय शेष रहता है। जैसे तुदादि—तुपत् (श्रु. २, २२, १)। तुदत्
 (श्रु. ८, १, ११) आदि। क्रयादि—रिण् (श्रु. २, २२, ४) आदि।

शुबुध (श्रु. २, २०, ४) क्रिया-शब्द √वृष् धातु से लिट् में प्रथम-
 पुरुष के बहुवचन में 'उस्' (तिङादेश) से^२ निष्पन्न है। ज्ञागुध. (श्रु. २,
 २३, १६) √गृष् धातु से है। प्रत्ययादेश एकाक्षर है, इसलिए
 अन्तोदात्त शब्द होगा।

पृक् (श्रु. १, ६६, ३), वृष्टे (शौ. ३, १४ ३) ये एकाक्षर 'त्' प्रत्यय के
 रूप हैं। भूथे (श्रु. २, १४, ४) में 'भूथ' शब्द भी एकाक्षर थक् प्रत्यय
 के स्वर का निदर्शन है।

७. जैसे व्याकरण के सामान्य नियमों से अनुपपन्न अनेक
 आद्युदात्त शब्दों में आद्युदात्तत्व की सिद्धि के लिए आकृति-गण के रूप
 में वृषादि-गण (पा. ६, १, २०३) है। ऐसे ही अनेकों अन्तोदात्त शब्दों
 की सिद्ध करने के लिए उब्धादि-गण का परिगणन महत्त्वपूर्ण है^३।
 जैसे—युगम (श्रु. ३, ५३, १०) में काल-विरोध (मत्य-युग आदि) और
 रथाययन अर्थ में 'युग' शब्द घञ्-प्रत्ययान्त है। निपातन-नामर्थ्य से
 गुण नहीं हुआ। ऐसे ही मूध (श्रु. ६, २८, ५) शब्द भी घञ् अन्त है।
 गिन्-स्वर से प्राप्त आद्युदात्तत्व की निवृत्ति के लिए तथा अन्तोदात्तत्व
 की सिद्धि के लिए दोनों का उब्धादि-गण में पाठ है। उग्रम (श्रु. ३, ५,
 १०), उत्तमम (श्रु. १, २४, १५), शरुत्तमम (श्रु. २, ३८, १) में 'तमप्'

१. आरगमहनचनः क्विन्नि लिट् थ (पा. ३, २, १०१)। २. पास्मि-
 पदान्थं यज्ञमुपुष्पकपुस्तकान्ता (पा. ३, ४, ८२)। ३. उत्पार्शनां थ
 (पा. ६, १, १६०)।

प्रत्यय के पित्-स्वर से अनुदात्त होने पर आद्युदात्त शब्द प्राप्त थे। गण-पाठ से अन्तोदात्त हैं।

८. भाव अर्थ^१ में स्त्रीलिङ्ग में क्तिन् प्रत्यय होता है। इसलिए क्तिन्-प्रत्ययान्त शब्दों में सामान्य रूप से नित्-स्वर से आद्युदात्तत्व होता है। जैसे—वृष्टिः (मा. १३,३०), भूतिः (मा. १८,१४) आदि। वेद में कतिपय क्तिन्-प्रत्ययान्त शब्दों में क्तिन् प्रत्यय उदात्त होता है^२। जैसे—√इप् धातु से वृष्टिः (ऋ. १,३८,८)। √इप् धातु से इष्टेः (ऋ. १,१२५,३)। √पच् धातु से पक्तिः (ऋ. ४,२४,५)। √मन् धातु से मतिः (ऋ. ८,७४,७)। √विद् 'ज्ञाने' से वितिः। इसका वैदिक उदाहरण अनुपलब्ध है। √भू धातु से भूतिम् (ऋ. १,१६१,१)। √वी धातु से वीतिम् (ऋ. ६,१४,१)। √रा धातु से रातिः (ऋ. १,३४,१)। इन सब में प्रत्यय उदात्त करने का प्रयोजन नित्-स्वर से प्राप्त आद्युदात्तत्व का बाध करके अन्तोदात्तत्व की स्थापना करना है। ये उदाहरण पाणिनीय सूत्र के आधार पर हैं। वेद में कतिपय क्तिन्-प्रत्ययान्त अन्तोदात्त शब्द इस परिमाणन के अतिरिक्त भी हैं। जैसे—√चिञ् 'चयने' धातु से चितये (मा. २३,४६)। यह अन्तोदात्त चिति शब्द का चतुर्थी का एकवचन है। √भृ धातु से भूतिम् (ऋ. ८,६६,११) आदि।

९. सामान्य रूप से 'क्यप्' प्रत्यय पित् (प् की इत्संज्ञा वाला) होने के कारण पित्-स्वर से अनुदात्त होगा। और पूर्व धात्वंश को धातु-स्वर से उदात्त होता है। परन्तु कतिपय क्यप्-प्रत्ययान्त संज्ञा-वाचक शब्दों में 'क्यप्' प्रत्यय उदात्त होता है^३। और शब्द अन्तोदात्त होने हैं। जैसे—विषाम (मा. ४०,१४)। √विद् 'ज्ञाने' से, सुषाम (मा. ५,७)। √पुञ् 'प्रभिववे' से, भूषाम (ऋ. १,८४,१६)। √भृ धातु से, इष्या (ऋ. १,१६०,५)। √इण् 'गती' धातु से। 'क्यप्' प्रत्यय करके सय रूप निष्पन्न हैं। और 'क्यप्' प्रत्यय के उदात्त होने के कारण अन्तोदात्त हैं। मन्वा. (श्लो. ६,२५,१) शब्द सूत्र-नियम के विपरीत क्यप्-प्रत्ययान्त होते हुए भी अन्तोदात्त नहीं आद्युदात्त है।

१. विप्रयां क्तिन् (पा. ३,३,६४)। २. मन्त्रे कृपेपचमनविदभूर्पिता उदात्तः (पा. ३,३,६६)। ३. संज्ञायां समञ्चनिपदनिपतमनविदपुत्रोद्भृजितः (पा. ३,३,६६)।

पाणिनीय सूत्र में परिगणित होने के कारण √मन् धातु से 'यत्सि' अर्थ में 'मुन्वा' शब्द अन्तोदात्त होना चाहिए।

इसी प्रकार क्यप्-प्रत्ययान्त 'हृत्वा' शब्द वार्तिककार के विशेष प्रयत्न से अन्तोदात्त सिद्ध हुआ है। जैसे—हृत्वाहृत्वाम् (श्र. २, ५, १, ३)। 'हृत्वा' शब्द स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में √हृन् 'द्विसायाम्' धातु से भाव में 'क्यप्' प्रत्यय से बना है। और पित् प्रत्यय होने से पित्-स्वर से प्रत्ययांश अनुदात्त न हो, इसलिए वार्तिककार ने क्यप् को चित् ('च' की इत्संज्ञा वाला) मान लिया। चित्त्व होने से 'हृत्वा' शब्द अन्तोदात्त बना है।

१०. 'प्व' आदि निपातों को अन्तोदात्तत्व होता है^३। जैसे—एव (श्र. १, १, ३) एवम् (श्र. १०, १५१, ३) नूतम् (श्र. १, १३, ६) सुत्रा (श्र. १, ५०, ६) सुद्ध (श्र. १, २३, १७) हृये (श्र. २, २६, ४) आदि। विशेष विमर्श पृष्ठ ११० के टिप्पण में वेङ्कटभाष्य-भूमिका में देखें।

११. उपसर्गों में केवल 'अभि' अन्तोदात्त होता है^३। जैसे—अभि (श्र. १, १६, ६)।

९. विभक्ति-स्वर

सुप् (सप्तमी का बहुवचन) विभक्ति परे रहते एकाच् (एक अच्=स्वर वर्ण वाले) शब्दों की तृतीयादि (तृतीया से सप्तमी तक) विभक्ति को उदात्तत्व होता है^४। जैसे—वाच् - वाच (श्र. १, ११३, १०), वाचा (श्र. १, १२०, ५), वाचि (श्र. १०, ७१, २)। इप्—इपा (श्र. १, ३०, १०), इपे (श्र. १, ५४, ११; मा. १, १)। सन्—सुगम् (श्र. २, १६, १)। मास्—मासा (श्र. २, ४, ५)। युञ्—युजा (श्र. १, ८, ४)। यान्—यानः (श्र. १, ३२, १५), यानाम् (श्र. ४, २८, ३)। द्विप्—द्विपाम् (श्र. ७, ३४, १३)। दिश्—दिना (श्र. १, ८५, ११), दिनाम् (मा. १४, ५)। विश्—विना (श्र. १, ३६, १), विनाम् (श्र. १, ३६, १), विति (श्र. ४, २२, १)। गिर्—गिरा (श्र. १, ३८, १३), गिराम् (श्र. १, १०, ३)। निर्—निर (श्र. १, २४, ४), निरा (श्र. २, २३, १४)। मुभ्—मुभा (श्र. १, ६२, ४)। ऋग्नि (श्र. २, ३५, १२) आदि।

३. ह्रस्वभिप् विप्रवां षुग्नि (वा. ३, १, १०८)। २. एतार्थानामन्तः (हित्मुत्र ४, १४)। ३. अन्तोदात्तत्वं धर्मव्ययम् (वा. १०, २४)। ४. सादेकाचत्वादीविभक्तिः (वा. १, १, १००)।

२. √अञ्च् 'गती' धातु से निष्पन्न 'प्राञ्च्', 'प्रत्यञ्च्' आदि शब्दों में अ-सर्वनामस्थान (द्वितीया के बहुवचन 'शस्' से सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' पर्यन्त) विभक्ति को उदात्तत्व होता है^१। जैसे—प्रतीचः (ऋ. १, १७३, ५) प्राचा (ऋ. २, २६, ४) अनुचः (ऋ. ३, ३०, ६) आदि। 'चौ' (पा. ६, १, १२२) सूत्र से पूर्व को उदात्तत्व प्राप्त है, जिसका यह वाधक है।

३. ऊठ् ('वाह्' के स्थान में आदेश^२), इदम् शब्द, पदादि^३, अप् शब्द, पुंस्, रै तथा दिव् शब्दों से परे अ-सर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्तत्व होता है^४। जैसे—इदम्—अस्मै (ऋ. १, ५७, ३), आभिः (ऋ. ४, १०, ४), अम्याम् (ऋ. २, ४०, २), अभ्यः (ऋ. २, ३२, २), अस्य (ऋ. १, ४, ८), अस्मिन् (ऋ. १, १३, ३), अस्वै (ऋ. १, १२७, ११), अस्याः (ऋ. १, ८७, ४), अस्मात् (ऋ. १, १७१, ४) आसु (ऋ. १, १७३, ८)। पदादि—पद्—पदः (ऋ. १, १४६, २), पदा (ऋ. १, २२, १८), पदे (ऋ. १, २१, ६), पदोः (ऋ. १०, १६६, २), पदि (ऋ. ४, १२, ६)। दत्—दतः (ऋ. ७, ५५, २), दता (ऋ. १०, ११५, २), दद्भिः (ऋ. ८, ४३, ३)। अप्—अपः (ऋ. १, १०, ८), अपा (ऋ. ८, ४, ३), अद्भिः (ऋ. १, ३५, ८), अद्भ्यः (ऋ. १, ३४, ६), अपाम् (ऋ. १, २३, ६), अप्सु (ऋ. १, २३, ६)। पुंस्—पुंसः (ऋ. १, १२४, ७)। रै—रायः (ऋ. १, ४, १०), राया (ऋ. १, ४८, १), राये (ऋ. १, ५, ३), रायाम् (ऋ. ६, १०८, १३)। दिव्—दिवः (ऋ. १, ६, ६), दिवा (ऋ. १, १६१, १४), दिवे (ऋ. १, ५४, ३), दिवि (ऋ. १, ६, १)। सर्वत्र विभक्ति-स्वर से शब्द अन्तोदात्त हैं। मलादि विभक्तियों (भ्याम्, भिस् आदि) में दिव् शब्द से उदात्तत्व का निषेध^५ होगा। जैसे—सुभिः (ऋ. १, ३४, ८) आदि।

४. नुम्-आगम से रहित शतृ-प्रत्ययान्त शब्द से परे नदी ('ङीप्' आदि प्रत्यय) तथा अजादि अ-सर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्तत्व होता है^६। जैसे नदी—पुनतो (ऋ. ४, ५, ७), कृण्वती (ऋ. १, ६३, ४) आदि। अजादि विभक्ति—स्तुवते (ऋ. २, १२, ३)। कृण्वते (ऋ. २,

१. अञ्चेरङ्गन्देश्यमर्नामस्थानम् (पा. ६, १, १७०)। २. वाह ऊठ् (पा. ६, ४, १३०)। ३. पदन्तोमास् (पा. ६, १, ६३)। ४. उद्भिर्द-पदाद्यपुर्गैरुभ्यः (पा. ६, १, १७१)। ५. दिवो मल् (पा. ६, १, १८३)। ६. शतुरनुमो नद्यजादी (पा. ६, १, १७३)।

३०,१)। वृत्ते (श्रु. २,२१,२)। पुनते (श्रु. ६,७०,६)। मुन्वतः (श्रु. १, २, १), मुन्वताम् (श्रु. ८,३२,१६), मुन्वति (श्रु. ८,३०,२)। कृतायतः (श्रु. २,३२,१)। मुन्नायता (श्रु. २,३२,२)।

५. जिस उदात्त अक्षर को पूर्ववर्ती हल् (व्यञ्जन) अक्षर विद्यमान होने हुए यण्-आदेश हो रहा है, उससे परे नदी ('डीप्' आदि) और अजादि अ-सर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्तत्व होता है^१। जैसे— नदी—चोदयित्री (श्रु. १,३,११), अत्रित्री श्रु ०,३०,१२) आदि। यहाँ 'चोदयित्री' और 'अत्रित्री' शब्द वृच्-प्रत्ययान्त है। चिन्-स्वर से 'वृ' का 'श्रु' उदात्त है। उसके पूर्व व्यञ्जन अक्षर 'वृ' है। फिर स्त्रीलिङ्ग की विभक्ता में ऋकारान्त दोनों शब्दों से 'डीप्' प्रत्यय होकर चोदयित्री+ई, अत्रित्री+ई इस स्थिति में यण्-आदेश से 'श्रु' को 'रृ' हो गया। इस प्रकार हल्-पूर्वक उदात्त यण्-आदेश के परे नदी (डीप्) को उदात्तत्व हो रहा है। वृच्-प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होंगे, इसलिए यहाँ यह नियम नहीं लगता।

षष्ठी- (श्रु १. १८८. ५) में अन्तोदात्त 'बहु' शब्द में 'हृ' व्यञ्जन उदात्त 'ड' से पूर्व है। यहाँ 'बद्धादिष्य' (वा. ४, १, ४५) सूत्र से 'डीप्' (नदी) प्रत्यय हुआ है, और बहु+ई की स्थिति में 'ड' को 'वृ' यण्-आदेश होकर पर में स्थित नदी को उदात्तत्व हुआ है।

विभक्ति—गृहिणी (श्रु. २,३८,५), मृषा (श्रु. ५, ५८,५) आदि। 'गृहिणी' शब्द वृच्-प्रत्ययान्त होने से चिन्-स्वर से अन्तोदात्त है। 'मृषि' शब्द उदात्त 'चिन्' प्रत्यय के कारण अन्तोदात्त है। यण्-आदेश फलके दोनों स्थलों में परवर्ती कृतीया विभक्ति का ण्ययन्त 'मा' उदात्त है।

यदि यण्-आदेश होने वाला उदात्त अक्षर धातु वा अवयव होगा तो उससे परे विभक्ति को उदात्तत्व नहीं होगा^२। जैसे— पुत्र्यं (श्रु. ६,११,३)। यहाँ 'पुत्र्यं मृषि' इस रिभट् में 'मु-मुं' शब्द उत्तरपद-प्रकृतिन्वर से उदात्त है। व्यञ्जन अक्षर 'मृ' पूर्व में विद्यमान है, यण्-आदेश भी हो रहा है, परन्तु विभक्ति को उदात्तत्व नहीं हुआ। क्योंकि ✓मृ धातु का ही 'मृ' अवयव है। रिभटि-न्वर न होने पर 'पुत्र्यं' के विभक्ति के 'ए' को उदात्तत्व हो गया है^३।

१. उदात्तत्वोऽङ्गुली (वा. ६,१,१००)। २. उदात्तत्वोऽङ्गुली (वा. ४, १, ५)। ३. उदात्तत्वोऽङ्गुली (वा. ६,१,१०५)। ४. उदात्तत्वोऽङ्गुली (वा. ६, १, १११)। ५. उदात्तत्वोऽङ्गुली (वा. ८,१,४)।

६. ह्रस्वान्त अन्तोदात्त शब्द से तथा नुङ्-आगम से परे 'मतुप्' प्रत्यय उदात्त होता है^१। ह्रस्व—अग्निवान् (ऋ. ७, १०४, २), स्वास्तुमतः (ऋ. १, ६०, ५), धुमन्तः (ऋ. १, ३०, १३)। यहाँ ह्रस्व इकारान्त 'अग्नि' और 'स्वास्ति' शब्द अन्तोदात्त हैं। 'धु' शब्द उवर्णान्त उदात्त है। इनसे परे 'मतुप्' प्रत्यय उदात्त हो गया है। अन्यथा 'मतुप्' प्रत्यय के पित्-स्वर से अनुदात्त होने पर 'अग्नि' आदि का अन्तोदात्तत्व विद्यमान रहता।

ह्रस्वान्त शब्द आद्युदात्त हों तो भी यह नियम नहीं लगता। जैसे—मधुमन्तम् (ऋ. १, १३, २) इतिवान् (ऋ. १, ८१, ४)। यहाँ आद्युदात्त शब्दों का अपना उदात्त स्वर है, 'मतुप्' प्रत्यय का नहीं।

ह्रस्व अवर्णान्त अन्तोदात्त शब्दों से परे भी 'मतुप्' प्रत्यय का उदात्त-स्वर नहीं होता। 'न गोश्वन्' (पा. ६, १, १८२) सूत्र से 'सावर्ण' मानकर निषेध हो जाता है। क्योंकि सावर्ण (=सौ अवर्ण) = प्रथमा विभक्ति के एकवचन 'सु' परे रहते जो शब्द अवर्णान्त होते हैं) में ऐसे शब्द अवर्णान्त ही उपलब्ध होते हैं। जैसे—शितवन्त (ऋ. १, १६०, ८), शतवन्तम् (ऋ. ८, ५, १५) आदि।

नुङ्—अक्ष्वान् (ऋ. १, १६४, १६) अस्थ्वन्तम् (ऋ. १, १६४, ४)। यहाँ 'अक्षि' शब्द को 'अक्षन्'^२ और 'अस्थि' शब्द को 'अस्थन्'^२ हुए 'अन्' युक्त अकारान्त शब्दों से परे मतुप् प्रत्यय को नुङ्-आगम हुआ है^३। और इस नियम से 'नुङ्' से परे मतुप् प्रत्यय को उदात्तत्व हुआ है।

('स्वारविधौ व्यञ्जनम् अविद्यमानवत्' (स्वर के विषय में व्यञ्जन अक्षर न होने के समान माना जाता है) यह व्याकरण का नियम 'ह्रस्वनुङ्-भ्याम्' (पा. ६, १, १०६) सूत्र में 'नुङ्' के पृथक् पाठ के ज्ञापन से इस मतुप् प्रत्यय के स्वर में चरितार्थ नहीं है। अन्यथा 'अक्ष्वान्' शब्द में 'ण्' व्यञ्जन को अ-विद्यमानवत् मान कर भी ह्रस्वान्त अवर्णान्त शब्द से परे मतुप् का उदात्तत्व सिद्ध था फिर 'नुङ्' का पृथक् पाठ क्यों किया। इसी लिए मरुतान् (ऋ. १, ८०, ११) निधुतान् (ऋ. १, १३५, ४) आदि शब्दों में 'मतुप्' प्रत्यय के पूर्ववर्ती 'मरु' और 'निधु' दोनों अन्तोदात्त शब्दों को उकारान्त नहीं माना

१. ह्रस्वनुङ्भ्यां मतुप् (पा. ६, १, १०६)। २. अन्दस्यपि दृश्यते (पा. ७, १, ७६)। ३. अनो नुङ् (पा. ८, २, १६)।

गम, और 'मतुप्' प्रत्यय को उदात्तत्व नहीं हुआ। अन्यथा 'मृश्' और 'विश्व' दोनों शब्दों के अन्तिम व्यञ्जन वर्ण 'व' को अ-विद्यमानवन् (न होने के समान) मान कर दोनों शब्द ह्रस्वान्त अन्तोदात्त हो सकते थे। 'नुट्' का पृथक् पाठ ज्ञापक है कि 'स्वाविवी ध्वज्जम-नियमानवन्' का नियम यहां चरितार्थ नहीं होता।

७. 'मतुप्' प्रत्यय परे रहते जो शब्द ह्रस्वान्त है, ऐसे अन्तोदात्त शब्द से परे 'नाम्' (पशु विभक्ति के बहुवचन में नुट्-आगम सहित 'शाम्') को विकल्प से उदात्तत्व होता है^१। जैसे—सुमतीनाम् (श्र. १, ३, ११) में 'सुमति' शब्द अन्तोदात्त भी है और मतुप्-प्रत्यय से युक्त होने पर 'सुमतिनाम्' इत्यादि शब्दों में 'मतुप्' प्रत्यय से पूर्व ह्रस्वान्त 'सुमति' शब्द श्रूयमाण भी है। इसलिए परवर्ती 'नाम्' को उदात्त हो गया है। ऐसे ही—भुज्जनाम् (श्र. १०, ७८, ३), कुवीनाम् (श्र. २, २३, १), दुमंतीनाम् (श्र. १, १२९, ८), शुभ्रुणाम् (श्र. ४, ३५, ८), बहूनाम् (श्र. २, ३५, १२), स्तोत्रुणाम् (श्र. ३, ५, २) आदि।

ह्रस्व अकारान्त शब्दों से परे 'नाम्' विभक्ति को उदात्तत्व न होगा। पूर्वान् 'न गोषम्' इत्यादि सूत्र से निषेध हो जायेगा। जैसे—द्वाराणाम् (श्र. १, १०१, ०)।

स्त्रीत्व की विवक्षा में डोवन्त शब्दों से भी परे 'नाम्' को उदात्तत्व होता है^२। जैसे—अभिभन्वृत्तीनाम् (श्र. १०, १०३, ८)। कहीं नहीं भी होता—नुदीनाम् (श्र. २, १५, ३)। यहां 'नुदी' शब्द का उदात्तत्व है, 'नाम्' का नहीं।

८. पट्संज्ञक (पकारान्त 'पप्' नकारान्त पञ्चन्, सप्तन् आदि) शब्द, त्रि और चतुर् शब्दों से परे हलादि विभक्ति (अजादि विभक्तियों के अतिरिक्त) को उदात्तत्व होता है^३।

यहां ध्यान देने योग्य यह है कि इसी ने अगला 'अनुपोत्तमम्' (पा. ६, १, १००) सूत्र कृपादि विभक्तियों (भ्याम् भिम् भ्यम्, सुप्) में इस नियम का बाध करके उपोत्तम को उदात्तत्व का विधान करता है (देते पृ १२४) पशु के बहुवचन में 'नाम्' विभक्ति शेष रहती है। सभी को इस नियम से उदात्तत्व होगा। या फिर पप्, त्रि आदि पञ्चाक्षर

१. नाम्नाशब्दम् (पा. ६, १, १०३)। २. द्वारपुत्रि बहुवचनम् (पा. ६, १, १०८)। ३. पट्त्रिचतुर्वी हलादि (पा. ६, १, १०३)।

शब्दों में उपोत्तम स्वर की योग्यता ही नहीं, इसलिए उन शब्दों की हलादि विभक्तियों में यह नियम लगेगा। भाव यह कि 'ऋत्युपोत्तमम्' सूत्र का विषय छोड़कर ही इस नियम की प्रवृत्ति होगी। जैसे—पप्—पुद्भिः (ऋ. २, १८, ४) 'दशन्—दशानाम् (ऋ. १०, २७, १६)। त्रि—त्रिभिः (ऋ. १, ३४, ११), त्रिभ्यः (ऋ. ८, ७०, १५), त्रीणाम् (ऋ. १०, १८५, १), त्रिषु (ऋ. १, १५, ४)। चतुर—चतुर्णाम् (ऋ. ८, ७४, १३) आदि।

६. गो, श्वन्, साववर्ण (प्रथमा के एकवचन 'सु' परे रहते जो शब्द अवर्णान्त स्थिति में हैं, जैसे—तद् > स, यद् > य, एतद् > एप यह सब शब्द साववर्ण हैं), राज् शब्द, अङ् (√अञ्चु 'पूजयाम्' धातु से निष्पन्न प्राञ्च्, प्रत्यञ्च् आदि शब्द। √अञ्चु 'गती' धातु से निष्पन्न प्राञ्च्, प्रत्यञ्च् आदि शब्दों में यह निषेध नहीं लगता, उनमें 'अञ्चेश्चन्दसि' [पा. ६, १, १७०] इस सूत्र से विभक्ति-स्वर हो जाता है)। क्रुञ्च् और कृत् (√कृ धातु से मध्य में तुग्-आगम^१ करके किप्-प्रत्ययान्त शब्द) इन शब्दों में विभक्ति-स्वर नहीं होता^२। भाव यह कि सब विभक्तियों में यह शब्द आद्युदात्त ही रहेंगे, इनमें विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्तत्व नहीं होता। जैसे—गो—गवां (ऋ. ५, ३०, ७), गवें (ऋ. १, ४३, २), गवान् (ऋ. १, १०, ७), गविं (ऋ. १, ११६, ६) यहां 'सावेकाचः' (पा. ६, १, १६८) से प्राप्त विभक्ति-स्वर का बाध हो गया है। श्वन्—शुनं (ऋ. १, १८२, ४), शुनं (शौ. १, ११, ४)। साववर्ण—एतेन (ऋ. १, ३१, १८), एतेभिः (ऋ. ५, ५२, १०), एतेभ्यः (ऋ. १०, १७, ३)। तेन (ऋ. १, २१, ६), तेभिः (ऋ. १, ३५, ११), तेभ्यः (ऋ. ३, २, ६), तेषाम् (ऋ. १, २, १), तेषुं (ऋ. १, १३६, ६)। येन (ऋ. २, १२, ४), यस्मात् (ऋ. २, १२, ६), यस्य (ऋ. २, १२, १४) यासुं (ऋ. २, १५, १)।

१०. समास-स्वर

(१. समास में सामान्यरूप में अन्तोदात्तत्व होता है^३। पञ्चमी तत्पुरुष, षष्ठी तत्पुरुष, कर्मधारय, अव्ययीभाव तथा द्व-द्व समास का इस वर्ग में परिगणन हो सकता है। जैसे—षष्ठी समास—राजपुत्राः (ऋ. १०, ४०, ३) राजयक्ष्मात् (ऋ. १०, १६१, १)। कर्मधारय—

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (पा. ६, १, ७१)। २. न गोश्वन्-साववर्णाराङ्गुद्भ्यः (पा. ६, १, १८२)। ३. समासस्य (पा. ६, १, २२३)।

अन्तोदात्त-स्वर (श्रु. १०, १६१, १) । अव्ययीभाव—अनुस्वभ्रम (श्रु. १, ८१, ४) आदि । इन्द्र—इन्द्राग्निभ्रम (श्रु. १, १०३, १) । इसी सामान्य-रूप में विहित अन्तोदात्त-स्वर की समास-स्वर भी कहते हैं ।

(२. बहुव्रीहि-समास में पूर्व-पद की प्रकृति का उदात्त या स्वरित स्वर प्रकृति (अपनी यथास्थिति) में रहता है^१) यदि पूर्व-पद आद्युदात्त शब्द है, तो समस्त पद आद्युदात्त होगा, अन्यथा मध्योदात्त । जैसे—इन्द्राग्नेयाः (श्रु. ६, ५१, १५) । वज्रहस्तः (श्रु. १, १०३, १०) । वार्षधरमम (श्रु. ३, २, ५) इन स्थलों में पूर्व-पद आद्युदात्त शब्द हैं । निरध्वन्ममः (श्रु. १, १, ५) में पूर्व-पद 'चिब्र' शब्द अन्तोदात्त है, उसी लिए समस्त पद मध्योदात्त है, आद्युदात्त नहीं ।

विश्वर्षावमम (श्रु. २, १०, ५) शब्द में 'विश्व' शब्द आद्युदात्त है, जैसे—विश्वस्मात् (श्रु. २, १०, ६) विश्वा (श्रु. २, १०, ४) आदि । परन्तु बहुव्रीहि-समास के कारण 'विश्व' शब्द को अन्तोदात्त-व हो गया है^२, इसलिए मध्योदात्त शब्द है ।

'भ' आदि उपसर्ग पूर्व-पद होने पर शब्द का स्वरूप समास-विवक्षा पर निर्भर है । उपसर्ग के अर्थ की विलक्षणता दिखानी होगी तो प्रादि-समास होगा (देखिये पृष्ठ १३८) । अन्य-पदार्थ की प्रधानता में बहुव्रीहि । जैसे—प्रचेतमः (श्रु. २, २३, २) आदि ।

३. यदि पूर्वपद में तुल्य, सटप्र आदि तुल्यार्थक शब्द हों, तृतीया-तत्पुरुष हो, सप्तमी-तत्पुरुष हो, पूर्व-पद में उपमान-वाची शब्द हो, या अव्ययों में नञ्, कु, और निपातों का कोई शब्द हो, द्वितीया-तत्पुरुष हो, तथा कृत्य-प्रत्ययान्त पूर्व-पद में हो तो तत्पुरुष-समास में पूर्व-पद की प्रकृति या स्वर यथा-स्थित रहेगा^३ । आद्युदात्त पूर्व-पद से शब्द आद्युदात्त और अन्तोदात्त पूर्व-पद से शब्द मध्योदात्त यह व्यवस्था पूर्ववत् है । इस सूत्र के सभी उदाहरणों का प्रदर्शन तो अशक्य है । निदर्शन के लिए कतिपय ये हैं—वेदशतम्, पितृशतम्, मनुष्यशतम् (भा. ८, १३) यहाँ सर्वत्र सप्तमी-समास में पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर उदात्त या स्वरित यथास्थित है । समस्त

१. बहुव्रीहि प्रकृत्वा पूर्वपद (वा. ६, २, १) । २. बहुव्रीहि विश्व संज्ञकम् (वा. ६, २, १०१) । ३. तत्पुरुषे तुल्यार्थकत्वं समासतत्पुरुषत्वस्य द्वितीयावृत्त्याः (वा. ६, २, ३) ।

शब्द 'आद्युदात्त' और मध्य-स्वरित है। अर्थात् (श्रु. १, १००, २) अन्त मे पूर्व-पद अन्त (गन्) है।

तत्पुरुष-समास मे ही अवान्तर भेद प्रादि-समास है। जहाँ 'प्र', 'पति' आदि प्रादि उपसर्ग पूर्व-पद मे स्थित रहते है। उदाहरण के लिए अंत्याशिनस्य (मै. ३, ६, २) को ले लें। मैत्रायणी-संहिता मे उदात्त का चिह्न उर्ध्व-रेखा है। 'अप्यन्तम् आशित।' इस विग्रह मे 'कुगतिप्रादय' (पा. २, २, १८) सूत्र तथा उसके 'प्रादयो गतापर्थे प्रथमया' इत्यादि वार्तिक से प्रादि-समास होने पर 'अति' यह उपसर्ग पूर्व-पद मे आद्युदात्त स्थित है। इसलिए तत्पुरुष समास (प्रादि समास) मे पूर्व-पद 'अति' की आद्युदात्तता के कारण 'अंत्याशित' शब्द आद्युदात्त है।

ऐसे ही—अनुरूप, (मा. १६, २), प्रतिरूप (श्रु. ६, ४०, १८), दुरन्तरितात् (मा. ४, २८) आदि शब्द तत्पुरुष समास (प्रादि-समास) मे पूर्व-पद की अव्यय (प्रादि) प्रकृति के आद्युदात्त होने के कारण आद्युदात्त है।

४ ऐश्वर्यवाची पति-शब्द के साथ तत्पुरुष-समास मे पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर यथास्थित होता है। जैसे—वाजपति (श्रु. ४, १५, ३) शब्द मे 'वाजाना पति' पृष्ठी तत्पुरुष-समास है। पूर्व-पद मे वाज (=अन्न) शब्द आद्युदात्त है। इसलिए उसी का आद्युदात्त स्वर शेष रहा। यदि पूर्व-पद अन्तोदात्त है। जैसे—गणपतिम् (श्रु. २, १३, १)। तो उसकी प्रकृति के अनुसार मध्योदात्त शब्द होगा।

इस नियम के कुछ अपवाद है—भू, वाच्, चित्, दिधिषू यह शब्द यदि पूर्व पद मे हों तो उक्त पूर्वपद-प्रकृति स्वर नहीं होता। जैसे—वाक्पतये (मै. १, ११, ३) चित्पति (मै. १, २, -) यहा दोनों स्थलों पर पृष्ठी तत्पुरुष होने के कारण समास-स्वर (पृष्ठ १३७ देखें) से अन्तोदात्तत्व है। उक्त अपवाद-नियम के कारण पूर्व-पद की प्रकृति 'वाक्' तथा 'चित्' का स्वर नहीं है। परन्तु मैत्रायणी संहिता मे अन्तोदात्त 'वाक्पति' और 'चित्पति' शब्द माध्यन्दिन-संहिता मे वाक्पति (मा. ४, ४) चित्पति (मा. ४, ४) मध्योदात्त है। जहा समास-स्वर से अन्तोदात्तत्व भी नहीं है। दिधिषूपतिम् (तैमा. ३, ४, ४, १) मे 'दिधिषू' पूर्व-पद की प्रकृति के स्वर का निषेध हो रहा है।

१. पयावैश्वर्ये (पा. ६, २, १८)। २. न भूताविच्छुदिधिषु (पा. ६, २, १६)।

परन्तु भू-पति शब्द की स्थिति विलक्षण है। पूर्ण निर्दिष्ट अपवाद-नियम के अनुसार भू पति शब्द की पूर्व-पद की प्रकृति 'भू' का स्वर निर्दिष्ट है। इसी लिए भूपतये (मै. ३, ४, ६) में समास-स्वर से शब्द अन्तोदात्त है। परन्तु यजुर्वेद की काव्य-शाखा में पाठ-भेद से यही शब्द आगुदात्त है। जैसे—भूपतये (का. २, १, ३)। यहाँ स्पष्ट पूर्व-पद की प्रकृति 'भू' का उदात्त स्वर ध्रुवमाण हो रहा है। भाव यह कि भू-पति शब्द में पूर्वपद-प्रकृति-स्वर की विकल्प से प्रवृत्ति हो रही है। इन वैदिक उदाहरणों के आधार पर यह कहना युक्तिगत होगा कि यदि महर्षि पाणिनि ने वैकल्पिक पूर्वपद-प्रकृति-स्वर के विधायक 'वा भुवनम्' (पा. ६, १, २०) सूत्र में 'भू' शब्द का भी समावेश करके 'वा भुभुवनम्' ऐसा सूत्र पढ़ा होता तथा निषेध-सूत्र 'न भूवाचिद्दिषिषु' (पा. ६, २, १६) सूत्र से 'भू' शब्द का निराकरण करके 'न वाचिद्दिषिषु' इतना ही सूत्र पढ़ा होता, तो उक्त वैदिक उदाहरणों का भलीभाँति सामञ्जस्य हो जाता। पाणिनि-निर्दिष्ट वैकल्पिक पूर्वपद-प्रकृति-स्वर का उदाहरण वेद में उपलब्ध है। जैसे—माध्यन्दिन-संहिता में भुवनपतये (मा. २, १) शब्द में पूर्व-पद भुवन (आगुदात्त) शब्द की प्रकृति के कारण आगुदात्त है। और यही शब्द पाठ-भेद से मंत्रायणी-संहिता में अन्तोदात्त है। जैसे—भुवनप वे (मै. ३, ८, ६)। यहाँ पूर्वपद-प्रकृति स्वर नहीं है। प्रत्युत समास-स्वर से अन्तोदात्त शब्द है।

४ द्विगु-समास में इगन्त (इ, उ, थ, लु) वर्ण जिनके अन्त में हों) शब्द ('भरति' आदि), कालघाचक शब्द, कपाल, भगाल और शगाल इन शब्दों के परे होने पर पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर यथावस्थित होता है। जैसे—एकंक्षाम (मै. २, ३, १, ०)। यहाँ कपाल-शब्द पर मै है और द्विगु-समास में पृथ पद की प्रकृति 'एक' शब्द का आगुदात्त-स्वर विद्यमान है।

६. इन्द्र-समास में मंग्यावाची पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर यथावस्थित होता है। जैसे—एकंक्षाम (शु. १, १२३, ११) पर्यदाम (शु. १०, ८१, १४) इत्यादि शब्दों की पूर्व-पद प्रकृति मंग्या-वाचक आर.दात्त है। इमन्तिण पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से शब्द आगुदात्त होंगे।

१. इगन्त-शब्द-इ-उ-थ-लु-वर्ण-जिनके-अन्त-में-हों-शु-द्विगु (पा. ६, ३, २२)। २. मंग्या (पा. ६, २, २५)।

७ कर्म अर्थ में क्त-प्रत्ययान्त शब्द पर मे हो तो तृतीयान्त पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर यथास्थित होता है^१ । जैसे— इन्द्रंजुत (ऋ ३,३३,११) । यहाँ 'इं' शब्द 'इ' धातु से कर्म अर्थ में क्त-प्रत्यय होकर 'जुत' शब्द पर मे विद्यमान है । उमलित तृतीयान्त पूर्व-पद की प्रकृति आशुदात्त 'इन्द्रं' शब्द के स्वर के कारण शब्द आशुदात्त है । पहले स्पष्ट कर आये हैं कि पूर्व-पद की प्रकृति के आशुदात्त या अन्तोदात्त होने पर ही उसके स्वर से शब्द की आशुदात्तता या मध्योदात्तता संभव है । इसी लिए द्वेषेपित (ऋ १०, १३६,५) इस तृतीया-ममात् (इं इपित) में पूर्व-पद की प्रकृति 'इव' शब्द के अन्तोदात्त होने के कारण मध्योदात्त शब्द है ।

८ कर्म अर्थ में क्त-प्रत्ययान्त शब्द पर मे हो तो अनन्तर (व्यवधान-रहित-पूर्व) गति (उपसर्ग) को प्रकृति-स्वर होता है^२ । जैसे— भव्यंहित (ऋ १,१०५,१०) निःशतस्य (ऋ १ १६२,११) आदि में √धा धातु से क्त प्रत्ययान्त 'हित' और √हन् धातु से 'हत' परे रहते अनन्तर आशुदात्त गति (उपसर्ग) के प्रकृति स्वर के कारण शब्द आशुदात्त है ।

पुरोऽदितम् (ऋ १,१,१) शब्द में भी √धा धातु से निष्पन्न 'हित' पर मे होत हुए अनन्तर पूर्व में अन्तोदात्त गतिसंज्ञक 'पुरस्' की प्रकृति का स्वर विद्यमान होने के कारण मध्योदात्त शब्द है । क्रिया के योग में 'पुरस्' अव्यय की गति संज्ञा होती है^३ । पुरोहित शब्द में हित-शब्द √धा धातु से कर्म अर्थ में क्त-प्रत्यय करके क्रियावाची है ।

इसी प्रसङ्ग में वार्तिककार महर्षि कात्यायन ने 'पुनर्' और 'चर्त्त' की अनन्तर प्रकृति का गति स्वर माना है । इसी लिए उन्होंने 'पुनर्' और 'चर्त्त' (=अन्न) शब्द की विशेष वार्तिक से गति-संज्ञा की है^४ । उदाहरण रूप में जैसे—पुनरोमृतेषु (मै १,११,७) में √सृ धातु से निष्पन्न क्त-प्रत्ययान्त 'सृत्' के अनन्तर पूर्ववर्ती गति (उपसर्ग) 'भा' का प्रकृति-स्वर होने के कारण 'गतिगती' (पा ८,१,७०) के नियम से गति-संज्ञक 'पुनर्' को अनुदात्तत्व हो गया है । चर्त्तहित

१ तृतीया कर्मणि (पा ६,२,४८) । २ गतिरन-पर (पा ६,२,४६) ।

३ पुरोऽव्ययम् (पा १,४,६७) । ४ पुनश्चर्त्तौ छन्दसि गतिसञ्ज्ञी भवत इति वक्तव्यम् (पा १,४,६०) ।

(ऋ. ३, ११, २) में √धा धातु से क्त-प्रत्ययान्त 'हित' शब्द पर में है, इसलिए अनन्तर-पूर्ववर्ती गति 'चनेस्' का आद्युदात्त प्रकृति-स्वर से श्रूयमाण है।

उक्त (७, ८) नियमों की स्पष्टता में भी कविप्रस्त. (शब्र. १, ४, २, ८) शब्द प्रकृति-स्वर से मध्योदात्त है। इसके विपरीत कृत्रिऽशुस्तः (ऋ. १, १५२, २) शब्द तथा कृत्रिऽशुस्तः (ऋ. ५, १, ८) शब्द अन्तोदात्त है। पुनःपृष्ठ. (तै. १, ५, २, ४) पुनःस्युतम् (तै. १, ५, २, ४) पुनःन्युतः (तै. १, ५, २, ४) इत्यादि उदाहरण भी अन्तोदात्त शब्दों के उपलब्ध हैं जहाँ गति का प्रकृति-स्वर नहीं है। ऐसे ही प्रयोगों को अन्तोदात्त सिद्ध करने के लिए प्रवृद्धादि-गण (पा. ६, २, १४७) की व्यवस्था की गई है।

६. तु-प्रत्ययान्त ङगादि-निष्पन्न 'गन्तु' आदि शब्दों को झोड़कर यदि कोई भी तकारादि प्रत्ययान्त निन् शब्द होगा, तो उसके पर में रहते हुए अनन्तर गति के पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर होता है। जैसे—क्तिन्—उपेतिः (ऋ. १, ७६, १) में 'इति' शब्द √इण् 'गती' धातु से भाव अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय करके निष्पन्न होने के कारण निन् भी है और तादि (तकार आदि वाला) है। और उससे अव्यवहित-पूर्व 'उपे' गति का प्रकृति-स्वर हो रहा है। 'उपे' उपसर्ग आद्युदात्त होने के कारण यह शब्द भी आद्युदात्त है। तुन्—निश्चंतात् (ऋ. १, १८, ४२)। तुमुन्—वेदम् (तै. २, ५, २, ३)। यहाँ शब्द के उत्तर-पद 'पुत्रम्' में √इ धातु से तुमुन् (तादि निन्) प्रत्यय है। इसके अनन्तर-पूर्ववर्ती गति 'का' का प्रकृति-स्वर हुआ है। तवेन्—प्रनिऽघातवे (ऋ. १, २४, ८)। यहाँ उत्तर-पद में √धा धातु से तुमुन्-प्रत्यय के अर्थ में तवेन-प्रत्यय^२ निन् और तकारादि है। इसलिए अनन्तर-पूर्व की गति 'इति' का आद्युदात्त प्रकृति-स्वर हो गया है। ऐसे ही निऽइन्तवे (ऋ. २, १३, ८) है। तोमुन्—ए (काऽः) नः (श्री. १२, ३, ५५) शब्द में √इ धातु से 'तोमुन्' प्रत्यय निन् और तादि पर में है।

१०. भिन्न-प्रत्ययान्त √अश्च् धातु का रूप पर में हो वो पूर्ववर्ती अनिगन्त (जो गति=उपसर्ग इगन्त न हो अर्थात् प्रनि, परं, कधि इत्यादि न हों, और अकारान्त म, वरां आदि अयणान्त ही हों)

१. तादी च निति इत्यर्था (पा. ६, २, ५०)। २. तुमपे सेमेनमेधमेनु-
वने इमेनन्वे तवेन् इत्येकैकान्ता-पैताच्चेन्पैतयेऽन्तः (पा. ३, ४, १)।

गति को प्रकृति-स्वर होता है^१। जैसे—प्राञ्चः (ऋ. १, ११०, २) पराञ्चः (ऋ. १, १६४, १६) आदि में पूर्व-पद का गति (उपसर्ग) डग्-अन्त (इकारान्त) नहीं, अकारान्त है। इसलिए 'प्र' और 'परा' के प्रकृति-स्वर से शब्द आनुदात्त हैं।

११. व-प्रत्ययान्त √अश्च धातु पर में रहते डगन्तों में भी यदि और 'नि' 'अधि' गति पूर्व-पद में हो तो प्रकृति-स्वर हो जाता है^२। जैसे—न्य नि-ञ्) जम् (ऋ. ५, ८३, ७) में पूर्व-पद में 'नि' के प्रकृति स्वर से शब्द के आदि में स्वरित है। क्योंकि उदात्तस्थानीय यणादेश के परवर्ती अनुदात्त को स्वरितत्व हो जाता है^३। 'न्यञ्जम्' शब्द में निर्दिष्ट नियम से पूर्ववर्ती 'नि' गति को प्रकृति-स्वर से उदात्तत्व का निश्चय होने पर 'अनुदात्तं पदमेकजम्' (पा. ६, १, १५८) सूत्र के नियम से परवर्ती 'अ' अनुदात्त है। और 'नि > न्य' ऐसा यण-आदेश होने पर स्वरित है।

१२. सामान्य रूप से पष्ठी-समास में समास-स्वर^४ से अन्तोदात्त होता है, किन्तु यदि कहीं पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर उपलब्ध होता है, तो उन शब्दों में स्वर-सिद्धि के लिए ढासीभारादिगण (पा. ६, २, ४२) की कल्पना की गई है। जैसे—देवहृतिभिः (ऋ. १, १२, १२)। यहां पष्ठी-समास है। और पूर्व-पद में अन्तोदात्त 'देव' शब्द की प्रकृति का अन्तोदात्त स्वर विद्यमान है।

काशिकाकार ने आद्युदात्त प्रकृति-स्वर का ज्ञान कराने के लिए वसुनीतिः (शौ. १२, २, ६) शब्द को उद्धृत किया है। जो कि संदिग्ध है। मन्त्रार्थानुगम से यह विशेषण पद प्रतीत होता है, जो कि बहुव्रीहि-समास के पूर्व-पद प्रकृति-स्वर से सिद्ध है।

चन्द्रमसः (ऋ. १, ८४, १५) शब्द में भी चन्द्र + मस् इन दो शब्दों का समास है। और उक्त नियम से पूर्व पद 'चन्द्र' की अन्तोदात्त प्रकृति का स्वर है।

ओषधीः (ऋ. १, ६०, ६) शब्द का स्वर भी इसी उक्त नियम से सिद्ध है। यहाँ ओष + धि (√धे३ 'पाने') इन दो पदों का समास है। इसी

१. अनिगन्तोऽश्चती वप्रत्यये (पा. ६, २, ५२)। २. न्यधी च (पा. ६, २, ५३)।
३. उदात्तस्वरितयोर्गणः स्वस्तिऽनुदात्तस्य (पा. ८, २, ५)। ४. समासस्य (पा. ६, १, २२३)।

लिए साम-वेद की कौथुम-शाखा में ओष^३ धातु (कौ. २, ३३२) ऐसा पद-पाठ है।

१३. उपपद-समास में अण्-प्रत्ययान्त शब्दों में भी कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर से अन्तोदात्त शब्द बनेंगे। जैसे—रथकरोभ्यः (भा. १६, २७) में 'रथं करोति' इस विग्रह में 'कर्मण्यण्' (पा. ३, २, १) सूत्र से रथ शब्द (कर्म) उपपद होते हुए √कृ धातु से अण्-प्रत्यय करके रथकार- शब्द अन्तोदात्त निष्पन्न है।

बन्नामाय (श्रु. १०, ११०, २), देवनामा (श्रु. १०, ८५, ४४)। देवनामा (शौ. १४, २, १७)। सुहर्मभाः (तै. ३, १, ६, २) आदि शब्दों में उपपद-समास में कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर का वाचक कृत्-पूर्वपद-प्रकृति-स्वर विशेष धार्तिक-नियम^१ से विहित है। धार्तिक 'बन्नामायने', 'देवान् कामयने' आदि विग्रहों में उपपद-समास में अण्-प्रत्यय के मुख्य विधायक 'कर्मण्यण्' (पा. ६, २, १) सूत्र का वाचक है। यहाँ कर्ता अर्थ में 'कृष्' प्रत्यय नहीं, 'य' प्रत्यय हो रहा है।

कतिपय आचार्य उत्तर-पद में भाव-वाचक 'काम' शब्द मानकर 'कामे कामो यय', 'देवेषु कामो यस्य' ऐसे विग्रह से बहुव्रीहि-समास में 'बहुव्रीहि प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा. ६, २, १) इस सूत्र-नियम से पूर्वपद-प्रकृति-स्वर का निर्वाह कर लेते हैं।

१४. अच् (नकार का लोप हुआ √अच् 'गती' धातु) पर में हो तो पूर्व को उदात्तत्व होता है^२। जैसे—अनुषः (शौ. ३, १, ४)। यहाँ अनु + अच् + अच् इस स्थिति में अजादि सुप् विभक्ति 'अच्' पर रहते पूर्व अच् को भ-संज्ञा^३ और न-लोप होकर 'अच्' (पा. ६, ५, १३८) सूत्र से अच् के 'अ' का लोप होकर 'अ' शेष रहा है और 'अ' (पा. ६, ३, १३८) से पूर्ववर्ती 'अच्' के 'अ' को दीर्घ होकर 'अच्' शब्द निष्पन्न हुआ है। यहाँ अनुदात्त सुप्-विभक्ति 'अच्' के कारण (भ-संज्ञा होकर) अच् के उदात्त 'अ' का लोप हुआ है, इसलिए उदात्त-निवृत्ति-स्वर ('अन्तोदात्त-स्था' प्रकरण में पृ. १२६ देखें) से अनुदात्त 'अच्' (सुप्-विभक्ति) को उदात्त-स्वर होकर अन्तोदात्त गत धनना चाहिए, परन्तु निर्दिष्ट नियम से उदात्त निवृत्ति-स्वर का याप हो जाने के कारण

१. गतिभारकंपराशय इत् (पा. ६, २, १३६)। २. गोपिह-विग्रहण-धर्मोपायः (पा. ३, २, १)। ३. अ' (पा. ६, १, १२२)।
४. अ' (पा. १, ५, १८)।

दीर्घ हुग 'ऊ' को ही उदात्तत्व होकर मध्योदात्त शब्द हो गया है। यही शब्द ऋग्वेद में विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्त है। जैसे—अनूचः (ऋ. ३, ३०, ६)। छन्द में लुप्त-नकार (नकार का लोप होकर 'अच्') ✓अञ्च् 'गती' धातु से परे 'शस्' आदि अ-सर्वनामस्थान विभक्तियों को विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्तत्व होता है (पृष्ठ १३२ देखें)। इस नियम से ऋग्वेद में अन्तोदात्तत्व है। ऋग्वेद में मध्योदात्त शब्द नहीं होता, यह भी नहीं है। 'द्वेद्वीर्चो नयत देव्यन्तः' (ऋ. ३, ६, १) प्रयोग में स्पष्ट पूर्व को उदात्तत्व होकर मध्योदात्त शब्द 'द्वेद्वीर्चो' विद्यमान है। ऐसे ही अनूची. (तै. ५, ५, ७, २) शब्द भी इसी नियम से मध्योदात्त है।

१५. बहुव्रीहि-समास में 'अ' (नञ्) से परे जर, मर, मित्र और मृत शब्दों को आद्युदात्तत्व^१ होकर मध्योदात्त शब्द निष्पन्न होते हैं। जैसे—अजरः (ऋ. १, ५८, २)। मरः (शान्. १४, ७, २, ३०)। अमित्रः (ऋ. १, १३३, १)। अमृतम् (ऋ. १, २३, ६) आदि। यहाँ सर्वत्र 'अ' (नञ्) से परे आद्युदात्तत्व हो रहा है।

१६. बहुव्रीहि-समास में 'सु' से परे में मन्न्न्त और असन्त शब्दों को आद्युदात्त होता है^२। जैसे—सुपेशसः (ऋ. २, ३२, ५)। परन्तु 'सु' के अतिरिक्त से भी परे में असन्त शब्दों को आद्युदात्तत्व मिलता है। जैसे—उरुचक्षसम् (ऋ. १, २५, ५)। पुरपेशसम् (ऋ. ३, ३, ६)। पूषुपार्जसे (ऋ. ३, ३, १) आदि।

१७. जो द्व्यक्षर शब्द आद्युदात्त है, बहुव्रीहि-समास में 'सु' से परे उत्तर-पद के रूप में भी आद्युदात्त ही रहता है^३। यद्यपि अष्टाध्यायी में 'सु' शब्द से परे में ही उत्तर-पद में द्व्यक्षर आद्युदात्त शब्द के आद्युदात्त होने का नियम है। परन्तु वेद में ऐसे अनेकों शब्द हैं जहाँ 'सु' से भिन्न शब्दों से परे में भी उत्तर-पद में द्व्यक्षर आद्युदात्त शब्दों को आद्युदात्तत्व उपलब्ध होता है। जैसे—स्वर्-ज्योति (मै. ४, ६, ८) शब्द में द्व्यक्षर आद्युदात्त 'ज्योति' शब्द नित्-स्वर से सिद्ध है। जो कि ✓ज्युत् (=✓द्युत्) धातु से इसिन्-प्रत्यय (उणादिसूत्र २, ११०) करके निष्पन्न है।

१. अञ्चेशञ्चद्वयसर्वनामस्थानम् (पा. ६, १, १००)। २. नञो जामर-मित्रमृता (पा. ६, २, ११६)। ३. सोर्मनसी अलोमोपसी (पा. ६, २, ११७)। ४. आद्युदात्त द्वय् छन्दसि (पा. ६, २, ११६)।

और स्वर शब्द से पर में भी बहुव्रीहि-समास में आद्युदात्त हो रहा है।

१८. अव्ययीभाव-समास में उत्तर-पद के रूप में विद्यमान कूल, वीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष, सम इन शब्दों को आद्युदात्त होता है* । जैसे—प्रतिहृत्सम् (शौ. ५, १४, १२) । प्रत्यक्षम् (तै. १. ७, ३, १) समक्षम् (आठ. १२, ११) । काठकसंहिता कृष्ण-यजुर्वेद की शाखा है। इसमें मैत्रायणी-संहिता के समान उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है। पुरो (रस-अ) क्षम् (तै. १, ७, ३, १) आदि ।

व्याकरण-शास्त्र के आचार्यों ने महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि के आधार पर^१ 'अक्षः परम्' (आंख से परे) इस विग्रह में 'प्रतिपरसमु-भ्योऽक्षः' (पाग ५, ४, १०७) इस गण-सूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय के विधान की सामर्थ्य से अव्ययीभाव समास माना है। और समास में 'पराक्षम्' शब्द को 'परोक्षे लिट्' (पा. ३, २, ११५) सूत्र में 'परोक्ष' शब्द में ओकार के निर्देश की सामर्थ्य से ओकारादेश का निपातन करके अक्ष-साध्य 'परोक्ष' शब्द सिद्ध किया है।

विचारणीय यह है कि अव्यय के साथ ही समास होकर टच् प्रत्यय समासान्त अव्ययीभाव समास में माना जाता है। 'पर' शब्द 'दूरता' के पर्याय में वेद में आद्युदात्त शब्द है, जो कि अव्यय नहीं है। 'प' ऐसा अकारान्त शब्द अव्ययों की श्रेणी में ही भी नहीं, फिर 'अक्षः परम्' इस विग्रह में अव्ययीभाव समास कैसे संभव है। आचार्य कैयट ने 'परोक्षे लिट्' सूत्र के महाभाष्य के अपने व्याख्यान में इस कठिनाई को समझा है, और 'नपूरव्यंशकादि' (पा. २, १, ७२) मानकर शब्द-सिद्धि का प्रयास किया है। स्वर-सिद्धि के लिए अक्ष् प्रत्ययपूर्वात्^२ (पा. ५, ४, ७५) सूत्र में 'अक्ष' का योग-विभाग करके

१. कूलतूलमूलशालाऽक्षसममव्ययीभावे (पा. ६, २, १२१) ।

२. परोभाषः परस्याक्षे परोक्षे लिटि दरपताम् ।

दत्त्वं वाऽऽदेः पराद् अक्षः सिद्धं वाऽऽनाम्निपातनात् ॥

(महाभाष्य ३, २, ११५) ।

३. अत्र कैयटः—मपूरव्यंशकादित्वात्समासः । अक्ष्प्रत्ययपूर्वस्य प्रासजिति योगविभागाद् अक्ष पृथ वा निपातनाद् अक्ष समासात्तः । परा-प्रतिपरसमुभ्योऽक्ष्य इति टच् समासान्तः । स च अक्षपदप्रवृत्तौ विधीयते, तथापि परशब्दत्वाऽवि-भवात् समासात्तरे विज्ञापते ।

समासान्त 'अच्' का आश्रय लिया है। परन्तु तब भी चित्स्वर से अन्तोदात्त 'प्रोक्ष' शब्द प्राप्त होता है।

शब्द यथार्थ में है मध्योदात्त जो निर्दिष्ट नियम से सिद्ध है, और अव्ययीभाव समास का नियामक है। यदि कहा जाय की 'प्रतिपरसमनु-भ्योऽच्णः' की सामर्थ्य से अव्ययीभाव समास हुआ है तो उक्त गण-सूत्र भी अव्यय शब्दों के ही अव्ययीभाव समास का नियामक है अव्ययेतर शब्दों के नहीं। जो कि पूर्वापर प्रति, सम्, अनु इन अव्ययों के परिगणन से सिद्ध है। फिर अव्ययेतर 'परं' शब्द का पाठ भी उक्त गण-सूत्र में संदिग्ध है। फिर क्या समाधान हो जब कि स्वर-विधायक उक्त सूत्र 'प्रोक्ष' शब्द को अव्ययीभाव समास में सिद्ध मानकर ही उत्तर-पद को आद्युदात्त कर रहा है।

हमारी तुच्छ मति में 'प्रतिपरसमनुभ्योऽच्णः' इस गण-सूत्र में वस्तुतः 'परं' शब्द नहीं है, यह 'परस्' (अन्तोदात्त) शब्द है। 'परस्' शब्द सर्वत्र 'परे, दूर' का वाचक है। महर्षि पतञ्जलि से बहुत पूर्व 'प्रतिपरसमनु-भ्योऽच्णः' ऐसा मध्य में विसर्गयुक्त पाठ गण-सूत्र में था जो कि कालक्रम से उच्चारण-दोष से या परवती अघोष वर्ण 'स' के दबाव के कारण विसर्ग का लोप होकर 'प्रतिपरसम' रह गया। आचार्य भट्टभास्कर ने भी अपने तैत्तिरीय-संहिता के भाष्य में 'अच्णः परस्तात्' ऐसा विग्रह 'प्रोक्ष' शब्द का माना है। वेद में अन्यत्र 'परस्' शब्द के साथ अव्ययीभाव समास देखा भी गया है। जैसे—परोगोष्ठम् (मै. १, १०, १३)। अव्ययीभाव समास में सामान्यरूप से 'समासत्व' (पा. ६, १, २२३) सूत्र से अन्तोदात्त होने का नियम है। जो 'परोगोष्ठम्' इस अन्तोदात्त शब्द में विद्यमान है। 'अच्' शब्द के साथ अव्ययीभाव समास में उत्तर-पद के आद्युदात्तत्व के लिए उक्त सूत्र नियम समास-स्वर से प्राप्त अन्तोदात्तत्व का बाधक है। इसलिये 'प्रोक्ष' शब्द अन्तोदात्त न होकर मध्योदात्त है। इससे सिद्ध है कि अव्ययीभाव समास 'परस्' के साथ ही संभव है, 'परं' (आद्युदात्त) शब्द के साथ नहीं।

१६. शालाशब्दान्त तत्पुरुष-समास में नपुंसकलिङ्ग में उत्तर-पद का आद्यक्षर उदात्त होता है। जैसे—अग्निःशालम् (शी. ६, ३, ०)।

१. तत्पुरुषे शाखायां नपुंसके (पा. ६, २, १२३) ।

शुभोशात् (म. १६, १८) । दोनों स्थलों में षष्ठी-तत्पुरुष समास है । 'शाका' शब्द को नपुंसक होकर^१ ह्रस्व 'शाक' बना है । सामान्यतया समास में समास-स्वर से अन्तोदात्तत्व होता है । उसका बाध करने के लिए यह नियम है ।

२०. कर्मधारय समास से भिन्न कोई तत्पुरुष-समास हो तो उत्तर-पद में राज्य शब्द आद्युदात्त होता है^२ । जैसे—सूर्याज्यम् (मै. १, १, ६) ।

२१. गति, कारक और उपपद से परे कृदन्त उत्तर-पद की प्रकृति का उदात्त-स्वर विद्यमान रहता है^३ । इसी नियम की व्याकरण में कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर से ख्याति है । आद्युदात्तस्वर-विधायकनियमों के अनुसार जिन प्रत्ययों के कारण आद्युदात्त शब्द बने हैं, इस नियम से गति, कारक और उपपद से परे भी उन आद्युदात्त स्वरों की स्थिति प्रकृति-स्वर से अपरिवर्तनीय रहेगी, इसलिए मंपूर्ण शब्द प्रायः मध्योदात्त होंगे । जैसे—यत् प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—निधंवी (मै. ४, ८, ४) । उपपद्ये. (श्रु. २, २३, १३) । परिचक्ष्याणि (श्रु. ६, ५२, १४) आदि । यहाँ सर्वत्र गति से परे उत्तर-पद यत्-प्रत्ययान्त है । उपपद्यः क्यवन्त का उदाहरण भी हो सकता है । क्यप्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—द्वेऽह्वये (श्रु. ७, ८५, २) । निरूप्यं (मै. १, ७, ३, २) आदि । शन्नन्त-प्रकृति-स्वर—निऽशिनन्ते (श्रु. १, ५५, ७) । शानजन्त-प्रकृति-स्वर—निऽशिशाना (श्रु. ७, ३, ५) । ल्युद्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—द्वेषयान्तम् (श्रु. १, ६२, ४) । द्वेषजन्तम् (मै. १, ३१) । न्यप्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—पुऽनिर्यं (श्रु. १०, १६७, १), प्रतिऽगृहं (श्रु. १, १०५, १) । शमुल्-अन्त-प्रकृति-स्वर—विमान्तम् (मै. १, ६, ४), अपलुंप्पम् (मै. १, ६, ७) । क्विप्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—द्वेषानिर्दं (श्रु. २, २३, ८) । कमल्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—विऽगृहं (श्रु. ७, ८६, ३) । फसुन्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—निऽनिर्यं (श्रु. २, २८, ६) । केच् प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—विऽगृहं (श्रु. ४, १३, ३) । खल्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—दुऽशंसः (श्रु. ७, २३, १०) । यह निदर्शन मात्र है । ऐसे अनेक मध्योदात्त शब्द इसी वर्ग में आ जाते हैं । कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर से अन्तोदात्तत्व का उदाहरण १३वें नियम में कहा गया है ।

१. विभाषा सेनासुराख्यावासाशानिशातम् (वा. २, ४, २५) । २. अहर्गणारे वापम् (वा. ६, ३, १३०) । ३. गतिकारकोपपदान् कृत् (वा. ६, २, १३६) ।

कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। कृत्-पूर्व-पद-प्रकृति-स्वर के भी कुछ उदाहरण हैं, यह कृत्-पूर्वपद-प्रकृति-स्वर उक्त कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर का वाचक है। जैसे— ज्ञातस्वेदसम् (ऋ. १, ४४, ४) शब्द में 'ज्ञातानि वेत्ति' इस विग्रह में उत्तर-पद 'वेदस्' शब्द कर्ता अर्थ में 'असुन्' प्रत्यय करके नित्-स्वर से आद्युदात्त निष्पन्न है। पूर्व निर्दिष्ट नियम की व्यापकता के कारण यहां भी कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर की सामर्थ्य से उत्तर-पद की प्रकृति 'वेदस्' का आद्युदात्तत्व होना चाहिए, और उदात्त का चिह्न 'वे' पर होना चाहिए, परन्तु वेद में उदात्त-स्वर 'ज्ञात' (पूर्व-पद) के 'त' पर श्रूयमाण है, इसलिए ऐसे स्थलों में कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर का निवारक और कृत्-पूर्वपद-प्रकृति-स्वर का निष्पादक विशेष नियम उपलब्ध है^१। ऐसे ही सर्वस्वेदसः (शौ. १६, ४६, ६) शब्द भी है।

'वेदस्' शब्द वेद में 'वित्' का भी वाचक है। इसलिए सायणाचार्यजी ने ऋग्वेद (१, ४४, १) के अपने भाष्य में एक पक्ष उपर्युक्त दिखाया, और पक्षान्तर में 'जातं वेदो धनं यस्य' यह बहुव्रीहि-समास मानकर उक्त वैदिक शब्द में 'बहुव्रीहौ प्रथ्या पूर्वपदम्' (पा. ६, २, १) सूत्र से भी पूर्वपद-प्रकृति-स्वर का निर्वाह किया है।

बहुव्रीहि-समास भी संभव है, इसी लिए विश्ववेदसम् (ऋ. १, १२, १) शब्द में बहुव्रीहि-समास मानकर ही पूर्व-पद की प्रकृति 'विश्व' शब्द को अन्तोदात्तत्व हुआ है^२।

२२. गति, कारक तथा उपपद में थ, अथ, यञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र, क इन प्रत्ययों से युक्त शब्दों में अन्तोदात्तत्व होता है^३। जैसे— थ—अथभूयम् (ऋ. ८, ६३, २३) प्रुभूथे (ऋ. २, ३४, ११)। अथ—आश्वसयान् (शौ. ६, ६, ७)। यञ्—उपश्रान्म् (ऋ. १, १६४, ८)। प्रमोदा' (मा. २०, ६) प्ररोह (ऋ. ४४, १, ३) सूक्तश्रावम् (ऋ. १०, ८८, ८)। अच्—प्रुभवः (ऋ. २, ३८, ५) अभिश्रोतम् (शौ. ७, ३६, १)। अप्—आश्रवम् (ऋ. १, १५५, ६)। क—प्रुपा (ऋ. १०, ४०, १) आदि।

१. गतिकारकपूर्वपदयो. पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (वशादिसूत्र ४, २२०)।

२. बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (पा. ६, २, १०६)। ३. थायचञ्जाजविग्रहाणाम् (पा. ६, २, १४४)।

११. नञ्-स्वर

यद्यपि 'नञ्-स्वर' तथा 'सु-स्वर' समास-स्वर के ही अङ्ग हैं, परन्तु 'नञ्' अव्यय के साथ तथा 'सु' अव्यय के साथ समस्त शब्दों में अनेक प्रकार का स्वर है। एक ही स्थल में सब का दिग्दर्शन कराने के लिए यह पृथक् निर्देश है।

१. 'नञ्' के साथ तत्पुरुष-समास में पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से शब्द आद्युदात्त होंगे। जैसे—अग्निदग्नाः (श्र. १०, १५, ४) आदि (पृष्ठ १३८ भी देखें)।

२. 'नञ्' के साथ बहुव्रीहि-समास में समस्त शब्द अन्तोदात्त होंगे। जैसे—अननैः (श्र. १, १२१, ६) अनपत्यानि (श्र. ३, ५४ १८) आदि।

३. 'नञ्' के साथ बहुव्रीहि-समास में जर, मर, मित्र, मृत शब्दों का आद्यत्तर उदात्त होता है। जैसे—अजरं (श्र. ३, ६, ४) ममः (श्र. १४, ७, २, ३०)। अमित्रस्य (श्र. ६, २५, २) अमृतानि (श्र. ३, ३८, ४)। पृष्ठ १४४ में भी देखें।

४. 'नञ्' के साथ बहुव्रीहि-समास में समासान्त कप् प्रत्यय पर में होने पर पूर्व को उदात्तत्व होता है। जैसे—अनुत्तरं वीर्यं (तै. २, ७, २) अण्डं दक्षम् (मै. ४, ७, ५) आदि।

५. 'नञ्' के साथ बहुव्रीहि-समास में समासान्त कप् प्रत्यय पर में होने पर ह्यवान्त उत्तर-पद के अन्त्य से पूर्व अक्षर को उदात्त होगा। जैसे—अनस्थायम् (मै. ३, ३, ५), मर्लोमिका (मै. २, ५, २) आदि।

६. 'नञ्' से पर में तादर्थ्य के अतिरिक्त तद्धित-नञ्-प्रत्ययान्त शब्दों में अन्तोदात्तत्व होता है। जैसे—अनिपत्याः (श्र. १०, १०८, ९)। यहाँ उत्तरपद में 'इ' से 'इपत्य' शब्द है। अनुत्तरं वीर्यं (तै. ६, १, ३, २) आदि।

१. तन्पुत्रे तुन्यार्थं शीवात्मन्पुपमानाण्यपश्चितीषहृणाः (पा. ६, ३, २)।
 २. अण्डं निपातानाम् (पा. ६, ३, २)। ३. अण्डं वीर्यं (पा. ६, ३, १०२)।
 ४. अण्डो जामाशिराणाः (पा. ६, ३, ११६)। ५. शीवद् विमया (पा. ५, ४, १५४)। ६. कपि पूर्वम् (पा. ६, २, १०३)। ७. अण्डं वीर्यं (पा. ६, १, ३, २)।
 ८. अण्डं वीर्यं (पा. ६, २, १५६)।

७. कृत्य प्रत्यय (क्यप्, एयत्, तव्य, अनीयर्, आदि), उकञ् और इष्णुच् प्रत्ययान्त शब्दों को तथा चारु-आदि गण में पठित शब्दों को नञ्-समास में अन्तोदात्तत्व होता है^१। कृत्य-अनपयुज्यान् (श्रु. १, १४६, ३)। अननुकृत्यम् (श्रु. १०, ६८, १०)। अनवदानीषानि (मै. २, ५, ५)। अमर्तव्यम् (मै. ३, ६, ७)। उकञ्-अनपक्रामुर्धः (मै. ४, २, ४) आदि। उकञ्-प्रत्ययान्त शब्दों को नञ्-समास में अन्तोदात्तत्व नहीं भी होता। प्रत्युत तत्पुरुष-समास का पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से आद्युदात्तत्व ही होता है। जैसे—अंघातुः (मै. १, ४, ७) अमुपदासुका (तै. ६, १, ७, ८) आदि। इष्णुच्-प्रत्ययान्त शब्दों को नञ्-समास में निर्विष्ट नियम से अन्तोदात्तत्व होना चाहिए, परन्तु मिलता है पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से आद्युदात्तत्व भी। जैसे—अं प्रजनिण्युः (मै. १, ६, १०)। चार्वोदि—अनुजा (तै. ३, ८, ५, २) आदि।

८. नञ् से पर में त्वन्-प्रत्ययान्त शब्द तथा अन्न, तीक्ष्ण, शुचि शब्दों में विकल्प से अन्तोदात्तत्व होता है^२। जैसे—अग्निगुह्या (श्रु. १, १६२, २०)। अन्नसंम् (मै. २, १, २)। अगुचितरः (मै. १, ८, ६)।

९. 'त्वं' और 'तल्' प्रत्ययान्त शब्दों में पहले नञ् का समास हो या प्रत्यय-स्वर ? पूर्व-विप्रतिषेध से नञ्-समास होकर पीछे प्रत्यय होंगे, तभी 'त्वं' और 'तल्' प्रत्ययों का स्वर श्रूयमाण होगा^३। 'अगोता' शब्द में 'गोता' (तल्-प्रत्ययान्त) के साथ नञ्-समास होगा तो आदि में 'अ' (नञ्) उदात्त होगा, परन्तु वेद में ऐसा नहीं मिलता। इसलिए अ+गो शब्द से तल्-प्रत्यय करके प्रत्यय लिन् होने के कारण 'ता' से पूर्व 'गो' उदात्त होता है। जैसे—अगोतामनपयणाम् (शौ. ४, १०, ६)। अगोतापि (श्रु. ३, १६, ५)। अगुर्गुताम् (मै. २, १, ८)। यह व्यवस्था छन्द में विकल्प से है^४, इसलिए 'त्वं', 'तल्' प्रत्यय करने के परचान् भी नञ्-समास होकर पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से अ (नञ्) उदात्त होता है। जैसे—अग्निधिरथाय (मै. २, २, ३) मैत्रायणी-संहिता में उदात्त या चिद् उपरिरेत्सा है। गयोतथा मत्रथाय (मै. १, ५, १, ४)।

१. कृपोऽेष्युश्चार्वोदपरण (पा. ६, ३, १६०)। २. त्रिभया नृगन्त-तोऽद्युषिण्यु (पा. ६, २, १६१)। ३. एतन्वा गन्तमगः पूर्वविप्रतिषेध एतयोः एतसिद्धयर्थम् (पाश. ५, १, ११६)। ४. वा एदमि नञ्-समासो वनस्यः (पाश. ५, १, ११६)।

१२. सु-स्वर

'सु' अव्यय के साथ प्रादि-समास, गति-समास, उपपद-समास, बहुव्रीहि-समास सब प्रकार का समास होता है।

१. सुञ्च'ह्यणः (शौ. ११, १, २६) । सुञ्च'रवः (ऋ. ५, १७, ७) । सुञ्च'ताः (ऋ. ७, ६४, १) आदि में 'रादयो गताद्येषु प्रथमया' इस धार्तिक के अनुसार 'कृगतिगदयः' (पा. २, २, १८) सूत्र से प्रादि-समास है। श्रीर पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से 'तत्पुस्वे तुल्यर्थ' (पा. ६, २, २) इत्यादि सूत्र से सब शब्द आद्युदात्त हैं (पृष्ठ १३८ देखें)।

२. 'सु' तथा उपमानवाची शब्द से पर में क्त-प्रत्ययान्त शब्दों में अन्तोदात्तत्व होता है* । जैसे—सुञ्जानः (ऋ. ७, ५१, १) शब्द में √जन् धातु के क्त-प्रत्ययान्त 'जान्' शब्द के साथ 'सु' का प्रादि-समास है (सुञ्जु जानः)। प्रादि-समास में पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से आद्युदात्त शब्द होना चाहिए। परन्तु निर्दिष्ट सूत्र-नियम से अन्तोदात्त है। ऐसे ही सुकम् (ऋ. ७, ५८, ६)।

३. गति-समास में सकर्मक धातुओं से क्त-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ 'सु' को अनन्तर-गति-स्वर से आद्युदात्तत्व होगा* । जैसे—सुगन्धितः (ऋ. ३, २३, १) । सुञ्च'नः (शौ. १३, २, १२) । सुञ्च'तम् (ऋ. ४, ५७, २) आदि ।

४. 'सु' शब्द उपपद में होने पर परवर्ती खल्-प्रत्ययान्त शब्द को उत्तरपद-प्रकृति-स्वर होता है* । जैसे—सुञ्च'षाम् (ऋ. २, ३२, ४) सुञ्च'रम् (ऋ. ८, ८०, ६) सुञ्च'रम् (ऋ. ७, ६७, ८) आदि ।

५. गत्वर्थक धातुओं से तथा अन्य धातुओं से भी पर में खल्-प्रत्यय के अर्थ में युच्-प्रत्ययान्त शब्दों को उत्तरपद-प्रकृति-स्वर से चिन्-स्वर अन्तोदात्त होगा* । जैसे—सुञ्च'गन् (ऋ. ४, १६, १) सुपसुञ्चनः (तै. ७, ५, २०, १) आदि ।

६. 'सु' उपपद होने पर कियन्त आदि शब्दों में भी उत्तरपद-प्रकृति-स्वर होता है । जैसे—सुञ्च'त् (ऋ. ३, ५४, १२), सुञ्च'गः (ऋ. १, ४१, ४), सुञ्च'वजम् (ऋ. ८, ६०, १६) ।

१. सुपमानात् कः (पा. ६, २, १४५) । २. गतिरन्तः (पा. ६, २, ४९) ।

३. ईपरदुःसुदु कृष्णकृष्णार्थे खल् (पा. ३, ३, १२६) । ४. इन्दसि गत्वर्थेभ्यः, अन्वेष्योऽपि हरन्ते (पा. ३, ३, १२१, १३०) ।

७. 'सु' के साथ बहुव्रीहि-समास में शब्द अन्तोदात्त होता है^१। जैसे—सुऽऋतिः (ऋ. १, ६०, ३), सुऽगुः (ऋ. १, १२५, २) आदि।

८. बहुव्रीहि-समास में 'सु' से पर में अप्-प्रत्ययान्त शब्द की राध्योदात्त की स्थिति होगी। क्योंकि 'अप्' प्रत्यय पितृ होने के कारण अनुदात्त है। जैसे—सुगर्वः (ऋ. १, ११६, १५) में सुगो+अप् इस स्थिति में 'अप्' प्रत्यय अनुदात्त है। इसलिए बहुव्रीहि-समास से सु-गो का अपना अन्तोदात्त-स्वर ही विद्यमान रहेगा।

९. बहुव्रीहि-समास में 'सु' के साथ 'ऋतु' आदि के समास में 'ऋतु' आद्युदात्त होगा^२। जैसे—सुऽऋतुः (ऋ. १, २५, १०)।

१०. बहुव्रीहि-समास में 'सु' से पर में मन्नन्त और असन्त शब्दों को आद्युदात्तत्व होगा, लोमन् और उपस् शब्दों को छोड़कर^३। जैसे—सुजग्मिन् (ऋ. ७, १००, ४) सुचक्षसः (ऋ. १०, ३७, ७) आदि (पृष्ठ १४४ भी देखें)।

११. जो शब्द द्वयच् (दो स्वर वर्णों वाला) है और आद्युदात्त है, वेद में 'सु' से पर में बहुव्रीहि-समास के उत्तर-पद में वह आद्युदात्त ही रहेगा^४। जैसे—सुऽग्यान् (ऋ. ८, ६८, १६)। 'सु' से भिन्न से पर में भी उत्तर-पद में आद्युदात्त मिलता है (पृष्ठ १४४ देखें)।

१२. बहुव्रीहि-समास में 'सु' से पर में 'धीर' और 'धीर्यं' शब्द आद्युदात्त होते हैं^५। जैसे—सुऽधीरं (ऋ. १०, १२२, ३) सुऽधीर्यं (ऋ. ३, १९, १)।

१३. पाणिनीय-सूत्र से 'सु' के साथ तत्पुरुष समास में निन्दा में ही अन्तोदात्तत्व विहित है^६। परन्तु वेद में प्रतीति अर्थ वाले 'सु' के साथ तत्पुरुष-समास में भी शब्द अन्तोदात्त उपलब्ध है। जैसे—सुऽसार्थिः (ऋ. ६, ७५, ६; मा. ३४, ६) शब्द अन्तोदात्त है, और शब्द का अर्थ 'उत्कृष्ट सार्थि' है।

१. मन्मृगाम् (पा. ६, २, १०२)। २. ऋषद्वयम् (पा. ६, २, ११७)।
३. सोमंयमी अशोमोयमी (पा. ६, २, ११८)। ४. अद्युदात्तं द्वयच् पश्यति (पा. ६, २, ११६)। ५. धीरधीर्यं च (पा. ६, २, १२०)। ६. तोरवरेपणे (पा. ६, २, १६५)।

१३. आद्यन्त-उदात्त-स्वर

१. तवै-प्रत्ययान्त शब्द के आदि और अन्त्य के दोनों वर्णों को साथ ही उदात्तत्व होता है* । जैसे—दातुवै (श्रु. ४,२१,६) । सतुवै (श्रु. १,५५,६) । पानुवै (श्रु. ३,४६,५) आदि ।

२. गति-समास में तवै-प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्तत्व और अनन्तर (व्यवधान-रहित) गति (उपसर्ग) को प्रकृति-स्वर दोनों साथ होते हैं* । जैसे—अन्वैतुवै (श्रु. १,२४,८) । उपगन्तुवै (श्रु. १०,१६०,५) । परिस्तरीतवै (मै. १,४,१०) आदि ।

३. 'वाव' आदि अव्ययों के दोनों अक्षर उदात्त होते हैं* । जैसे—वावु (शामा. १,६,३,१६) ।

१४. द्वि-उदात्त-स्वर

१. वनस्पति आदि शब्दों में पूर्व-पद और उत्तर-पद दोनों में प्रकृति-स्वर से उदात्तत्व होता है* । जैसे—वनस्पतिः (श्रु. १,६०,८) वृहस्पतिः (श्रु. १,६२,३) शचीपतिव (श्रु. १,१०६,६) गृहोत्तम (श्रु. १,१३,३) वनस्पति (श्रु. ३,२४,११) शुनःदोषः (श्रु. १,२४,१२) आदि ।

२. देवता-द्वन्द्व में पूर्व-पद और उत्तर-पद दोनों में प्रकृति-स्वर से उदात्तत्व रहता है* आमन्त्रित (संबोधन) को छोड़ कर । जैसे—इन्द्रावर्णौ (श्रु. ६,६८,१) । इन्द्राविल्यं (श्रु. ४,२,४) । मित्रावरणौ (श्रु. १,३५,१) आदि ।

१५. त्रि-उदात्त-स्वर

'वृहस्पति' शब्द द्वि-उदात्त ऊपर दिखाया गया है । जब 'इन्द्र' शब्द के साथ 'वृहस्पति' का देवता-द्वन्द्व होगा, तो तीन उदात्त-स्वर पाला शब्द होगा* । जैसे—इन्द्रावृहस्पति (श्रु. ४,६४,५) ।

१. अन्तर्य तवै युगपत् (पा. ६,१,१००) । २. तवै चन्तर्य युगपत् (पा. ६,२,१६५) । ३. पावर्णिगुमगुदाती (फिट्-मूत्र ४. १५) । ४. उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (पा. ६,२,१४०) । ५. देवताद्वन्द्वानि चाज्जामन्त्रितानि (शुभा. २,४८) । देवताद्वन्द्वे च (पा. ६,२,१४१) । ६. इन्द्रावृहस्पती इति त्रिविध (शुभा. २,४६) ।

नवम अध्याय

अनुदात्त-प्रकरण

[१. अनुदात्त-स्वर, २. अनुदात्त-स्वर के अपवाद, ३. सन्नतर व विशेषता]

१. अनुदात्त-स्वर

(१. सुप् (सु, औ, जस् आदि २१ विभक्तियां) और पित् (तिप्, सिप्, मिप्, शप्, अप्, डीप् आदि, जिनके 'प्' की इत्संज्ञा होती है) प्रत्ययों को अनुदात्तत्व होता है^१ ।

२. किसी भी पद में जहां एक अक्षर उदात्त या स्वरित हो रहा हो, उस अक्षर को छोड़कर शेष सब अक्षरों को अनुदात्तत्व होता है^२ । इसका व्याख्यान यथा-स्थान (पृष्ठ ८४-८७) किया जा चुका है ।

३. 'तासि' विकरण. अनुदात्तेत्, डित् और अदुपदेश धातुओं से पर में ल-सार्वधातुक प्रत्यय अनुदात्त होता है (पृष्ठ ६३ देखें) ।

इसका भाव यह है—

तासि (लुट् लकार का विकरण), अनुदात्तेत् धातु (धातु-पाठ में कुछ धातुएं अकारान्त पढ़ी गई हैं, और उनके अन्त्य अकार की इत्संज्ञा दिखाने के लिए उनमें अनुदात्त का संकेत किया जाता है, ऐसी धातुएं अनुदात्तेत् कहलाती हैं, उन से आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्यय होते हैं^३) डित् धातु (✓शीङ् 'स्वप्ने' इत्यादि अदादि-गण की धातुएं जिनमें 'ङ्' की इत्संज्ञा होती है। और उनसे भी आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्यय होते हैं^३) । यद्यपि 'डित्' धातुएं दूसरे गणों में भी उपलब्ध होती हैं, परन्तु इस सूत्र के नियम में योग्यता अदादि-गण की 'डित्' धातुओं की ही प्रतीत होती है, जो कि 'अद्विषो' इस पर्युदास-प्रतिषेध से सिद्ध है, जिसका अर्थ है कि इस सूत्र-नियम की प्रवृत्ति ✓दुङ् 'अपनयने' और ✓इङ् 'अप्यप्ने' धातुओं के ल-सार्वधातुक में नहीं होती, उक्त दोनों धातुएं अदादि-गण की ही हैं) और अदुपदेश धातुओं (भ्यादि-गण का

१. अनुदात्तो गुणिकी (पा. ३, १, ४) । २. अनुदात्त पदमेऽप्यसंज्ञ (पा. ६, १, १५८) । ३. अनुदात्तडित् आत्मनेपदम् (पा. १, ३, १२) ।

'शप्' विकरण तथा तुदादि-गण का 'श' विकरण अनुबन्ध-लोप करके 'श' शेष रहता है, और इन विकरणों से युक्त भ्वादि-गण की और तुदादि-गण की हलन्त धातुएं भी अट्टपदेश 'उपदेशायस्था में ही अवर्यान्त्व' कहलाती हैं) से पर में ल-सार्वधातुक (लट्, लोट्, लोड्, लङ्, विधि-लिङ् लकारों के स्थानों में सार्वधातुक-संज्ञा वाले 'तिङ्') प्रत्यय अनुदात्त होते हैं^१। ल-सार्वधातुक से 'तिङ्' प्रत्यय ही अभिप्रेत नहीं 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्यय भी ग्राह्य हैं, क्योंकि वह भी लादेश तथा सार्वधातुक-संज्ञक प्रत्यय हैं। लादेश चाहे तिङ् ('तट्' प्रत्ययों को छोड़कर) प्रत्यय हों चाहे 'शतृ' प्रत्यय हो, उनकी परस्मैपद-संज्ञा होती है^२। अर्थात् यह प्रत्यय परस्मैपदी धातुओं से होते हैं। तथा 'तट्' प्रत्ययों और 'शानच्' प्रत्यय की आत्मनेपद-संज्ञा होती है^३ और यह प्रत्यय आत्मनेपदी धातुओं से होते हैं। इस नियम को उदाहरण से स्पष्ट करें—

तासि—लुट् लकार के निर्विवाद 'तासि' विकरण के प्रयोग वेद के ब्राह्मण-भाग से प्रस्तुत किये जाते हैं, क्योंकि उस प्रकरण में 'श्वः' (आगामी दिन) का प्रयोग स्पष्ट लुट् लकार की क्रिया का संकेत करता है। जैसे—भवितु। (शभा. ४,३,१,११), दातारः (शभा. ११,५,१,१२), भवित्तास्मि (शभा. १,८,१,३), भवित्तास्मः (शभा. ११,८,३,०) यह सब प्रयोग लुट् लकार में तासि-विकरण के योग से निष्पन्न हुए हैं। तासि-विकरण के पर-वर्ती ल-सार्वधातुक को निर्दिष्ट नियम से अनुदात्तत्व हो जाने के कारण प्रत्यय-स्वर (भक्ति-शिष्टस्वर) से तासि-विकरण का उदात्त-स्वर स्वतः-सिद्ध है। शेष अक्षर 'मनुवात् पदमेकार्जवं' (पा. ६,१,१५८) के नियम से अनुदात्त है। स्मरण रहे कि शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न नीचे पढ़ी रेखा है, और अनुदात्त का चिह्न कुछ भी नहीं।

[अनुदात्तेत्—इह 'स्तुती' धातु अदादिगणी है। उपदेशायस्था में धातु अकारान्त है, अन्य अकार पर अनुदात्त या संकेत होने के कारण यह धातु अनुदात्तेत् है। इन धातु के निहन्त 'ईदं' (ऋ. १, १८०, २) 'ईदंते' (ऋ. १, १४, ५) आदि प्रयोग इसी वर्ग

१. ल-सार्वधातुके तिङ्पदेशे उपदेशायस्था में ल-सार्वधातुके तिङ्पदेशे। (पा. ६, १, १८१) ।

२. कः परस्मैपदस्य (पा. १, ४, ४१) । ३. तट् लकारमेकार्जस्य (पा. ६, १, १००) ।

मे परिगणित होंगे। अदादि-गण मे शप्-विकरण का लुक् हो जाने के कारण प्रकृति (धातु) और प्रत्यय के ही $\sqrt{\text{ईङ्}} + \text{ते}$ (प्रथम-पुरुष एकवचन) = $\sqrt{\text{ईङ्}} + \text{टे} = \text{ईटै}$ । $\sqrt{\text{ईङ्}} + \text{अते}$ (प्रथम-पुरुष बहुवचन) इस प्रकार दो अवयव श्रूयमाण होंगे। सर्वत्र अनुदात्तेत् $\sqrt{\text{ईङ्}}$ धातु से पर मे ल-सार्वधातुक प्रत्ययों को अनुदात्तत्व होने पर धातु-स्वर से $\sqrt{\text{ईङ्}}$ धातु का आद्युदात्तत्व स्वत-सिद्ध संपन्न हुआ है। ऐसे ही—आस्ते (ऋ. ७, ५५, ६), आस्ताम् (ऋ. ३, ४, ११) आदि इसी वर्ग मे समर्पें।

{ डित्—अदादि-गण की $\sqrt{\text{चत्तिङ्}}$ (वेद मे 'दर्शने' अर्थ है), $\sqrt{\text{शीङ्}}$ आदि धातुओं मे 'ङ्' की इत्संज्ञा होने के कारण डित्व है, पूर्ववत् यहा भी शप्-विकरण का लुक् होने के कारण प्रकृति तथा प्रत्यय के दो अंश ही विद्यमान हैं। जैसे—चष्टे (ऋ. ८, १६, १६)। शर्वे (ऋ. ३, ५५, ४), शर्वे (ऋ. ८, ६०, १५), शर्वे (मा. १३, ७), आदि प्रयोगों मे क्रम से चष्टे ($\sqrt{\text{चच्}} + \text{ते} = \text{चप्} + \text{टे}$)। शर्वे ($\sqrt{\text{शी}} > \text{शे} + \text{ए}$ [प्रथम-पुरुष के एकवचन मे 'ते' के 'त्' का लोप हो गया है^१])। शर्वे ($\sqrt{\text{शी}} > \text{शे} + \text{पे}$) शर्वे ($\sqrt{\text{शी}} > \text{शे} + \text{रुट्-आगम} + \text{अते}$)। इस प्रकार सर्वत्र डित् धातुओं से पर मे ल-सार्वधातुक प्रत्ययों को अनुदात्तत्व हो जाने से धातु-स्वर से धात्वंश का आद्युदात्त-स्वर स्वत-सिद्ध है।

यहा विशेष उल्लेखनीय यह है कि शानच्-प्रत्ययान्त शब्दों मे 'शानच्' प्रत्यय के चित्र के कारण 'चिनः' (ऋ. ६, १, १६३) सूत्र से अन्तोदात्तत्व प्राप्त है। परन्तु ल-सार्वधातुक को अनुदात्तत्व विशेष-विहित होने से उसका बाधक है। इसी लिए भ्वादि-गण के शानच्-अन्त प्रयोग 'पार्थमान' (श्री ६, ११८, ३) मे तथा अदादि-गण के ईर्षानाय (ऋ. २, ६ ६), आर्षान (ऋ. २, ४३ ३), चशाग (ऋ. १, १२८, ३), तर्षानम् (ऋ. १, ३२, ८) आदि शानच्-अन्त प्रयोगों मे धातु-स्वर से आद्युदात्तत्व है। तुदादि-गण के इष्टमानः (ऋ. १, १२६, १), पुष्टमान (ऋ. ७, १, २३) आदि मे विकरण-स्वर से मध्योदात्तत्व है।

क्योंकि अदादिगणी डित् $\sqrt{\text{हृङ्}}$ 'घपनने' तथा $\sqrt{\text{इङ्}}$ 'अप्ययो' धातुओं का सूत्र मे पूर्वुदात्त-प्रतिषेध किया गया है, इसलिए अप $\sqrt{\text{हृ}}$ धातु से निष्पन्न अडुष्टे (ऋ. १, १३८, ४) रूप में

यह सूत्र-नियम चरितार्थ न होगा। और सति-शिष्टस्वर के बलवान होने के कारण धातु-स्वर की अपेक्षा प्रत्यय-स्वर को प्रमुखता प्राप्त हुई है।

अनुपदेश—इस सम्बन्ध में उदाहरण देकर भ्वादि-गण तथा तुदादि-गण के ल-सार्वधातुक-स्वर में पहले पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है (प्रश्न ६६; १०४ देखें)।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि उक्त सूत्र-नियम में पर्युदात्त प्रतिषेध केवल √हृङ् 'अपत्यने' तथा √इङ् 'इष्यते' दो धातुओं का कहा गया है। महाभाष्य (६, १, १६१) के अनुसार √विद् 'विचारणे', √ग्निद् 'दैन्ये' तथा √विइन्धी 'दीप्तौ' इन तीन रुधादिगणी धातुओं में भी धार्तिककार के मत में उक्त प्रतिषेध मानना चाहिए। √विद् और √ग्निद् के वैदिक उदाहरण तो प्राप्त नहीं हैं। महर्षि पतञ्जलि ने 'विन्दते', 'खिन्दते' उदाहरण दिये हैं। जहां प्रथम-पुरुष के द्विवचन में ल-सार्वधातुक 'अते' को धार्तिक-नियम से अनुदात्तत्व का निषेध मानकर प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्तत्व माना गया है। विइन्धी 'दीप्तौ' का वैदिक उदाहरण 'इन्धे' (श्रु. ७, १, १६) प्राप्त है। √इन्ध् धातु आत्मनेपदी होने के कारण अनुदात्तेन् है। इस कारण 'तास्य-नुदात्तेन्' (पा. ६, १, १६) सूत्र से ल-सार्वधातुक 'ते' प्रत्यय अनुदात्त होकर धातु-स्वर से आद्युदात्तत्व होना चाहिए था, धार्तिक-नियम के प्रतिषेध से ल-सार्वधातुक को अनुदात्तत्व न होकर प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर) से अन्तोदात्तत्व हो गया है।

इन्धानः (श्रु. १, १४३, ७) शब्द आद्युदात्त है। यह शब्द शानच्-प्रत्ययान्त है। 'तास्यनुदात्तेन्' सूत्र के नियम से ल-सार्वधातुक प्रत्यय 'शानच्' को अनुदात्तत्व प्राप्त है। उक्त धार्तिक से निषेध हो जाता है। इस लिए चित्-स्वर से अन्तोदात्त शब्द प्राप्त है, परन्तु पाणिनीय सूत्र के विशेष नियम से विकल्प से आद्युदात्तत्व हो जाने के कारण शब्द आद्युदात्त सिद्ध होता है।

१. विन्दोन्विदित्दियो वेति अत्ययम् (पा. ६, १, १६१)। २. विन्धाः वेचिन्धानो. (पा. ६, १, २३५)।

काशिकाकार ने 'विन्दीन्धिखिदिभ्यः' इत्यादि वार्तिक का उल्लेख नहीं किया है। उनको अभीष्ट भी प्रतीत नहीं होता, इसी लिए 'इन्धान' शब्द के स्वर-विचार में उनके यह शब्द विचारणीय हैं। "इन्धान शब्द भी जब चानश्-प्रत्ययान्त है, तब चित् स्वर से अन्तोदात्त होगा। जब शानच्-प्रत्ययान्त है, तब ल-सार्वधातुक शानच्-प्रत्यय को अनुदात्तत्व करके उदात्त-निवृत्ति-स्वर से शब्द मध्योदात्त है"। इस प्रकार 'इन्धान' शब्द में सर्वथा अ-प्राप्त आद्युदात्तत्व की व्यवस्था विकल्प से की जाती है"।

उदात्त-निवृत्ति-स्वर की संगति वार्तिककार की दृष्टि में यों प्रतीत होती है—√इन्ध् धातु में 'श्नम्' विकरण से अनुबन्ध-लोप के पश्चात् 'इ' और 'न्ध्' के मध्य में 'न' का श्रवण होगा, और √इन्ध् ऐसा धातु का स्वरूप होगा। 'शान्नलोपः' (पा. ६,४,२३) सूत्र से 'श्नम्' के 'न' से परवर्ती धात्ववयव 'न्' का लोप होकर √इन्ध् ऐसा धातु का स्वरूप शेष रहेगा। फिर पर में ल-सार्वधातुक-निघात से 'शानच्' प्रत्यय अनुदात्त विद्यमान है। और 'शानच्' प्रत्यय अ-पित् (प् की इत्संज्ञा वाला नहीं) होने से डित् भी माना जाता है^१। अतः प्रत्यय को डित् सार्वधातुक मानकर 'श्नसोरलोपः' (पा. ६,४,१११) सूत्र से 'श्नम्' के 'श्' का लोप हो गया। सति-शिष्ट-स्वर के कारण 'श्नम्' विकरण उदात्त था। डित् सार्वधातुक 'शानच्' प्रत्यय को जो कि अनुदात्त भी है निमित्त मान कर √इन्ध् के मध्य में वर्तमान धात्ववयव 'श्नम्' के 'न' के उदात्त 'ः' का लोप हुआ है, इसलिए उदात्त-निवृत्ति-स्वर^२ से 'शानच्' के 'श्न' के आद्यक्षर 'श्' को उदात्तत्व होगा, (यद्यपि उदात्त-निवृत्ति-स्वर से अन्तोदात्तत्व संभावित है, तथापि उदात्त-निवृत्ति-स्वर अनुदात्त प्रत्यय के आद्यक्षर को या अन्त्य अंश को यह विचार महाभाष्य (६,१,१११) में आया है)। और शेष अक्षरों के स्वतः अनुदात्त हो जाने से 'इन्धान' शब्द मध्योदात्त होगा।

उक्त व्याख्यान से यह स्पष्ट है कि वार्तिककार √इन्ध् धातु से

१. इन्धानशब्दोऽपि यदा चानशक्तमन्दाऽन्तोदात्तः, यद्य शानन्तस्तदा सार्वधातुकाऽनुदात्तत्वे दृते उदात्तनिवृत्तिस्वरेण मध्योदात्तः। तदेवमिन्धाने सर्वथाऽ-प्राप्तमाऽनुदात्तत्वं षष्ठे विधीयते (काशिका ६,१,२१५)। २. सार्वधातुकमपित् (पा. १,२,४)। ३. अनुदात्तस्य च यथोदात्तश्रवणः (पा. ६,१,१११)।

पर में 'शानच्' प्रत्यय (ल-सार्वधातुक) को अनुदात्त स्वीकार करते हैं, और अनुदात्तत्व के प्रतिषेधक वार्तिक को नहीं मानते।

यथार्थ में काशिकाकार का मत ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि अनुदात्तेषु धातुओं से अदादिगणी ही कुछ परिगणित धातुएं ली जाती हैं। 'इन्धे' में अन्तोदात्तत्व प्रत्यय-स्वर से है। 'इन्धाते' में भी प्रत्यय-स्वर से 'आते' का 'धा' आद्युदात्त होने से मध्योदात्तत्व है।

४. किसी पद से पर में हो, और पाद के आदि में न हो ऐसा आभन्वित (संवोधन) सर्वानुदात्त होता है^१ (शृप्र ७० भी देखें)।

५. युष्मद्, अस्मद् शब्दों का सामान्य स्वर अन्तोदात्त होता है। ह्रस्व (पृष्ठी विभक्ति) और ङे (चतुर्थी विभक्ति) में आद्युदात्तत्व होता है^२ (शृप्र १२२ देखें)। परन्तु युष्मद् शब्द के आदेश—त्वा, ते, वाम्, वः और अस्मद् शब्द के आदेश—मा, मे, नौ, नः अनुदात्त होते हैं^३। जैसे—त्वा (श्र. २, ४२, १), ते (श्र. २, ४१, १८), वाम् (श्र. १, २, ४), वः (श्र. १, ७, १०)। मा (श्र. १, २३, २३), मे (श्र. १, १०, ६), नौ (श्र. ७, ८८, ५), नः (श्र. २, ४१, २०)।

६. द्विरुक्त शब्द का पर-रूप अनुदात्त होता है^४। द्विरुक्त के पर-रूप की आभेदित-संज्ञा है^५। आभेदित-संज्ञक शब्द अनुदात्त होता है। अर्चान् पूर्य-रूप में प्रकृति-स्वर से उदात्त-स्वर रहता है। जैसे—द्विवेदं वि (श्र. १, १, ३)। जन्मन्-जन्मन् (श्र. ३, १, २०)। यहाँ परत्वे रूप में अनुदात्तत्व है और पूर्य-रूप में अन्तोदात्त 'द्विरे' का तथा आद्युदात्त 'जन्मन्' का अपना उदात्त स्वर है।

७. अन्यादेश के विषय में 'इत्' शब्द को तृतीयादि विभक्तिर्वा पर में रहते 'एत्' आदेश होगा है, और यह अनुदात्त होता है^६। किसी कार्य को संपन्न करने के

१. आभन्वित्य च (पा. ८, १, १३)। २. युष्मदस्मदोर्त्वि (पा. ६, १, २११), एवि च (पा. ६, १, २१२)। ३. युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीया-
रूपयोर्नाशी (पा. ८, १, २०)। वदुवचनस्य षष्ठीषी (पा. ८, १, २१)।
तेमदारोहवचनस्य (पा. ८, १, २२)। तस्यो द्वितीयाया (पा. ८, १, २३)।
४. अनुदात्तं च (पा. ८, १, ३)। ५. तस्य परम षष्ठीहेतव्य (पा. ८, १, २)।
६. इत्सोऽङदेशोऽनुदात्तपूर्याकारौ (पा. २, ४, ३२)।

पश्चात् कार्यान्तर के लिए आदेश को अन्वादेश कहते हैं^१। जैसे—एषाम् (ऋ. १, २४, ७), अस्मै (ऋ. १, ३२, २), अस्य (ऋ. १, ६, १) सर्वत्र अन्वादेश के कारण ही इदम् शब्द को 'अश्' आदेश होने से 'अ' प्रकृति अनुदात्त है। 'अनुदात्तौ सुप्तिौ' (पा. ३, १, ४) सूत्र से विभक्ति अनुदात्त है। इस प्रकार सर्वानुदात्त शब्द हैं।

जहाँ अन्वादेश नहीं होता, वहाँ इदम् शब्द से पर में 'अस्' आदि विभक्तियों को 'ऊर्द्धिदंपदादि' (पा. ६, १, १०१) सूत्र से विभक्ति-स्वर होता है।

८. अन्वादेश के विषय में संपूर्ण द्वितीया विभक्ति, और 'ठ' (तृतीया विभक्ति का एकवचन) तथा 'ओस्' (पष्ठी विभक्ति का द्विवचन) पर में रहते 'इदम्' और 'एतद्' शब्दों को अनुदात्त 'एत्' आदेश होता है^२। जैसे—एनम् (ऋ. १, ६, २), एनोः (ऋ. १, १३६, १)।

९. चादि (च, वा, ह, घ, ईम्, इव, चित्, सीम्, स्म, स्वित्, उ, दुर, इद्) और त्वत्, त्व, सम, सिम अनुदात्त होते हैं^३। जैसे—च (ऋ. २, ४१, १९), वा (ऋ. १, ६, ६), ह (ऋ. १, २७, १२), घ (ऋ. १, ५, ३), ईम् (ऋ. १, ४, ७), चित् (ऋ. २, ४२, १), सीम् (ऋ. ३, १, ६), स्म (ऋ. १, १२, ५), स्वित् (ऋ. १, १५०, १), उ (ऋ. १, २४, ८), इत् (ऋ. २, ४१, ६)। त्वत् (ऋ. ७, १०१, ३), त्व (ऋ. १, १४७, २), समम् (ऋ. १, १७६, ४), समि (ऋ. ८, ३६, १)।

— 'सिम' शब्द का फिट्-सूत्र में अनुदात्तों में परिगणन है, परन्तु वेद में अन्तोदात्त शब्द भी मिलता है। इसलिए सूत्रान्तर से अन्तोदात्तत्व का भी विधान^४ है। जैसे—सिमरमि (ऋ. १, ११५, ४)।

१. किञ्चित् कार्यं विधातुमुपास्य कार्यान्तरं विधानं पुनरुपादानम् अन्वादेशः। २. द्वितीयाद्यौत्वेनः (पा. २, ४, ३४)। ३. चादयोऽनुदात्ताः (फिट्-सूत्र ४, १६)। त्वावतमसिमेष्वनुच्चानि (फिट्-सूत्र ४, १०)।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
सीमुदुःस्विष्मराहंवा द्वाद्दौते चिर्दाधिपैः।

अमी च सर्वानुदात्ता द्रष्टव्यारथ तथाऽपरे ॥ (देह्यभाष्यभूमिका ऋ. ३, ७, १)।

४. निमम्पाधर्षोऽन्त उदात्त (फिट्-सूत्र ४, ११) आधर्षेण इति प्राविदम्।

'तत्र द्रष्टव्य' इत्येवंपरं वा। तेन...श्रुग्देऽपि भवत्येव।

महाप यास्क ने कुछ निपातों को पाद-पूरणार्थक भी माना है, और आचार्य वेङ्कटमाधव ने उनका अचछा विरलेषण किया है^१।

१०. पाद के अन्त में 'यथा' शब्द भी सर्वानुदात्त होता है^२। जैसे—यथा (श्र. २, ४३, ३)। अन्यत्र आद्युदात्त 'यथा' शब्द ही रहेगा। जैसे—पादादि में—यथा (श्र. १, ३०, १२)। पाद-मध्य में—यथा (श्र. १, ६, ६) आदि।

११. अ-तिङन्त (सुवन्त, कृदन्त, निपात, उपसर्ग) शब्द से परवर्ती तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व होता है^३। जैसे—अग्निर्भस्ति (श्र. १, १, १) में 'अग्निम्' शब्द के पर में 'इत्ते' क्रिया सर्वानुदात्त है। ऐसे ही—'अर्ध्वचारिषम्' (श्र. १, २३, २३) में 'अचारिषम्' क्रिया 'अनु' उपसर्ग से पर में अनुदात्त है।

१२. गति (उपसर्ग) पर में रहते पूर्व गति (उपसर्ग) को अनुदात्तत्व होता है^४। जहाँ क्रिया के पूर्व दो उपसर्ग होंगे, और तिङन्त क्रिया को 'तिङ्तिङ्' सूत्र के नियम से अनुदात्तत्व हो रहा होगा, वहाँ इस नियम से पहले उपसर्ग को अनुदात्तत्व होगा और तिङन्त अनुदात्त क्रिया के पूर्ववर्ती उपसर्ग में उदात्तत्व होगा। जैसे—अभ्यारोहति (श्र. २, ५, ५, ५)। इस क्रिया में अभि+आ+रोहति यह तीन अङ्ग हैं। 'रोहति' क्रिया सर्वानुदात्त है। शेष दो गतियों (उपसर्गों) अभि+आ

१. अथ ये प्रवृत्तेर्भेदनिपातरेषु मध्ये वाक्पूरणा द्वागप्यन्ति पदपूरणास्ते मितारेष्वन्यथाः 'कम् इम् इद् इ' इति (नितक १, ६)। अत्र दुर्गाचार्यः—
मितारेषु गद्यमन्येषु। मितारेषु पादवृत्तेषु।

वाक्पूरणैश्च प्रवृत्तेषु निपातारवेदनन्विताः।

शुक्लपादपूरणास्ते स्फुरिति वाक्पूरणस्य दर्शनम् ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १०० १०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १०००

वत नूनमिरेद स्म चिद् यथाः स्फुरार्थकः ॥

अन्वेषो ऽ निपातानां पूरण्यं न दरपणे ।

भाद्रपः पूरण्यं स्फुरार्थं पारमेत्यन्वितः ॥ (वेङ्कटमाधवभूमिका श्र. ३, ७, १)

१. स्पेति पादास्ते (किट् सूत्र ४, १०) । १. तिङ्तिङः (पर ८,

११) । १. तिङ्तिङः (पर ८, १, १०) ।

में से पूर्व-गति 'अभि' को इस नियम से अनुदात्तत्व हो गया, शेष 'आ' गति उदात्त है। विशेष विवेचन 'पद-पाठ में गति-निर्देश' इस शीर्षक के नीचे (पृष्ठ ६२) देखें।

(१३. यदि तिङन्त क्रिया उदात्त-स्वर से युक्त पर में हो तो पूर्ववर्ती 'उपसर्ग' को अनुदात्तत्व होगा। इसका पूरा विवरण 'पद-पाठ में गति-निर्देश' शीर्षक के नीचे (पृष्ठ ६३-६४) देखें। यह स्मरण रहे कि यदि किसी उदात्त-स्वर वाली क्रिया के पूर्व दो गति अनुदात्त होंगे। तो क्रिया के अनन्तर-पूर्ववर्ती उपसर्ग को तो इसी नियम से अनुदात्त होगा, और पहले गति (उपसर्ग) को अनुदात्तत्व 'गतिर्गौ' (पा. ८, १, ७०) सूत्र के नियम से होगा।)

२. अनुदात्त-स्वर के अपवाद

१. लुट् लकार की क्रिया को अ-तिङन्त से पर में अनुदात्तत्व नहीं होता^१। अर्थात् योग्यता के अनुसार क्रिया का स्वर स्थिर रहता है। जैसे—अथ श्रोत्रोद्भवविता (शभा. ४, ३, १, ११)। शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न नीचे पड़ी रेखा है। यहाँ लुट् की क्रिया 'भविता' को अ-तिङन्त 'अहः' से पर में अनुदात्तत्व न होकर 'तसि' का अपना स्वर विद्यमान है।

२. यद्, यदि, हन्त, कुविद्, नेद्, चेद्, चण्, कच्चिद्, यत्र इन निपातों के योग में भी तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता^२। जैसे—यद्—यदग्ने स्वामहं त्वम् (श्रु. ८, ४४, २३) में 'यत्' के योग में 'स्वाम' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं है। यद्भूतं वदति (शभा. १, १, १, १) में 'यत्' के योग में 'वदति' को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। यदि—यजाम द्वेषान् यदि शुक्नयाम (श्रु. १, २०, १३)। 'यदि' के योग के कारण 'शुक्नयाम' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। ऐसे ही यदि नाइति विद्देवत्वो भवति (शभा. १, १, १, ६) में 'भइति' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। हन्त—हन्तेषां वृथिषां विभ्रजामहे (शभा. १, २, ५, १) में 'हन्त' के योग में 'विभ्रजामहे' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं है। यत्कि 'भ्रजामहे' यह उदात्तयान् क्रिया-शब्द पर में रहते अनन्तर-पूर्ववर्ती 'वि' गति

१. तिङ् चोदात्तगति (पा. ८, १, ७१)। २. न लुट् (पा. ८, १, २६)।

३. निरुत्तरेषु पदेषु तिङन्तस्योदात्तत्वम् (पा. ८, १, २०)।

(वपसर्ग) अनुदात्त हो गया है^१। कुविद्— कुविन्ने इवमवर्षात् (शमा. १,६,३,६) यहां 'कुविद्' के योग में 'वर्षात्' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। ऐसे ही 'कुविन्मा गोपां करसे जवस्य' (श्र. ३,५३,५) में 'करसे' क्रिया में 'कुविद्' के कारण ही अनुदात्तत्व नहीं। नेद्—'नेद् ऋतुन् अपवृणजे' (शमा. ४,३,१,८) यहां 'नेद्' के योग में 'अपवृणजे' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। चेद्—'हृत्सु वेदमान् पजे युङ्क्थाः' (शमा. १,३,३,१५) में 'युङ्क्थाः' क्रिया में 'वेद्' के योग के कारण अनुदात्तत्व नहीं हुआ। कच्चिद्—'अर्चित्तिमिश्चक्रुमा कच्चिदागः' (श्र. ४,१२,४) में 'कच्चिद्' के योग में 'चक्रुमा' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। यत्र—'पुत्रास्तो यत्र पितरो भवन्ति' (श्र. १,८६,६) में 'यत्र' शब्द के योग में 'भवन्ति' क्रिया में अनुदात्तत्व नहीं।

३. अ-प्रातिलोम्य अर्थ में 'अह्' शब्द के योग में क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता^२। जैसे—'यद्गु दाशपे स्वमग्रे भदे कर्त्विष्यमि' (श्र. १, १,१) यहां 'अह्' के योग के कारण 'कर्त्विष्यमि' क्रिया में अनुदात्तत्व नहीं है।

४. 'हि' के योग में तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता^३। जैसे—'आ हि प्मा यत्ति नर्थः' (श्र. ४,२६,२)। 'आ हि श्रुतमश्विना' (श्र. ८,२२,६) में 'यत्ति' और 'श्रुतम्' दोनों क्रियाओं में 'हि' के योग के कारण अनुदात्तत्व नहीं हुआ। ऐसे ही 'त्वं शर्मि' (श्र. २,६,४) है।

५. 'षावत्' और 'ष्या' शब्द के योग में तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता^४। जैसे—'षावद्विं भुनं पिश्रमन्ति' (श्र. १, १०८,२), 'षापुत्रीने मर्दंगु वन्दमानः' (श्र. ३,१८,३) दोनों स्थलों में 'षावत्' के योग के कारण 'भक्ति' और 'इंके' क्रियाओं को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। ऐसे ही 'ष्या चिक्कणुगर्गत्तम' (श्र. ८,५,२५) में 'भार्षत्म्' क्रिया में 'ष्या' के योग के कारण ही अनुदात्तत्व नहीं हुआ।

६. त, पय, परयत, अह इनके योग में तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता, पूजा अर्थ गम्यमान हो तो^५। जैसे—'पय—

१. तिङि चंद्रात्तत्ति (पा. ८,१,७१)। २. अहप्रातिलोम्ये (पा. ८, १,३३)। ३. हि च (पा. ८,१,३४)। ४. षावत्पयत्तम् (पा. ८,१,३६)। ५. क्षुरपपरपनादेः पूजापम (पा. ८,१,३६)।

देवस्य पश्य कार्थ्यं महित्वाद्या ममारु स ह्यः समान (ऋ. १०, ५५, ५) । यहाँ 'पश्य' के योग में 'ममारु' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ । पश्यत—इमां सुमेत पश्यत (ऋ. १०, ८५, ३३) । यहाँ 'पश्यत' के योग में 'सुमेत' (<सम्-धा √इ) क्रिया में अनुदात्तत्व का निषेध है । अह—अवसभा अह वेवानां पुनीः करोति (शवा. १, ३, १, २१) में 'अह' के योग में 'करोति' क्रिया में अनुदात्तत्व का निषेध है । ऐसे ही 'आदहै स्वधामनु पुनर्गर्भस्वमेरिरे' (ऋ. १, ६, ४) भी है ।

७. अविद्यमान-पूर्व (जिसके पूर्व में कोई शब्द विद्यमान न हो अर्थात् आदि में स्थित) 'जातु' शब्द के योग में तिङन्त क्रिया अनुदात्त नहीं होती^१ । वैदिक उदाहरण तो अनुसंधेय है । परन्तु वेद में विद्यमान-पूर्व (जहाँ पूर्व में कोई शब्द विद्यमान है) 'जातु' शब्द के योग में भी तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता, ऐसा वैदिक उदाहरण मिलता है । जैसे—न स जातु जनः धृदुध्यात् (तैशा. १, ११, ५) यहाँ 'जातु' शब्द मध्य में स्थित है, तो भी उसके योग में 'धृदुध्यात्' क्रिया में अनुदात्तत्व नहीं हुआ ।

८. यद्, हि, तु पर में होने पर तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता^२ । जैसे—उदसृजो उदंक्रिः (ऋ. २, २३, १८), उचान्ति हि (ऋ. १, २, ४) । यद्यपि यद्-वृत्त के कारण 'यद्' के योग में, और 'हि' के योग में तिङन्त क्रिया का अनुदात्तत्व सिद्ध है । किन्तु यहाँ योगमात्र अभीष्ट नहीं, परवर्ती होना इष्ट है ।

९. यद्-वृत्त ('यद्' शब्द के रूप)से पर में तिङन्त क्रिया को सर्वथा अनुदात्तत्व नहीं होता^३ । जैसे—यस्मिन्नाधिं संदधुः (ऋ. ३, ३, ३) आदि ।

१०. समानार्थक 'एकं' और 'अन्य' शब्द के योग में तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता^४ । जैसे—जानमेरां जिन्वति (मै. २, १३, १०), तपोत्थ्यः विष्णं स्थादति (ऋ. १, १६४, २०), समुन्या यन्सुपं यन्सुन्याः (ऋ. २, ३५, ३) आदि ।

३. सन्नतर (अनुदात्तर) की विशेषता

(पहले फट आये हैं कि अनुदात्त-स्वर की पहचान सामान्य-रूप में

१. जागृद्वर्म (पा. ८, १, ४७) । २. यस्मिन्परं द्दन्मि (पा. ८, १, ५६) ।
३. परसृष्टाक्रियम् (पा. ८, १, ६६) । ४. एदान्याम्पां तमपांभ्याम् (पा. ८, १, ६८) ।

अक्षर के नीचे पड़ी (-) रेखा से होती है। जिसका यथार्थ ज्ञान सर्वानुदात्त तिङन्त क्रियाओं विन्दन्ति (श्र. १, १००, १), विष्णुते (श्र. १०, १४, २) आदि में, वा सर्वानुदात्त आमन्त्रित (संबोधन) शब्दों ज्ञातव्या (श्र. १, ३४, ०), कुञ्जिकाः (श्र. ३, ५३, १०) आदि में हो सकता है। परन्तु सन्नतर का ज्ञान संहिता-पाठ में मन्त्र के आरम्भ में तीन वा चार पांच अक्षरों वाले अन्तोदात्त शब्द में ठीक-ठीक हो सकता है। जैसे—अनुकामम् (श्र. १, १७, ३) शब्द अन्तोदात्त है। शेष तीन अक्षर 'अनुक' अनुदात्त हैं, और उनके नीचे अनुदात्त का चिह्न (-) नीचे पड़ी रेखा भी लगी हुई है। परन्तु हमें यहां अनुदात्त और सन्नतर में विवेक करना होगा। जो अन्त्य 'म्' इस शब्दात्त का पूर्ववर्ती अनुदात्त अक्षर 'क' है, वह सन्नतर कहलायेगा, शेष दो 'अनु' अनुदात्त ही कहलायेंगे, सन्नतर नहीं। क्योंकि उदात्त या स्वरित से अव्यवहित-पूर्ववर्ती अनुदात्त की ही सन्नतर (अनुदात्ततर) संज्ञा है^१। ऐसे ही अरातीयुतः (श्र. १, ३६, १) आद्रोद्गमम् (श्र. १०, ११४, ६) आदि अन्तोदात्त शब्दों में उपान्त्य (अन्त्य वर्ण से अव्यवधान-पूर्व में स्थित) अक्षर 'य' और 'इ' सन्नतर हैं, शेष अक्षर अनुदात्त हैं। संहिता-पाठ के मध्यवर्ती ऐसे शब्दों में अनुदात्त और सन्नतर का भेद कठिन है। क्योंकि प्रायः संहिता-पाठ में सन्नतर से पूर्व एकश्रुति का अवकाश रहता है। इसलिए अनुदात्त और सन्नतर का विवेक पद-पाठ में सरलता से होता है।

सामान्य अनुदात्त से सन्नतर को विशेषण इसी लिए दी गई है कि यह उदात्त या स्वरित अक्षरों के स्पष्ट उच्चारण में विशेष सहायक है। जैसे ऊँचे उठने के लिए असाधारण तौर पर निचले अङ्ग पर विशेष बल देना पड़ता है, ऐसे ही उदात्त या स्वरित अक्षर के स्पष्ट उच्चारण के लिए पूर्ववर्ती अनुदात्त पर विशेष बल पड़ता है। इससे यह अनुदात्त न होकर अनुदात्ततर हो जाता है। यही को सन्नतर कहा जाता है।

१. इत्युक्तसंहिताराष्ट्रप सम्बन्धः (श. १, ३, ४०) ।

दशम अध्याय

स्वरित-प्रकरण

[१. स्वरित-स्वर, २. नित्य-स्वरित, ३. ङंधि-स्वरित, ४. संहिता-स्वरित, ५. पदपाठीय-स्वरित, ६. विभिन्नशापीय-स्वरितचिह्न ।]

१. स्वरित-स्वर

(स्वरित अक्षर में उदात्त और अनुदात्त का समाहार होता है^१। पूर्व उदात्त अक्षर के साथ उत्तरवर्ती अनुदात्त की संश्लिष्ट ध्वनि ही स्वरित-स्वर की प्रवृत्ति में हेतु है। इस संश्लेष का विवेक संहिता-स्वरित और सन्धि-स्वरित में तो स्पष्ट ज्ञात होता है। किन्तु जात्य-स्वरित में वोर्यम् (ऋ. २, १३, ११) आदि में यह संश्लिष्ट स्थिति तिरोहित है। पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् जात्य-स्वरित को पृथक् स्वरित-स्वर नहीं मानते। यह 'वोर्यम्' शब्द में भी 'वोरि + अम्' इन दो शब्दों का संश्लिष्ट सन्धि-स्वरित ही मानते हैं।

प्राचीन आचार्यों ने प्रातिशाख्यों में स्वरित के सात भेद माने हैं। १. जात्य (नित्य-स्वरित), २. क्षेप्र, ३. प्रातिहत, ४. अभिनिहंत, ५. प्रश्लिष्ट, ६. पाठ-वृत्त, ७. तैरोव्यञ्जन। यह सातों स्वरित संहिता-पाठ से सम्वन्ध रखते हैं।

शुक्ल-यजुर्वेद प्रातिशाख्य में तैरोविराम तथा ताथाभाव्य इन दो स्वरितों का उल्लेख अधिक है। यह दोनों स्वरित पद-पाठ से सम्वन्ध रखते हैं।

विषय के स्पष्टीकरण की दृष्टि से हम इन ६ स्वरितों को चार विभिन्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। १. नित्य-स्वरित, २. सन्धि-स्वरित, ३. संहिता-स्वरित, ४. पदपाठीय-स्वरित।

२. नित्य-स्वरित

उदात्त और अनुदात्त के संश्लेष की स्पष्ट अभिव्यक्ति के बिना ही 'व' और 'व्' के योग से नित्य-स्वरित की प्रतीति होती है। इसी को

१. समाहारः स्वरितः (पा. १, १, ३१)।

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में जात्य (=जन्म-सिद्ध) स्वरित कहा है^१ । तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य में इस को यों समझाया गया है—

“या तो कोई अक्षर पूर्व में न हो, या पूरे में हो तो अनुदात्त अक्षर हो ऐसे ‘य्’ या ‘व्’ से संयुक्त अक्षर एक पद में नित्य-स्वरित होता है”^२ । जैसे—कृवोऽथाः (ऋ. ५, ६१, २) और स्वर्ण (ऋ. ७, ३४, १६) दोनों स्थलों में ‘कृ’ और ‘स्वर्’ से पूरे कोई अक्षर नहीं है, और अक्षर में स्पष्ट ‘व्’ का योग भी है। यह नित्य-स्वरित है। इसी प्रकार वीर्यं तत् (ऋ. ३, ३३, ७) में ‘यं’ इस अक्षर में ‘य्’ की श्रुति है। और इसके पूर्व अनुदात्त अक्षर ‘वी’ विद्यमान है। पाणिनीय व्याकरण में ‘वीर्यम्’ शब्द में स्वरितत्व की सिद्धि के लिए ‘तिस्वरितम्’ (पा. ६, १, १०५) सूत्र है। जिसका अर्थ है—जो अक्षर तित् (त् की इत्संज्ञा वाले) से बना हो, वह स्वरित होता है। ‘कृ’ शब्द में तित् है। ‘कस्मिन्’ इस सप्तम्यन्त से ‘त्रल्’ प्रत्यय होगा तो ‘कुत्र’ और ‘क्व’ (तित्) प्रत्यय^३ होगा तो ‘किम्’ के स्थान में ‘कृ’ आदेश होकर शब्द बना है। ‘स्वर्’ शब्द यद्यपि अव्यय है, तथापि तैत्तिरीय-संप्रदाय में ‘स्वर्’ के स्थान में ‘सुवर्’ पाठ-भेद से^४ (जहां ‘क्व’ आदेश से शब्द में परिवर्तन आया है) यह प्रतीत होता है कि ‘सुवर्’ से ही ‘स्वर्’ यह ‘व्’ के योग से युक्त शब्द निष्पन्न है। ‘वीर्यम्’ शब्द ‘वीर्य कर्म’ इस अर्थ में ‘वीर’ शब्द से वत्-प्रत्यय करके बना है। [यत् प्रत्यय तित् है। कित्-सूत्रों में न्यङ्, स्वर, दोनों शब्दों को तथा तिल्य, शिक्य, कार्मर्य, धान्य, कन्या, राजन्य और मनुष्य शब्दों के अन्त में, एवम् विल्य, भक्ष्य, वीर्य^५ इन तीनों के अन्त में स्वरित माना गया है। यह पाणिनीय-प्रक्रिया का ही प्रपञ्च है। ऋग्वेद के महान् भाष्यकार आपार्य वेङ्कटमाधय ने भी अपनी भूमिका में (ऋ. ३, ७, १) ‘स्व.क्री तु स्वरितौ विद्याद् वृष्टपाथ तथाऽपर’

१. वृष्टमापथम्—स्वरूपैर्वेदेषानुदात्तसंगतिं विना ज्ञातो जात्यः (ऋ. ३, ८) । २. सप्तमापकारं एपरं यत्र स्वयंते स्थिते परेऽनुदात्तपूर्वेऽप्यर्थे वा नित्य इत्येव ज्ञानीपाठ (तै. २, २, १०५) । ३. किमंशु (पा. ५, ३, १६) । ४. वाति (पा. ७, २, १०५) । ५. सुवर् (तै. २, २, १२, ९) का पाठभेद स्वर् (ऋ. २, १, ७) है । ६. न्यङ् इत्येते स्वरितौ (कित् सूत्र ४, ६) । ७. तिल्यशिक्यकार्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्यपामन्यः (कित् सूत्र ४, ८) । ८. विल्यभक्ष्यवीर्यं च स्वरितं (ऋ. ५, ३) ।

को स्वरितत्व विकल्प से होता है^१ इस पाणिनीय-सिद्धान्त के अनुसार दोनों निर्दिष्ट स्थलों में परवर्ती 'अग्नि' शब्द अन्तोदात्त है और 'अहं' शब्द स्वरितान्त है। 'अनुदात्त पदमेकत्रयम्' (पा. ६, १, १५८) सूत्र के अनुसार शेष पहले दोनों 'अ' अनुदात्त है। अनुदात्त 'अ' के साथ पूर्ववर्ती 'अधुरे' के 'रे' तथा 'यद्' शब्द के 'यो' दोनों उदात्तों का एकादेश स्वरित है। जिसकी प्रतिपत्ति कम्प स्वर के चिह्न से स्पष्ट है। ऐसे ही रायोऽवनि (ऋ १, ४, १० पपा राय । अवनि) में भी समझें।

४. सहिता-स्वरित

इस स्वरित को प्रातिशाख्यों में प्रातिहत स्वरित कहा गया है^२। उदात्त अक्षर से पर में अनुदात्त को सहिता में स्वरित होता है^३। अग्निम् । ईळे । यह दो भिन्न पद हैं। सहिता-पाठ में 'ग्निम्' इस उदात्त से परवर्ती 'ई' अनुदात्त को स्वरितत्व होकर सहिता-पाठ में अग्निमीळे (ऋ १, १, १) यह स्वरित-विशिष्ट पाठ बन गया है (देखें पृष्ठ ११-१२ तथा ७६-८०)। यह नित्य-स्वरित तथा सन्धि-स्वरित दोनों से विलक्षण निर्विकार स्वरित है।

यदि अव्यवहित पर में उदात्त या स्वरित अक्षर विद्यमान हो तो पूर्ववर्ती अनुदात्त को स्वरितत्व नहीं होता^४। जैसे—प्र य आरु (ऋ ३, ७, १) इस स्थल में लिट् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'आरु' अन्तोदात्त है, और उसका पूर्ववर्ती 'आ' अनुदात्त 'य' उदात्त से पर में होकर भी स्वरित नहीं है। क२ गोऽशुष्वा ह्राऽभीशंव (ऋ. ५, ६१, २) में 'व' स्वरित पर में रहते पूर्व अनुदात्त 'आ' को स्वरितत्व नहीं है। बल्कि दोनों स्थलों में सन्नतर है।

(इसी सहिता-स्वरित के दो भेद हैं—१. पाद-वृत्त^५, २. तैरो-व्यञ्जन^६।)

१. स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादी (पा ८, २, ६) २. अपि चेत्रानापदस्थमुदात्तम् अथ चत् साहिनेन त्रिधिना स्वयंते स प्रातिहतः (तैमा. २०, ३)। ३. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (पा. ८, ४, ६६)। ४. नोदात्तस्वरितादयमगार्यकारयप-गात्त्वानाम् (पा. ८, ४, ६७)। ५. पदविधुरया पादवृत्त (तैमा २०, ६) स्वरयोरसन्धिर्निवृत्तिः। ६. उदात्तपूर्वस्तरव्यञ्जन (तैमा. २०, ७)। एकपदस्थो-दात्तपूर्व व्यञ्जनव्यवहित स्वरित इत्यर्थः। उदात्तपूर्वनियतं विधुरया व्यञ्जनेन वा स्वयंतेऽन्तहितम् (ऋमा. ३, १७)।

१. पादवृत्त-स्वरित—दो पदों की विष्टिति (अ-सन्धि) में यह स्वरित होता है। जैसे—स ईधान. (श्रु. १, ७१, ५)। यहाँ परवर्ती 'ई' के कारण 'स' शब्द के 'सु' का लोप है। इस लिये गुण-संधि होगी नहीं। परवर्ती 'ईधान' शब्द √ बिइन्धी 'दीप्तौ' से 'धानश्' प्रत्यय या 'धान्व्' प्रत्यय करके चित्-स्वर से अन्तोदात्त शब्द है। शेष अक्षर अनुदात्त होने से संहिता-पाठ में उदात्त 'स.' से परवर्ती 'ई' को यद् स्वरित हुआ है। ता अंत्य सू' दोहस (श्रु. ८, ६६, ३) और ता अंगमार मृग (तै २, १, २, १) इन दोनों स्थलों में भी दीर्घ-सन्धि न होकर पादवृत्त-स्वरित हो रहा है। दो स्वरो की अ-सन्धि में स्वरित होना ही पादवृत्त-स्वरित है। प्रउंगम् (श्रु १०, १३०, ३)। यहाँ एक ही पद में 'प्र' और 'उ' की अ-सन्धि में पाद-वृत्त-स्वरित है।

२. तैरोव्यञ्जन-स्वरित—जहाँ पूर्ववर्ती उदात्त और परवर्ती अनुदात्त के मध्य में किसी व्यञ्जन वर्ण का व्यवधान हो, उस स्थिति में निष्पन्न स्वरित को तैरोव्यञ्जन कहेंगे। तैरोव्यञ्जन यह तद्धित शब्द है, जो कि विरो-व्यञ्जन (व्यञ्जन से व्यवहित) शब्द से निष्पन्न है। यह स्वरित दो भिन्न पदों में भी और एक पद के मध्य में भी होता है। दो पदों का उदाहरण—अग्निमीळ (श्रु. १, १, १) है। यहाँ 'मि' उदात्त और 'ई' अनुदात्त के मध्य में एक व्यञ्जन वर्ण 'म' वर्तमान है। एक पद का उदाहरण—विश्वे देशस (श्रु १, ३, ७) है। यहाँ एक ही 'विश्वं' शब्द में 'वि' उदात्त और 'व' अनुदात्त के मध्य में 'म' और 'व' दो व्यञ्जन हैं।

५. पदपाठीय-स्वरित

शुक्ल-यजुर्वेद में दो अन्य स्वरितों का भी निरूपण है। जिनका मन्दन्ध पदपाठ से है। [१. तैरोविरोम-स्वरित २. तथाभाव्य-स्वरित।]

[१. तैरोविराम-स्वरित—समस्त-पद के पद-पाठ में जहाँ अवमह से पूर्ववर्ती अक्षर उदात्त है, और अवमह से उत्तरवर्ती अनुदात्त अक्षर स्वरित हुआ विशमान है, तो ऐसे अवमह के व्यवधान से मुच स्वरित

इन शब्दों में 'स्वः' और 'कं' का ऋग्वेद में विशेष उल्लेख किया है। तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य के अनुसार इस स्वरित के साथ अनुदात्त की संधि में भी स्वरित हो रहेगा^१। जैसे—कन्धैव (ऋ. १, १२३, १० पं. कुन्धा । इव)।

३. सन्धि-स्वरित

यद्यपि संधि-स्वरित का प्रतिपादन विस्तार से अन्य प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में भी उपलब्ध है, तथापि सौकर्य और सरल प्रतिपादन-शैली के विचार से तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य के प्राप्त ल स्वरित-लक्षणों का ही यहां निर्देश किया जायेगा।

तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य में प्रतिपादित १. चैप्र, २. प्रश्लिष्ट, ३. अभिनिहत यह तीन स्वरित केवल सन्धि की विलक्षणता से पृथक्-पृथक् हैं। हम ने तीनों को सन्धि-स्वरित के एक ही सूत्र में पिरो दिया है।

१. चैप्र—यण-सन्धि से निष्पन्न स्वरित को चैप्र-स्वरित माना गया है^२। इसमें पूर्व अक्षर 'इ' या 'उ' उदात्त या स्वरित होना चाहिए और परवर्ती अक्षर अनुदात्त, दोनों में यण-सन्धि से स्वरित-स्वर निष्पन्न होगा^३। जैसे—अभ्यु^३प्रम् (ऋ. ३, ४६, ४) का पद-पाठ अभि । उग्रम् है। परवर्ती अनुदात्त 'उ' अक्षर के साथ 'भि' उदात्त की यण-सन्धि से 'भ्यु' यह चैप्र-स्वरित होगा। ऐसे ही—अप्स्व^३न्तः (ऋ. २, ३५, ७) का पद-पाठ अप्स्वु । अन्तः है। यहां भी 'सु' उदात्त की यण-सन्धि से 'स्वै' यह चैप्र-स्वरित बनेगा। दोनों स्वरितों में अनुदात्त से परवर्ती उदात्त अक्षर होने के कारण संहिता-पाठ में कम्प के साथ स्वरित का निर्देश है (देखें पृ. २२-२३)। जहां सर्वानुदात्त पद के आद्यवयव के साथ पूर्व उदात्त की चैप्र-संधि है, वहां स्वरित का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा होगा, कम्प-स्वर नहीं। जैसे—भ्यु^३न्धा (ऋ. ५, ७३, ३ पं. वि । उच्छु)। यद्यपि स्वरित अक्षर के यण-संधि का उदाहरण काशिका और सिद्धान्त-कौमुदी में 'खल्वाशा' प्रस्तुत किया गया है, परन्तु यह वैदिक-साहित्य में अनुपलब्ध है।

१. स्वहितानुदात्तसंनिपाते ह्वरितम् (सैप्र. १०, १२) । २. ह्वयो-कारयोर्पयकारभावे चैप्र उदात्तयोः (सैप्र. २०, १) । ३. उदात्तस्वरितयोर्पयः स्वरितोऽनुदात्तस्य (पा. ८, २, ४) ।

२. प्रशिष्ट—इ+इ और उ+उ ने दीर्घ-सन्धि से पूर्ववर्ती उदात्त और परवर्ती अनुदात्त अक्षरों के एकादेश को प्रदिलिप्त-स्वरित कहा गया है। जैसे—अभीर्इमम् (ऋ. ३, ४, ५) का पद-पाठ अभि। इमम् है। 'भि' उपसर्ग अन्तोदात्त है। 'इमम्' शब्द भी अन्तोदात्त है, और 'अनुदात्त पन्मेऽर्चम' (पा. ६, १, १५२) के नियम से 'इ' अनुदात्त है। अभि+इमम् इस स्थिति में पूरे उदात्त 'भि' के साथ परले अनुदात्त 'इ' का दीर्घ एकादेश 'भी' स्वरित है। और परवर्ती उदात्त अक्षर 'मम्' के कारण सहिता-पाठ में दीर्घ कम्प इ का चिह्न लगा है। १] मधुर्इकम् (ऋ. ६, १७, ३२) में मधु+इकम् इस स्थिति में 'धु' उदात्त के साथ अनुदात्त 'उ' का दीर्घ एकादेश 'धू' अक्षर स्वरित है। यहाँ स्वरित का परवर्ती 'इ' अक्षर अनुदात्त ही उदात्त नहीं, इससे कम्प-स्वर की प्रवृत्ति नहीं हुई। ऐसे ही मधुर्इच्छम् (तै. ७, ५, २, २) में पूर्व-पद 'मधु' शब्द 'मधु' शब्द के सप्तमी-बहुवचन में विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्त है। 'इच्छिच्छम्' शब्द 'इ' उपसर्ग के योग से √स्था धातु का शतृ-प्रत्ययान्त रूप है। जो कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर से मध्योदात्त है। 'सु+उ' के दीर्घ-एकादेश से 'सू' स्वरित बना है। तैत्तिरीय-सहिता में कम्प स्वर के चिह्न लगाने की रीति नहीं है इसलिए उदात्त पर में होने पर भी कम्प-स्वर का निर्देश नहीं।

३ अभिनिहित—उदात्त 'इ' या 'ओ' के साथ परवर्ती अनुदात्त अक्षरों का पूर्वरूप-सन्धि से निष्पन्न स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहा गया है। श्रग्नेद-प्रतिशतय आदि में इसे अभिनिहित कहा है। जैसे—अध्वरेर्इंसि (ऋ. ३, २०, ४) में 'इ' के उदात्त 'इ' के साथ अनुदात्त 'भ' की पूर्वरूप-सन्धि है। योर्इंसि (ऋ. १०, १४४, ४) में 'ओ' के साथ 'अ' की पूर्वरूप-सन्धि है। 'यो' पदों (शब्दों) में परवर्ती का पदादि अक्षर यदि अनुदात्त हो तो पूर्ववर्ती पद के अन्तिम उदात्त अक्षर के साथ एकादेश

१ ऊमये प्रशिष्ट (तै. २०, ५)।
 इच्छाम् एव एवेन इच्छोर्ल्य संसुत।
 उदात्तपदानुशातेन प्रशिष्टा भवति एवा ॥ (स्वराप्रत्यये दर्शित ८१)।
 २. ऊर्इस्यपद एवमैदुम्य (पा. ६, १, १०१)। ३. यदिद्याबोत्तरात् इत् (पा. ६, २, १३३)। ४. तस्माद्भारताः अभिनिहत (तै. २०, ४)।
 ५. संसुतमैशोभ्यतनी संसुतमिहनी च तम्।
 प्रशिष्टं च कम्पस्यि एव ताः—> कम्प ॥ (शब्द ३, १८)।

को स्वरितत्व विकल्प से होता है^१ इस पाणिनीय-सिद्धान्त के अनुसार दोनों निर्दिष्ट स्थलों में परवर्ती 'अग्निः' शब्द अन्तोदात्त है और 'अहः' शब्द स्वरितान्त है। 'अनुदात्त पदमेकवर्जम्' (पा. ६,१,१५८) सूत्र के अनुसार शेष पहले दोनों 'अ' अनुदात्त हैं। अनुदात्त 'अ' के साथ पूर्ववर्ती 'अध्वरे' के 'रे' तथा 'यद्' शब्द के 'यो' दोनों उदात्तों का एकादेश स्वरित है। जिसकी प्रतिपत्ति कम्प-स्वर के चिह्न से स्पष्ट है। ऐसे ही रायोऽवर्तिः (ऋ. १,४,१० पपा. रायः। अवर्तिः) में भी समझें।

४. संहिता-स्वरित

इस स्वरित को प्रातिशाख्यों में प्रातिहृत-स्वरित कहा गया है^२। उदात्त अक्षर से पर में अनुदात्त को संहिता में स्वरित होता है^३। अग्निम्। ईळे। यह दो भिन्न पद हैं। संहिता-पाठ में 'ग्निम्' इस उदात्त से परवर्ती 'ई' अनुदात्त को स्वरितत्व होकर संहिता-पाठ में अग्निर्मीळे (ऋ. १,१,१) यह स्वरित-विशिष्ट पाठ बन गया है (देखें पृष्ठ ११-१२ तथा ७६-८०)। यह नित्य-स्वरित तथा सन्धि-स्वरित दोनों से विलक्षण निर्विकार स्वरित है।

यदि अन्वयवहित पर में उदात्त या स्वरित अक्षर विद्यमान हो तो पूर्ववर्ती अनुदात्त को स्वरितत्व नहीं होता^४। जैसे—प्र य आरः (ऋ. ३,७,१) इस स्थल में लिट् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'आरः' अन्तोदात्त है, और उसका पूर्ववर्ती 'आ' अनुदात्त 'यः' उदात्त से पर में होकर भी स्वरित नहीं है। क्वोऽग्नाः प्राग्भीर्वाः (ऋ. ५, ६१,२) में 'वः' स्वरित पर में रहते पूर्व अनुदात्त 'आः' को स्वरितत्व नहीं है। बल्कि दोनों स्थलों में सन्नतर है।

। इसी संहिता-स्वरित के दो भेद हैं—१. पाद-युक्त^५, २. तैरो-व्यञ्जन^६।

१. स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (पा. ८,२,६) २. अपि चेवानापस्वमुदात्तम् अप्येत् साहितेन त्रिभिन्ना स्वर्पने य प्रातिहृतः (तैसा. २,०,३)। ३. उदात्ताऽनुदात्तस्य स्वरिताः (पा. ८,४,६६)। ४. मोदात्तस्वरितोऽप्यमगार्यद्वारपय-गात्रयानाम् (पा. ८,४,६७)। ५. परविहृत्यां पादयुक्तः (तैसा. २,०,६) स्वरितैरन्विर्विपुतिः। ६. उदात्तपूर्वतोरे व्यञ्जनः (तैसा. २,०,७)। एवपरिपो-दात्तपूर्वः व्यञ्जनस्यद्विगः स्वरित इत्यर्थः। उदात्तपूर्वनिपती क्विपाया व्यञ्जनेन वा स्वर्पनेऽन्विताम् (ऋसा. ३,१७)।

१. पादवृत्त-स्वरित—दो पदों की विवृत्ति (अ-सन्धि) में यह स्वरित होता है। जैसे—स ईधानः (श्रु. १,७६,५)। यहाँ परवर्ती 'इ' के कारण 'स' शब्द के 'सु' का लोप है। इस लिये गुण-संधि होगी नहीं। परवर्ती 'ईधानः' शब्द √निइन्धी 'दीप्तौ' से 'दानश्' प्रत्यय या 'दानश्' प्रत्यय ऋके चित्-स्वर से अन्तोदात्त शब्द है। शेष अक्षर अनुदात्त होने से संहिता-पाठ में उदात्त 'सः' से परवर्ती 'इ' को यह स्वरित हुआ है। ता ब्रह्म्य सूत्रबोधम् (श्रु. ८,६६,३) और ता सामान् सृष्टा (तै ०,१,२,१) इन दोनों स्थलों में भी दीर्घ-सन्धि न होकर पादवृत्त-स्वरित हो रहा है। दो स्वरो की अ-सन्धि में स्वरित होना ही पादवृत्त-स्वरित है। प्रवगम् (श्रु १०,३२०,३)। यहाँ एक ही पद में 'म' और 'अ' की अ-सन्धि में पाद-वृत्त-स्वरित है।

२. तैरोव्यञ्जन-स्वरित—जहाँ पूर्ववर्ती उदात्त और परवर्ती अनुदात्त के मध्य में किसी व्यञ्जन वर्ण का व्यवधान हो, उस स्थिति में निष्पन्न स्वरित को तैरो-व्यञ्जन कहेंगे। तैरोव्यञ्जन यह सद्धित शब्द है, जो कि 'तिरो-व्यञ्जन' (व्यञ्जन से व्यग्रहित) शब्द से निष्पन्न है। यह स्वरित दो भिन्न पदों में भी और एक पद के मध्य में भी होता है। दो पदों का उदाहरण—भृग्निर्वीळ (श्रु. १, १,१) है। यहाँ 'नि' उदात्त और 'ई' अनुदात्त के मध्य में एक व्यञ्जन वर्ण 'भृ' वर्तमान है। एक पद का उदाहरण—विधे देवाम (श्रु १,२,०) है। यहाँ एक ही 'विधे' शब्द में 'वि' उदात्त और 'ए' अनुदात्त के मध्य में 'श' और 'व' दो व्यञ्जन हैं।

५. पदपाठीय-स्विति

शुक्ल-यजुर्वेद में दो अन्य स्वरितों का भी निरूपण है। जिनका सम्बन्ध पदपाठ से है। १. तैरोपिरोम-स्वरित २. तामामाव्य-स्वरित।

[१. तैरोपिरोम स्वरित—समाप्त-पद के पद-पाठ में जहाँ अक्षरों के पूर्ववर्ती अक्षर उदात्त है, और अक्षरों में उत्तरवर्ती अनुदात्त अक्षर स्वरित हुआ विश्रुत है, तो उसे अक्षरों के व्यवधान से युक्त स्वरित

को तैरोविराम कहा जायेगा^१। तैरोविराम शब्द तद्धित है जोकि तिरौ-विराम (विराम=अवग्रह से तिरस्=व्यवहित) शब्द से निष्पन्न है। जैसे—गोपतौ (मा. १, १) का पद पाठ गोपताधित्तौ गोपतौ है। यहा 'गो' शब्द उदात्त है। उसके बाद रिक्त स्थान अवग्रह का सूचक है। इससे आगे 'प' यह स्वरित अक्षर है। इसी स्थिति के स्वरित को तैरोविराम-स्वरित कहेंगे। यही पदपाठीय स्वरित सहिता पाठ में तैरोव्यञ्जन-स्वरित कहलाता है।

७ तथाभाव्य स्वरित—यदि समस्त पद के पद-पाठ में आदि में भी उदात्त और अन्त में भी उदात्त हो, मध्य में अवग्रह से पूर्व अक्षर अनुदात्त हो, तो ऐसी स्थिति में निष्पन्न स्वरित को तथाभाव्य स्वरित कहेंगे^२। तथाभाव्य शब्द तद्धित है। तथा-भाव (=आदि अन्त में उदात्त की समान स्थिति) शब्द से बना है। जैसे—तनून्पत्रे (मा १, ५) का पद-पाठ तनून्पत्रेइतितनून्पत्रे है। यहा 'तनू' का उदात्त 'त' अक्षर आदि में तथा 'पत्रे' का उदात्त 'न' अक्षर अन्त में है। दोनों के मध्य में अनुदात्त 'नू' अक्षर अवग्रह से पूर्व विद्यमान है। यह तथाभाव्य स्वरित कहलायेगा। यथार्थ में यह अनुदात्त प्रतीत होने वाला 'नू' स्वरित था, क्योंकि 'तनू' शब्द में आदि 'त' के उदात्त होने पर शेष अनुदात्त 'नू' को सहिता-स्वरित से स्वरित ही गया, परन्तु आगे पत्र शब्द के आदि उदात्त 'न' की प्रतीति कराने के लिये पूर्ववर्ती स्वरित 'नू' को सन्नतर हो जाने से 'नू' अनुदात्त है।

१ उद्यमग्रहस्तैरोविराम (शुभ्र १ ११६)। उद्यमग्रह = उदात्ताग्रह। अवग्रहात् पूर्वम् उदात्तान् इति भावः।

अग्रमहात् पौ यन्तु स्वरित स्यादात्ता।

तैरोविराम त त्रिषद् उदात्ता यद्यग्रहः॥

(पाणि स्वामिन्याय ८३)।

२ उदात्तान्ता न्यग्रमग्रहस्तापामस्य (उभा १ १२०)। उदात्तादिर् उदात्तातो भीषामग्रहस्तापामस्य स्वरित इत्यर्थः।

उदात्तात्तापामस्य भवेन्न चम्यग्रहः।

तापामस्य भवेत्पत्र तनून्पत्रे त्रिदन्ताम्॥

(पाणि न्यग्रमग्रह ८५)।

माध्यन्दिनशास्त्रीय औजिह्वायनक आचार्यों के मत में यह स्वरित नहीं बन्प है^१। स्वरित में तो उदात्त अनुदात्त मिलकर एक-प्राण हो जाते हैं। वहाँ अवग्रह से पूर्व उदात्त और अनुदात्त दो भिन्न स्वर दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

६. विभिन्नशास्त्रीय-स्वरितचिह्न

स्वरित-चिह्नों के दिग्दर्शन से पूर्व स्वरित शब्दों की निष्पत्ति पर व्यापक विचार कर लेना चाहिये। जो शब्द कृत्तन्त या तद्धित प्रक्रिया से यत्-प्रत्ययान्त होते हैं, वहाँ सर्वत्र 'मित् स्वरितम्' (पा. ६, १, १८५) सूत्र की सामर्थ्य से स्वरितत्व प्राप्त है। परन्तु 'नी' शब्द के शुल्ब' शब्द को छोड़कर अन्य द्वयच् (दो अक्षरों वाले) शब्दों को सर्वत्र 'यनोऽनाव' (पा. ६, १, २१३) सूत्र से आनुदात्तत्व होता है (पृ. ६२१ भी देखो)। यह ध्यान देने योग्य है कि नित्य-स्वरित और संधि-स्वरित में स्वरित अक्षर से पूर्व सन्नतर (अनुदात्त) का चिह्न अनिवार्य है। क्योंकि संधि-नियम से उदात्त ही स्वरित में परिणत होता है अतः उदात्त से पूर्व की सन्नतर (अनुदात्त) की निम्न रेखा स्वरित से पूर्व भासती है और संहिता-स्वरित में इनसे विपरीत स्थिति है। वहाँ स्वरित से पूर्व अनुदात्त का चिह्न नहीं लगता। क्योंकि वहाँ पर पूर्ववर्ती अक्षर उदात्त होता है।

ईदृश, वन्धं, वायं, शंखं, शोषं शब्द द्वयच् (दो अक्षर वाले) हैं। धातु में कृत्य (यत्) प्रत्यय करके निष्पन्न हैं। यत्-प्रत्ययान्त न होने के कारण 'यनोऽनाव' (पा. ६, १, २१३) से आनुदात्त भी नहीं होने चाहिये, अर्थ में हैं परन्तु सब आनुदात्त शब्द ही, इस लिये 'ईदृशन्' (पा. ६, १, २१४) इत्यादि विशेष सूत्र से वहाँ आनुदात्तत्व की व्यवस्था हो जाती है (देखें पृ. ६२३)। और तित्-स्वर का अकारण नहीं रहना। 'शुभं' शब्द दो अक्षर वाला भी है, यत्-प्रत्ययान्त भी है, परन्तु 'यनोऽनाव' से बढ़ा आनुदात्तत्व नहीं होता, प्रत्युत तित्-स्वर

१. माध्यन्दिन-विशेषी स्वयम् तादात्म्यवन्तु य स्वर ।

स्वरी शेषत्र एतेने भिन्नोदात्तानुदात्तौ ॥

शान्तौ एतौ मीधउरुवनेर्मल्लक लक्ष्मि ।

तादात्म्यवदे मनेषु एवमन्तुः प्रे निर्दिताम् ॥

(एतौ स्वस्वरस्ये ८१)।

से अन्त स्वरित ही होता है। इसमें प्रमाण 'सु' शब्द से पर में 'वीर्य' शब्द को आद्युदात्त सिद्ध करने के लिये 'वीर्यवीर्यं च' (पा. ६,२,१२०) सूत्र में विशेष कर 'वीर्यं' शब्द का ग्रहण है। अन्यथा 'वीर्यं' शब्द द्वयच् ध्वञ् और यत्-प्रत्ययान्त होने से यतोऽनावीय-स्वर से ही आद्युदात्त सिद्ध था, और 'आद्युदात्तं द्वयच् इन्दति' (पा. ६,२,१०६) सूत्र से 'सु' शब्द से पर में आद्युदात्त ही रहता, फिर सूत्र में आद्युदात्तत्व करने के लिये 'वीर्यं' शब्द का ग्रहण इस रहस्य में ज्ञापक है कि महर्षि पाणिनि की दृष्टि में 'वीर्यं' शब्द में यतोऽनावीय-स्वर से आद्युदात्तत्व नहीं प्रत्युत तित् स्वर से स्वरित प्राप्त है। समास में उत्तर-पद के आद्युदात्तत्व के लिये इस लिये विशेष सूत्र में वीर्य-शब्द को पढ़ा। ऐसे ही अक्षः (श्रु. १०,१४४,४) भी अन्त-स्वरित है। तीन वर्णों वाले 'इष्व्यं' आदि यत्-प्रत्ययान्त शब्दों में तित्स्वर से स्वरित ही होगा।

(अथ वेद की प्रत्येक शाखा के विभिन्न स्वर-चिह्नों पर ध्यान दीजिये। १. नित्य-स्वरित, २. सन्धि-स्वरित, ३. संहिता-स्वरित का क्रम से विवेचन इस प्रकार है।

१. ऋग्वेद में जात्य (नित्य-स्वरित) में स्वरित-चिह्न का प्रकार यह है—

(क) यदि स्वरित अक्षर का परवर्ती अक्षर अनुदात्त होगा, तो स्वरित का चिह्न स्वरित अक्षर के ऊपर उर्ध्वरेखा (') होगा। पद-पाठ हो या संहिता-पाठ स्वरित से पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे सन्नतर (अनुदात्त) का चिह्न निम्न-रेखा (-) होगा। जैसे—कृष्यां षष्ठी से (श्रु. ३,३३,१०), वीर्यं षष्ठोः (श्रु. १,८०,८)। यहाँ 'कृष्यां' और 'वीर्यं' शब्दों से पर में अनुदात्त अक्षर हैं, उदात्त नहीं। इसलिए 'ष्यां' और 'र्यं' पर उर्ध्व-रेखा है।

(ख) यदि स्वरित अक्षर से परवर्ती उदात्त अक्षर है, तो ह्रस्व स्वरित के लिए १ ऐसा ह्रस्व-वर्ण का चिह्न तथा दीर्घ स्वरित के लिए ३ यह दीर्घ-वर्ण का चिह्न लगेगा। संहिता-पाठ में सर्वत्र यही सिद्धान्त है। पद-पाठ में द्वि-उदात्त शब्दों में है (देखें श्रु. २३)।

ह्रस्व-वर्ण का उदाहरण जैसे—कृष्यां वीर्यः (श्रु. ४,१०,१)। यहाँ 'ष्य' उदात्त अक्षर परवर्ती है, और उसके पूर्व 'ष्य' स्वरित के ह्रस्व होने के कारण ह्रस्व-वर्ण का चिह्न १ है। वीर्यं परवर्ती

(श्र. २, १३, १९) । यहां परवर्ती 'प्' उदात्त के कारण पूर्ववर्ती ह्रस्व 'धं' स्वरित को $\frac{1}{2}$ ह्रस्व-कम्प का चिह्न लगा हुआ है। ऐसे ही—
धीर्यं $\frac{1}{2}$ तव (श्र. १, ५७, ५) है ।

दीर्घ-कम्प का उदाहरण जैसे—के $\frac{1}{2}$ दानाम् (श्र. १, ३५, ७) । यहां गुण-सन्धि से कं+इ>के यह दीर्घ-स्वरित की स्थिति है। परवर्ती उदात्त 'दा' के कारण दीर्घ-कम्प का चिह्न $\frac{1}{2}$ लगा है। ऐसे ही—
कन्या $\frac{1}{2}$ नामभिः (श्र. १, १६१, ५) ।

(ग) आधे मन्त्र के अन्त में स्वरित अक्षर हो और मन्त्र के अर्थ-भाग के आदि में उदात्त अक्षर हो, तो कम्प-स्वर का चिह्न नहीं लगता। जैसे—त्रीर्यं । यद् (श्र. १, ८०, ७) । यहां मन्त्र के पूर्वार्ध के अन्त में 'वीर्यं' है, और शेष मन्त्र के आदि में 'यद्' है । यहां उदात्त पर में होते हुए भी कम्प का चिह्न नहीं है ।

(घ) सन्धि-स्वरित में भी यही व्यवस्था है। जैसे—अप्स्व $\frac{1}{2}$ न्तः (श्र. १, २३, १६) । स्त्राप्य $\frac{1}{2}$ ः पर्वमानास (श्र. ६, ३१, १) ये दोनों उदाहरण चैत्र-स्वरित के हैं। अप्स्व+अन्त. में पूर्वापर सन्धि से 'उ' को 'व्', और स्वाधी+अस् में 'इ' को 'व्' हुआ है। 'अप्स्व $\frac{1}{2}$ न्त' में उदात्त अक्षर 'न्त' पर में है। अन्तर् (निपात) अन्तोदात्त है। 'स्त्राप्यं' शब्द के पद-पाठ में तो ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित ही होगा, परन्तु सहिता पाठ में 'पर्वमानास' का 'प' उदात्त पर में होने से कम्प का चिह्न लगेगा। 'पर्वमान' शब्द $\sqrt{\text{पूङ्}}$ 'पवने' धातु से 'शान्' प्रत्यय करके नित्-स्वर से आद्युदात्त है ।

(ङ) धी $\frac{1}{2}$ वार्यं (श्र. ७, २४, ५) । यह प्रथिलष्ट-स्वरित का निदर्शन है। पाणिनीय-न्याय में इसी सन्धि को दीर्घ-सन्धि कहते हैं। यहां ध्रि+इव्+भर्यः इन तीन शब्दों की सन्धि में ध्रि+इव् के पूर्वापर 'इ' की प्रथिलष्ट-सन्धि और इव्+भर्यः में पूर्वापर अनुदात्त के साथ उदात्त 'भ' के एकादेश^१ से 'वा' उदात्त है। प्रथिलष्ट-स्वरित में भी दीर्घ-स्वरित की स्थिति दीर्घ-कम्प ($\frac{1}{2}$) से दिखाई गई है ।

(च) हितो $\frac{1}{2}$ भि (श्र. ६, २५, २) । यह अभिनिहत स्वरित (पाणिनीय-संप्रदाय में पूर्वरूप-सन्धि) का उदाहरण है। हि (त >) तो+अभि

१. एकादेशो. शान् (पा. ३, २, १२८) । २. एकादेश उदात्तेनादात्तः (पा. ८, २, ५) ।

इस स्थिति में पूर्व-रूप होकर 'तो' उदात्त और 'य' अनुदात्त के योग से स्वरित है। 'अभि' उपसर्ग अन्तोदात्त है, शेष आदि का 'अ' अनुदात्त है। √धा धातु से क्त-प्रत्ययान्त 'हितः' शब्द अन्तोदात्त है। इस प्रकार निष्पन्न दीर्घ-स्वरित का ज्ञान कराने के लिए ३ यह दीर्घ-कम्प का चिह्न लगा है।

(छ) संहिता-स्वरित को ही प्रातिशाख्यों में प्रातिहत-स्वरित कहा गया है। इसका चिह्न संहिता-पाठ में या पद-पाठ में ऊर्ध्व-रेखा है। परन्तु इससे पूर्व बिना चिह्न का उदात्त अक्षर होना अनिवार्य है। सन्नतर (अनुदात्त) की नीचे पड़ी रेखा (—) पूर्व में नहीं होगी। उदाहरण 'अग्निर्मलि' (ऋ. १,१,१) आदि हैं।

२. (क) शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा (प्रसिद्ध यजुर्वेद) में संहिता-स्वरित की स्थिति ऋग्वेद के समान है। जैसे—शिवसंकल्पम् (मा. ४३,५) में अन्तोदात्त 'शिव' शब्द के 'संकल्प' शब्द के साथ बहुव्रीहि-समास में पूर्व-पद की प्रकृति 'शिव' का अन्तोदात्त-स्वर श्रूयमाण है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा. ६,१,१५८) के नियम से शेष सत्र अक्षर अनुदात्त है। 'य' उदात्त से पूर्व 'शि' अनुदात्त के नीचे सन्नतर की निम्न-रेखा है। 'व' उदात्त से परवर्ती अनुदात्त 'स' पर संहिता-स्वरित की ऊर्ध्व-रेखा का चिह्न है। और शेष एक-श्रुति है।

(ख) निरय-स्वरित हो या संधि-स्वरित, पद-पाठ हो या संहिता-पाठ यदि स्वरित अक्षर का परवर्ती अक्षर अनुदात्त है तो स्वरित का चिह्न (L) स्वरित अक्षर के नीचे लगता है। इस स्वरित-चिह्न से युक्त स्वरित अक्षर से पूर्व सन्नतर की निम्न-रेखा वाला अक्षर अनिवार्य है। जैसे—तीर्थमण्डोव (मा. २,८) द्वीयेण (मा. ५२०) फुःषा इव (मा. १७,६०) निप्रभ्या सः (मा. ६,२०) आदि में यहाँ सर्वत्र स्वरित से पर में अनुदात्त अक्षर है और पूर्व में सन्नतर के चिह्न वाला अक्षर है।

(ग) यदि नित्य-स्वरित या संधि-स्वरित का परवर्ती अक्षर उदात्त है, तो परवर्ती अक्षर के नीचे (—) यह स्वरित का चिह्न लगाया है। यह स्वर ऋग्वेद के कन्ध-स्वर का प्रतिनिधि है। जैसे—शुभं गपि वेदि (मा. १६,१)। पूष्टेजस्ये (मा. ४,०)। युोऽग्नात् (मा. १,८)। शुष्पुन्त. (मा. ६,१) आदि में सर्वत्र उदात्त अक्षर पर में रहते निर्दिष्ट स्वरित का चिह्न है।

(घ) यदि मन्त्रारम्भ में स्वरित प्रचर हो तो स्वरित का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा ही होगा। जैसे—*अथर्व-रेखा* (मा. ३, ५८, ६०)।

(ङ) यदि मन्त्रार्थ के आदि में उदात्त अक्षर हो, और उसके पूर्ववर्ती मन्त्रार्थ के अन्त में स्वरित अक्षर हो तो स्वरित का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा ही होगा। जैसे—*वसुधैव कुटुम्बकम्* (मा. ३, २५)।

३. (क) शुक्ल-यजुर्वेद की काण्व-संहिता में सधि-स्वरित का ज्ञान कराने के लिए अनुदात्त अक्षर पर मे हो तो ऋग्वेद के समान ही ऊर्ध्व-रेखा का चिह्न लगेगा। जैसे—*विष्णो ध्रुवोऽसि* (काण्व. ५, ५, ९)। यहाँ 'ध्रुवोऽसि' अभिनिहित स्वरित का उदाहरण है। पूर्ववर्ती अनुदात्त (सन्नतर) अक्षर 'ध्रु' से पर मे 'वो' स्वरित के बाध के लिए ऊर्ध्व-रेखा है। और उसके पर मे अनुदात्त अक्षर 'सि' वर्तमान है। माध्यन्दिन-संहिता (५, २१) में यही मन्त्रांश 'विष्णो ध्रुवोऽसि' है।

(ख) नित्य-स्वरित में भी यही स्वरित-चिह्न का प्रकार है। जैसे—*धीर्योगि* (काण्व. ५, ५, ६)। माध्यन्दिन-संहिता में यही शब्द *धीर्योगि* (मा. ५, १८) है।

(ग) ऋग्वेद के कल्प-स्वर के स्थान में माध्यन्दिन-संहिता में स्वरित का चिह्न (०) ऐसा है। परन्तु इसके स्थान में काण्व-संहिता में (—) ऐसी निम्न-रेखा है। जैसे—*योऽश्वाय* (५, ३, २)। माध्यन्दिन-संहिता में *योऽश्वाय* (मा. ५, ६)। काण्व-संहिता में *प्रसुतोऽश्विनो* (का. ५, ७, १)। माध्यन्दिन-संहिता में *प्रसुतोऽश्विनो* (मा. ५, २६)। काण्व-संहिता में *योऽश्वाय* (का. १, ६, ७)। माध्यन्दिन-संहिता में *योऽश्मान्* (मा. १, ८)। यह सब उदाहरण अभिनिहित स्वरित के हैं।

(घ) क्षेम-स्वरित में काण्व-संहिता में *अप्स्वन्तः* (का. १०, २, ३) माध्यन्दिन-संहिता में *अप्स्वन्त* (मा. ६, ६)।

(ङ) नित्य-स्वरित में काण्व-संहिता में *स्वर्धोरिव* (का. ५, १, ५) माध्यन्दिन-संहिता में *स्वर्धोरिव* (मा. ५, ५)।

(च) काण्व-संहिता में भी संहिता-स्वरित का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है।

४. (क) कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा का स्वरित-चिह्न सर्वत्र ऊर्ध्व-रेखा है। जैसे—*त्रिदधे धीर्योगि* (तै. ५, ६, १) में दो पद हैं। 'त्रिदधे' में संहिता-स्वरित है। प्रथम से *त्रि* (सन्नतर) 'ध'।

(उदात्त) 'धे' (संहिता-स्वरित) में स्वर-संचार का साधारण क्रम है। 'घीर्वाणि' शब्द नित्य-स्वरित का उदाहरण है। जहां 'घी' मन्तर के बाद 'यी' यह जात्य-स्वरित प्रत्यक्ष है। 'णि' एक-श्रुति है। ऐसे ही 'वर्षेस्वन्ते मनुःषु' (तै. ३, ३, १, २) में भी दो पद हैं। पहले पद में संहिता-स्वरित और दूसरे मनुःषु में नित्य-स्वरित। शेष चिह्न-शून्य अक्षर स्वरित के बाद एक-श्रुति के हैं।

(र) 'सुविः प्रसुवैःशिवोः' (तै. १, १, ४, २) में 'सुवितुः प्र०' तक संहिता-स्वरित है। जिसमें 'सु' (अनुदात्त) 'वि' (सन्नतर) 'तुः' (उदात्त) 'प्र' (संहिता-स्वरित) यह स्वर-क्रम है। शेष "सुवैःशिवोः" इतना अंश अभिनिहत-स्वरित (पूर्वरूप-संधि) का है। पूर्व-प्रतिपादित नियम के अनुसार यहां 'सु' (सन्नतर) के पश्चात् 'वैः' स्वरित पर ऊर्ध्व-रेखा का चिह्न है। जबकि परवर्ती उदात्त अक्षर 'वि' भी वर्तमान है।

(ग) 'उर्वन्तरिक्षम्' (तै. १, १, ४, २)। यह क्षीप्र-स्वरित का निदर्शन है। यहां 'उ' सन्नतर के बाद 'र' (उदात्त) और 'अ' (अनुदात्त) की यण-संधि से 'र्व' स्वरित की अभिव्यक्ति हुई है। क्षीप्र-स्वरित के पश्चात् 'न्त' उदात्त है। इस प्रकार तैत्तिरीय-शाखा में स्वरित-मात्र का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है।

३. कृष्ण-यजुर्वेद की मैत्रायणी-शाखा के दो संस्करण उपलब्ध हैं। पाश्चात्य विद्वान् श्योडार का संस्करण तथा सातवलेकर-संस्करण।

(क) पाठ और स्वर-निर्देश की दृष्टि से श्योडारमहोदय का संपादन अधिक परिष्कृत है। इस संस्करण में अनुदात्त और संहिता-स्वरित के चिह्न निर्दिष्ट नहीं हैं। सातवलेकर-संस्करण में सब स्वरों का यथावत् निर्देश है। जिनमें संहिता-स्वरित का चिह्न (०) अक्षर के नीचे होता है। यदि स्वरित अक्षर उदात्त के पश्चात् और सन्नतर के पूर्व हो। जैसे—यधुषे स्वाहा, मनुषे स्वाहा (तै. ३, १, २, १०)। यहाँ पर ऊर्ध्व-रेखा का चिह्न उदात्त का है। इस लिये 'ध' (उदात्त) 'धु' (संहिता-स्वरित) 'षे' (सन्नतर) फिर 'स्वा' (उदात्त) का स्वर-क्रम है। यही 'मनुषे स्वाहा' में भी क्रम है।

यदि सन्नतर पर में नहीं तो (L) ऐसा चिह्न होगा। जैसे—धिष्ण स्तपते (तै. १, २, १) में संहिता-स्वरित का चिह्न (L) अक्षर के नीचे निर्दिष्ट है। यहाँ 'धि' उदात्त से पर में 'ष्णुः' स्वरित है और इसके आगे सन्नतर का

चिह्न नहीं है। ऐसे ही—*मृच्छ* (मै. १,११,१०) में स्वरित के बाद सन्तर नहीं है।

(ख) नित्य-स्वरित और संधि-स्वरित के निर्देश के लिये यदि उदात्त अक्षर पर्यन्त न हो तो अक्षर के नीचे (◡) चिह्न लगता है। जैसे—*शुभंमस्मिन्* (मै. ३,२,८) में 'वी' (सन्तर) के आगे 'हुं' अक्षर जात्य-स्वरित है और उसके परचात् उदात्त अक्षर नहीं है। ऐसे ही *मनुष्येभ्यः* (मै. ३,६,१) में भी है।

(ग) संधि-स्वरित में लैप्र-स्वरित का उदाहरण जैसे—*न्युत्पत्तम्* (मै. १,१,१३) *अभिन्युक्तम्* (मै. १,१,५)। यहाँ दोनों क्रियाओं में विं+शु=शु इस प्रकार उत्तरवर्ती अनुदात्त अक्षर के साथ यण्-सन्धि से स्वरित है।

(घ) प्रथिलप्र-स्वरित का उदाहरण—*व्रीहि* (मै. १,२,२६) है। यहाँ रिं+शुहि=व्रीहि उदात्त तथा अनुदात्त की दीर्घ-सन्धि से स्वरित निष्पन्न है।

(ङ) अभिनिहित-स्वरित—*स्मृभोऽमि* (मै. १,१,७) में °मः+भुति =°भोऽमि यह पूर्वरूप-सन्धि से स्वरित बना है।

(च) उदात्त अक्षर पर में होते हुए भी पञ्चाक्षर जात्य-स्वरित का यही (◡) स्वरित-चिह्न है। जैसे—*सुः पश्य* (मै. १,३,३७)।

(छ) यदि उदात्त अक्षर पर में हो तो नित्य-स्वरित और सन्धि-स्वरित का बोध कराने के लिये स्वरित अक्षर के ऊपर (L) उर्ध्व-रेखा और उससे पूर्व ३ का अङ्क लगता है। जैसे—*जात्य-स्वरित—मुञ्चेत्पश्यं* (मै. ३,९,५)। *स्मेत्तुश्च तेजः* (मै. ३,६,७) आदि।

सन्धि-स्वरित—*उञ्चन्तस्मिन्* (मै. १,१,१२) तथा *तुश्चां ममुष्येति* (मै. ३,२,९) में लैप्र-स्वरित के पूर्व ३ अङ्क है। *आत्तेऽशौचः* (मै. २,६,१) में अभिनिहित-स्वरित के कारण 'शौऽ' के पूर्व तथा *शौचः* (मै. १,१,११) में प्रथिलप्र-स्वरित के कारण 'शौ' के पूर्व ३ अङ्क है। मयं पर में उदात्त है और 'शौ' के पूर्ववर्ती अक्षर पर सन्तर का निम्न-रेखा का चिह्न है।

६. कृष्ण-यजुर्वेद की षाठफ-शाखा में सर्वत्र स्वर का निर्देश उपलब्ध नहीं है। मैत्रायणी-शाखा के समान इसके भी श्योडाह संस्करण तथा सातवलेकर-संस्करण दो संस्करण हैं।

(क) मैत्रायणी के समान यहाँ भी अनुदान अक्षर पर रहते नित्य-स्वरित और सन्धि-स्वरित दोनों का चिह्न अक्षर नीचे सातवलेकर-संस्करण में (८) है और श्योडाह-संस्करण (८) ऐसा चिह्न है। जैसे—जात्य-स्वरित—असुयुम् (काठ ४, १३) षीयुम् (काठ ४, १५) है। ऐसे ही वीथान्तम् (काठ २, ६) भी है।

सन्धि-स्वरित में क्षीप्र स्वरित—उक्था-युम्, देवायुम् (काठ ४, १) श्युद्धम् (काठ ११, १३)। प्रश्लिष्ट स्वरित—गृहि (काठ २, ६)। न्द्वीव (काठ ३, ३)। अभिनिहत स्वरित—सोऽस्मै (काठ ११, १०) आदि। सर्व स्वरित चिह्न से युक्त अक्षर स्वरित है। इस शाखा में उदात्त या स्वरित से पूर्व सन्नतर का चिह्न ऋष्टिगत नहीं होता।

(ख) मन्त्र के आदि में स्वरित का चिह्न (७) है, यदि पर उदात्त हो। जैसे—हृ स्या वो मरत (काठ ६, १८)। स्मरण र काठक संहिता में भी मैत्रायणी के समान उदात्त का चिह्न उदा अक्षर के ऊपर उर्ध्व-रेखा है।

(ग) यदि उदात्त अक्षर पर में हो तो श्योडाह संस्करण नित्य-स्वरित या सन्धि-स्वरित में पूर्ववर्ती स्वरित अक्षर के नीचे स्वरित का चिह्न (८) है। और सातवलेकर संस्करण में (७) है। जैसे—वि स्व पश्य (काठ ४, ६) में नित्य-स्वरित स्व के नीचे स्वरित का चिह्न है। २३ वरिद्धम् (काठ ४, १)। वीहीन्द्रस्य (काठ १, ३) योऽस्मान् (काठ ३, ८) इन उदाहरणों में प्रथम से क्षीप्र, प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहत स्वरितों में स्वरित अक्षर के नीचे स्वरित चिह्न है।

(घ) इस शाखा में संहिता स्वरित का चिह्न उपलब्ध नहीं है।

७ (क) सामवेद की कौथुम शाखा में संहिता-स्वरित का सामान्य चिह्न अक्षर के ऊपर २ के अङ्क का चिह्न है। जैसे—आपाहि वातये, बहिषि (का १, १) सर्वत्र प्रथम से उदात्त अक्षर 'पा', 'त' हि के ऊपर १ सरया और संहिता स्वरित के कारण परधर्ती स्वरित के ऊपर २ सरया और सन्नतर (अनुदात्त) का चिह्न ३ सरया है।

(ख) नित्य-स्वरित (जात्य) तथा सन्धि-स्वरित के ज्ञान के लिये यदि उदात्त पर में न हो तो स्वरित अक्षर के ऊपर २ (२ संख्या से युक्त रेफ) का चिह्न है। जैसे नित्य-स्वरित—मनुष्यैः^{३क२र} (की. १,७६) में 'तु' अक्षर अनुदान (सन्नतर) है (स्वरित के पूर्ववर्ती सन्नतर अक्षर पर सामवेद में ३क का चिह्न लगता है)। उसके बाद 'व्यै' पर स्वरित का चिह्न निर्दिष्ट है।

(ग) सन्धि-स्वरित में—दैव्यैतु^{३क२र} (की. १,७६) में 'इ' सन्नतर के आगे 'वी+पु=वै'^{३र} क्षैप्र-स्वरित है। अन्यो न्यस्मिन् (की. १, ३१३) भी क्षैप्र-स्वरित का उदाहरण है। यहाँ 'न्यो' सन्नतर के आगे नि+अ=न्य^{३र} ऐसा यण्-सन्धि से क्षैप्र-स्वरित निष्पन्न हुआ है। ऐसे ही चम्बोः^{३क२र} (की. १,५१३) है। ऐसे ही प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहृत स्वरित की स्थिति जानें।

(घ) उदात्त अक्षर पर में होने पर नित्य-स्वरित और सन्धि-स्वरित में स्वरित अक्षर के ऊपर (२) का निर्देश और अक्षर के आगे ३ संख्या का चिह्न लगेगा। जैसे नित्य-स्वरित—स्यो३ यथा^{३क२} (की. २, ३३३)। यहाँ पाद के अन्त में 'यथा' शब्द का अन्तिम अक्षर अनुदात्त होने के कारण पड़ला अक्षर 'थे' उदात्त है। और उदात्त अक्षर पर में होने से नित्य-स्वरित 'थ्यो३' के लिए पर २ तथा आगे ३ संख्या का चिह्न है। और स्वरित से पूर्व सन्नतर 'र'^{३क} वर्तमान है। सन्धि-स्वरित में क्षैप्र-स्वरित का उदाहरण—तन्वो३ चारैधि (की. १,६५)। अन्वो३ मता (की. १,५१२)। दोनों स्थलों में ३ संख्या से युक्त स्वरित अक्षर के ऊपर २ का चिह्न वर्तमान है। पूर्ववर्ती सन्नतर पर अनुदात्त या ३ का चिह्न और परवर्ती उदात्त पर उदात्त का चिह्न है। अभिनिहृत-स्वरित में—रुमै३भि (की. २, ३७१), रुषै३म्भे (की. १,३३१), ति३भि (की. २,७०१)। यही न्याय प्रश्लिष्ट-स्वरित में भी है।

(ड) दो या तीन उदात्त अक्षरों के अनन्तरवर्ती संहिता-स्वरित के ऊपर भी रर का स्वरित चिह्न लगता है। जैसे—नि होता (की. १, १) में 'नि' और 'हो' दोनों उदात्तों के परवर्ती 'ता' स्वरित पर रर का चिह्न है।

८ शौनक-संहिता (प्रसिद्ध अथर्ववेद) में स्वरित के चिह्न प्रायः ऋग्वेद के समान हैं। अन्तर ररल्प ही है।

(क) संहिता स्वरित का चिह्न यद्वा पर भी ऋग्वेद के समान ऊर्ध्व-रेखा (१) है। जैसे—भुव विधमिदं जगन् (शो ६, १८, १)। यहाँ भी ऋग्वेद के समान 'भु' (सन्नतर) व 'वि' (उदात्त) 'ध' (स्वरित) 'मि' (सन्नतर) 'द ज' (उदात्त) 'ग' (स्वरित) यही क्रम संहिता-स्वरित का है।

(ख) उदात्त परवर्ती न हो तो ऋग्वेद में नित्य-स्वरित (जात्य) का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है। परन्तु अथर्ववेद में ऐसी स्थिति में स्वरित का चिह्न (५) यह है। जैसे—धीर्वाम् (शो १७, १)। मनुष्याः (शो ११, ७, २७)। वृत्राः (शो. १, १४, २)। वृत्र्याः (शो ६, ६६, २)। यह सब जात्य-स्वरित के उदाहरण हैं।

(ग) सधि-स्वरित में भी यही स्थिति है। जैसे—मह्यः (शो. ११, ८, २), न्यक्तपति (शो. ६, ६१, २)। यहाँ क्षैप्र-स्वरित है। अभीच्छाव (शो १२, २, ४)। यहाँ ऽमि+इ° के प्रश्लिष्ट स्वरित से 'भी' स्वरित के आगे स्वरित का चिह्न है। शत्रुहोमि (शो ६, ६८, ३)। अप्रतिष्ठानोऽनायतन (शो ११, ३, २ पठल] ४९) इन दोनों उदाहरणों में अभिनेह-स्वरित से अनुदात्त 'अ' के साथ पूर्ववर्ती उदात्त का स्वरित-स्वर है।

(घ) यदि उदात्त अक्षर परवर्ती हो तो जात्य-स्वरित या सधि-स्वरित में ऋग्वेद के समान ह्रस्व-स्वरित में ह्रस्व-कम्प १ का और दीर्घ-स्वरित में ३ ऐसा दीर्घ-कम्प का चिह्न होगा। (ऋग्वेद में यही दोनों कम्प ३ ३ हैं)।

{जात्य-स्वरित में जैसे—गण्युः३दधो (शो ६, ६६, २)। यहाँ परवर्ती उदात्त अक्षर 'द' ('दू' व्यञ्जन से युक्त 'ध') है। और पूर्व में दीर्घ स्वरित 'घ्या' के ज्ञान के लिए ३ का चिह्न है।}

(ङ) सधि स्वरित में क्षैप्र-स्वरित—व्यक्तपति (शो ६, ६१, २) सुभ्यः३ माम् (शो. ६, ८१, २) दोनों ररलो में क्रम से नि+अच् तथा

मुं+भृच् की यग्-संधि से लृप्त-स्वरित न्युं, सुभ्यं लिप्पन्न है उदात्त परवर्ती होने के कारण ह्रस्व-कम्प का ऽ चिह्न ह्रस्व-स्वरित के ज्ञान के लिए है।

प्रक्षिप्र-स्वरित—भृभीः (शौ. ६, १०६, ३) । यहाँ 'भृभि' शब्द के अन्तोदात्त 'भि' के साथ अन्तोदात्त 'भृ' शब्द के साथ अनुदात्त अक्षर 'ृ' का दीर्घ-संधि से प्रक्षिप्र-स्वरित 'भ्रीं' सम्पन्न हुआ है। दीर्घ-स्वरित के ज्ञान कराने के लिए मध्य में दीर्घ-कम्प का ऽ चिह्न है। क्योंकि 'भ्रीं' शब्द उदात्त पर में वर्तमान है। 'भृभि' का 'भृ' पूर्व में सन्नतर (अनुदात्त) के चिह्न से निर्दिष्ट है।

अभिनिहृत-स्वरित—अगुशोऽयसु (शौ. ५, २२, ६) । यहाँ पूर्वोत्प-संधि से अन्तोदात्त 'अगुः' शब्द के अन्तिम उदात्त अक्षर 'श' और 'अयम्' शब्द के साथ अनुदात्त 'अ' का अभिनिहृत-स्वरित 'शो' है। परवर्ती उदात्त 'य' के कारण दीर्घ-स्वरित का निर्देशक चिह्न ऽ साथ है।

६. अथर्ववेद की पैपलाद-शाखा में स्वरित के विलक्षण चिह्न हैं। यद्यपि सर्वत्र स्वर नहीं हैं।

(क) संहिता-स्वरित में स्वरित अक्षर के नीचे विन्दु लगता है। जैसे—शैत्र्यं परंती (पै. २, १, १) । पैपलाद-शाखा में भी उदात्त का चिह्न (') ऊर्ध्व-रेखा है। 'शै' उदात्त के परवर्ती संहिता-स्वरित 'श्र' के नीचे स्वरितत्व-बोधक विन्दु है। फिर आगामी ऊर्ध्व-रेखा से युक्त उदात्त 'य' के ज्ञान कराने के लिए पूर्ववर्ती सन्नतर 'स्य' के नीचे खड़ी रेखा अनुदात्त की परिचायक है (पृष्ठ ७५ देखें) ।

(ख) उदात्त पर में हो या अनुदात्त नित्य-स्वरित तथा संधि-स्वरित का बोध कराने के लिए (L) स्वरित-चिह्न है। जैसे—अमुंयुम् (पै. १, १०६, ३) वीषुम् (पै. १, ६५, ४) यद्वा सर्वत्र सन्नतर की निचली खड़ी रेखा के बाद 'युं' नित्य-स्वरित का निदर्शन वर्तमान है।

संधि-स्वरित—शुभ्रिः (पै. १, ११०, २) । यहाँ 'शु' सन्नतर के बाद वां+भृ=शु (यग्-संधि से संप्र-स्वरित है) जिसके नीचे संधि-स्वरित का चिह्न है। इससे आगे उदात्त अक्षर 'श्र' तथा उसके पर्याय संहिता-स्वरित से 'रि' फिर स्वरित है, जिसके नीचे विन्दु का चिह्न है। जैसे ही न्युं वांती वापि न्युः (पै. १, १११, १) में दो

सधि-स्वरित के और एक सहिता स्वरित का उदाहरण है। इन दो सधि-स्वरितों का पहला 'न्यक्' मन्त्र के आदि में होने के कारण सन्नतर से पर में नहीं है। दूसरा 'न्यक्' सन्नतर 'ति' से पर में है। 'तो' अक्षर उदात्त 'वा' से पर में सहिता-स्वरित का सूचक है।

(ग) विशेष प्रतिपत्ति के लिए प्रथमं ह्येतत् (पै. १,८३,२) का तुलनात्मक शौनक-शाखा का पाठ प्रथमं ह्येतत् (शौ १,३५२) प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ 'म' अक्षर सन्नतर के बाद 'न हि' यह दो उदात्त है। 'हि' के साथ 'एतत्' शब्द के अनुदात्त 'ए' का यण् सधि से 'ह्ये' सौप्र-स्वरित है। इसी लिए शौनक-शाखा में दीर्घ-कम्प का चिह्न ३ निर्दिष्ट है। ऐसे ही वीर्यम् (पै. १,६५,४) की तुलना ऋग्वेद के वीर्यम् (ऋ १०,६७,२१) से करें।

१०. (क) माध्यन्दिन-शाखा के शतपथ ब्राह्मण (वेवर-संस्करण) में स्वरितमात्र का ज्ञान कराने के लिए स्वरित अक्षर के पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे (=) दो पड़ी रेखायें लगाते हैं। परन्तु काण्व-शाखा के शतपथ-ब्राह्मण (कैलेड-मस्करण) में स्वरित अक्षर से पूर्व के अक्षर के नीचे केवल (-) एक नीचे पड़ी रेखा लगाते हैं। जैसे—जात्य-स्वरित—वीर्यन्त (माश. १,३,४,१)। मनुष्यान् विवेद (माश. १,२,५,२४)। यहाँ स्पष्ट 'यं' तथा 'व्य' स्वरितों के बोध के लिए पूर्ववर्ती अक्षरों 'वी' और 'नु' के नीचे दो पड़ी रेखायें हैं।

(ख) सधि-स्वरित में सौप्र-स्वरित—उर्वन्तरिचम (माश. १,१,२,४)। धर्मं ह्येतान् वर्धयति (माश. १,१,४,२०) यह दो उदाहरण हैं। पहले में यण्-सधि से उ+ध-त°=उर्वन्त° इस प्रकार 'धं' स्वरित का ज्ञान कराने के लिए 'उ' के नीचे दो निम्न पड़ी रेखाओं का चिह्न है। दूसरे उदाहरण में दो स्वरित हैं। एक 'ह्ये' (हि+ए°) स्वरित है, जिसके ज्ञान के लिए पूर्ववर्ती 'उ' के नीचे दो पड़ी रेखायें हैं। दूसरा 'धे' (ध+ए°) स्वरित है, जिसके बोध के लिए पूर्ववर्ती 'ह्ये' स्वरित अक्षर के नीचे दो पड़ी रेखायें विद्यमान हैं। प्रश्लिष्ट-स्वरित—पुत्रि नाभिचरोत् (माश. १,१,४,७) यहाँ 'वृ' और 'च' तो दोनों उदात्त हैं। दीर्घ-सधि से नु+ध°=ना° स्वरित के ज्ञान कराने के लिए पूर्व

अक्षर 'इ' के नीचे दो पड़ी रेखायें हैं। अभिनिहृत-स्वरित—एतद्देवोऽ-
स्या अपहते (माश. १, २, ४, १७) यहाँ °पु + अ° = °पो° स्वरित के ज्ञान
के लिए पूर्ववर्ती 'इ' के नीचे दो पड़ी रेखायें वर्तमान हैं।

११. काण्वशास्त्रीय शतपथ ब्राह्मण का उदाहरण जैसे—द्विद्वेष्यानि
(काश. २, ५, ३ १६) में 'द्विद्वेष्य' शब्द 'द्वैवान्तात् तादर्थ्यं यत्' (पा. ५,
४, २४) सूत्र से यन्-प्रत्ययान्त तथा 'तित्स्वरितम्' (पा. ६, १, १८५) सूत्र
से स्वरितान्त शब्द है। और 'व्य' के स्वरितत्व के ज्ञान के
लिए पूर्ण अक्षर 'व' के नीचे एक रेखा का चिह्न है।
ऐसे ही कुक्कुटोऽसि (काश. २, १, ३, २०) में 'ट' अन्तोदात्त के साथ अनुदात्त
'ध' के अभिनिहृत-स्वरित के ज्ञान के लिए पूर्ण अक्षर 'क्कु' के
नीचे एक रेखा है। माण्डूक्यनिघण्टु शतपथ में यही शब्द 'कुक्कुटोऽसि' (माश.
१, ४, १८) निर्दिष्ट है। सोऽभिमादत्त (काश. ४, ६, १, ४)। यहाँ 'सु' शब्द
दात्त है, उसके साथ आगामी 'ध' अनुदात्त के साथ पूर्वरूप-संधि से
'सु' अभिनिहृत-स्वरित है। 'सु' के नीचे पड़ी एक रेखा उसके
दात्तत्व को और स्वरितत्व को साथ ही बता रही है। ऐसे ही—
नृक्क्षेत्रानुचिन्दिन्ति (काश. १, ९, १३) इस उदाहरण में दो स्वरित हैं।
इहा अणु + णु = अण्वेणु में 'णु' उदात्त का परवर्ती अनुदात्त 'ए'
के साथ क्षप्र-स्वरित दिग्गते के लिए पूर्ण अक्षर 'अ' के नीचे स्वरित
की एक रेखा है। दूमरा णु + अनुचिन्दिन्ति = णुणा में अन्तोदात्त 'णु'
के 'व' के साथ क्रिया के आद्यक्षर 'व' अनुदात्त का प्रक्षिप्त स्वरित
है। उसके निर्देश के लिए पूरा अक्षर 'णु' के नीचे स्वरित का
चिह्न है।

१२. तैत्तिरीय-ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय प्रारण्यक के उदात्त, अनुदात्त,
स्वरित स्वरों का प्रथम चिह्न के समान हैं, अतः इनका पृथक्
उल्लेख नहीं। स्वरित-चिह्न का पूर्ण विवेचन आगे निर्दिष्ट तालिका से
स्पष्ट हो जाएगा।

क्रम-संख्या	वेद या ब्राह्मण	संहिता स्वरित	नित्य-स्वरित (जात्य)	संधि-स्वरित
१	ऋग्वेद	(उदात्त-पूर्व) ⊥	(सप्रतार पूर्व) ह्रस्व-स्वरित १ दीर्घ-स्वरित ३ (उदात्त पर में) ⊥ (अनुदात्त पर में)	नित्य-स्वरित के तुल्य
२	(शुक्ल-यजुर्वेद)	"	⊥ (अनुदात्त पर में)	"
३	साध्यन्दिन-संहिता	"	⊥ (अनुदात्त पर में)	⊥ (मन्त्र के आरम्भ में)
४	काश्य शाखा	"	- (उदात्त पर में)	⊥ (मन्त्र के आरम्भ में)
५	(कृष्ण-यजुर्वेद)	⊥	⊥ (अनुदात्त पर में)	⊥
६	सैत्तिरीय शाखा	⊥	⊥	⊥
७	मैत्रायणी-शाखा	⊥	(स्वरित से पूर्व) ३ संख्या (उदात्त पर में) ⊥ (अनुदात्त पर में)	नित्य स्वरित के तुल्य तथा एकार स्वरित का चिह्न (उदात्त पर में भी)
८	काठक-शाखा	अनुपलब्ध	^ या ⊥ (उदात्त पर में) ∪ (अनुदात्त पर में) (मन्त्र के आदि में) ⊥ (उदात्त पर में)	नित्य स्वरित के तुल्य
९	सामवेद (कौथुम शाखा)	(पुरु उदात्त से पर में) २ संख्या (दो उदात्तों से पर में) २२ (मन्त्र के अन्त में) २२	(अक्षर के आगे) ३ संख्या (उदात्त पर में) २२ (अनुदात्त पर में)	"
१०	शथर्ववेद (शौनक-शाखा)	⊥	ह्रस्व-स्वरित १ दीर्घ स्वरित ३ (उदात्त पर में) ⊥ (अनुदात्त पर में)	"
११	(पैप्पलाद शाखा)	रघरित के नीचे चिन्दु	⊥ (उदात्त पर में) या अनुदात्त पर में)	"
१२	शतपथ-ब्राह्मण (माध्यन्दिन)	(स्वरित के पूर्व अक्षर के नीचे) =	संहिता न्यरित के तुल्य	संहिता-स्वरित के तुल्य
१३	शतपथ-ब्राह्मण (काश्य)	" -	संहिता-स्वरित के तुल्य	"

इति श्रीश्रमरनाथशारित्रव्याकरणाचार्यप्रणीतो दशाध्यायो
वेदिकस्वरसमीक्षाख्यो ग्रन्थः समाप्तः ॥

वंशादि-परिचय

ख्याते रावलपिण्ड्यास्तु, मण्डले श्वेतमाऽऽह्वये ।
मोक्षालवंश-जाताना, कर्णालाग्राम-वासिनाम् ॥१॥

याया प्रागेतिविख्यातस्तदीये छिद्यराऽन्वये ।
धन्यो भाई मतिदासो धर्मार्थं जीवनोत्सुजाम् ॥२॥

तदंशे जितरामस्य पीत्रोऽयाऽर्जुनदास-जः ।
काशिगामस्तु जनको, जननी च सरस्वती ॥३॥

जातं दोवेरन-ग्रामे पुत्रं त्यक्त्वा दिवं गतौ ।
लक्ष्मीः पितृष्वसा त्वेनं पालयित्वा स्तनन्धयम् ॥४॥

प्राचेरायद् ऋषिकुले पुण्ये भागीरथी-वटे ।
तत्र घूटरक्षा-मिथहरिवंशादि-सूरिभिः ॥५॥

वृत्तो व्यानरखेऽधीती तथा द्रव्येज्ञाऽऽह्वयैः ।
ग्रन्थ-वृत्तं कौस-कालेजे तिवारीविप्रतिष्ठितम् ॥६॥

देवनारायणात् काश्यां लब्ध्वा विशिष्टाद्यम् ।
र्थाचिध्वनाथमीत्यर्गमिमं ग्रन्थं प्रणीतान् ॥७॥



पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५६	३१	अप✓ह्	अप✓हु
१५७	८	ह्व्	हुव्
१५६	टिप्पण २	युष्मदस्मदो°	युष्मदस्मदो°
१५६	२१	'जम्नन्'	'जम्नन्'
१६६	६-१२ (चार पंक्तियां)	सधूदकम् से... नही हुई तरु	अशुद्ध है, नेष्ट है
१७०	टिप्पण ६	°वस्तेरो°	°वस्तैरो°
१७१	६	'इ'	'इ'
१७१	१०	हँ	है
१७५	७	कन्यत्र	कन्यात्र
१७५	१६	संहिता-पाठ	संहिता-पाठ
१७६	१७	'स'	'स'
१८०	२८	'द्वि'	'द्वि'
१८४	२१	वर्धपति	वर्धपति

अशुद्धि-शोधक पत्र

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	११ (टिप्पण में)	वैयुत्पादनाय	वैयुत्पादनाय
७	२२ (टिप्पण में)	बहुघोहि	बहुघोहि
८	१६	उच्चाऽधो-तिर्यं°	उच्चाऽधस्तिर्यं°
६	१६	एश्रोड	एश्रोड्
१३	२	सशिलष्ट	संशिलष्ट
१३	१५	सह (साह)	सह् (साह्)
१४	१४	क प्रत्ययान्त	अभि ✓ वृ से क प्रत्ययान्त
१६	११	परिऽगत्य	परिऽगत्य्
१६	१७	'र' से	'र्' से
२१	६	वर्धः, जघान	वर्धः, जघान्
२१	८	अविभः	अविभः
२१	२५	विश्वं ऋतेन	विश्वं ऋतेन
२२	१	'ळहं'	'ळह'
२७	१८	'ध्' होगा	'ध्' नहीं होगा
३२	४	स्वर्थे इति	स्वर्थे इति
३२	१६	पद है	पद है
३२	२०	'अन्या'	'अन्या'
३४	८	'इति'	'इति'
३५	२६	नीति	नीति
३८	१३	सुपुम	सुपुम
४०	६	अमी इति	अमी इति
४०	१०	वायो इत्	वायो इति
४०	टिप्पण २	समासोऽयम्	समासोऽयम्
४०	टिप्पण २	(भ्रमा. २१, ३१)	(भ्रमा. ११, ३१)
४३	टिप्पण १	पूर्वपदं	पूर्वपदं
४५	१६	सुटि-वग	सुटि-वग
४७	टिप्पण २	प्रतिपादनाऽम्°	प्रतिपादनाऽम्°

अनुद्धि-शोधक पत्र

पृष्ठ	पक्ति	अनुद्धि	शुद्ध
५१	१०	प्रुस्थानम्	प्रुस्थानम्
५१	द्विपद्य ४	(पा. १,४,६१)	(पा. १,४,६०)
५५	८	पत्र	पत्र
६८	१०	अयुज्यमान	अप्रयुज्यमान
६२	२१	आ । प्रद्रव	आ । प्रद्रव
६२	२३	उदात्त	उदात्तयुक्त
६५	शीर्षक में	अध्यायः	अध्याय
६६	द्विपद्य ४	पूर्वम् ^०	पूर्वम् ^०
७१	१२	अरवा भवय	अरवा भवय
७१	१७	त्वम्	त्वम्
७३	२५	भन्त्यामि	भन्त्यामि
७७	१२	शयपय-	शयपय-
८०	२५	भूत	भूत
१०५	२८	शान्त-प्रप ^०	शान्त-प्रप ^०
१०६	१३	क्रियते	क्रियते
११०	१३	एदमि	एदमि
११२	२७	जागति	जागति
११३	२७	परे में	पर में
१२१	१३	संज्ञाचञ्चामः	संज्ञाचञ्चामः
१३२	१०	अभ्यम्	आभ्यम्
१३६	१	शब्दा	शब्दा
१३६	५	भूपनये	भूरंतये
१३६	१६	भुवनपनये	भुवनपतये
१३६	२६	आपदात्	आपदात्
१४०	६	पूर्वरद	पूर्वरद
१४४	२६	स्व-सर्वोतिः	स्वसर्वोति
१४४	द्विपद्य ४	इप	इप
१४५	०	पुी (तम क)	पुी (तम क)
१४६	द्विपद्य ३	°नात्रवित्र°	°नात्रवित्र°
१५१	द्विपद्य ३	इपुहृदा°	इपुहृदा°

पृष्ठ	पक्ति	अनुद्ध	शुद्ध
१५६	३१	अप✓द्व्	अप✓द्व्
१५७	८	द्व्	द्व्
१५८	टिप्पण २	पुम्भदस्मदो°	पुम्भदस्मदो°
१५८	२१	'जग्मन्'	'जग्मन्'
१६६	६-१२ (अर पणिया)	सुर्ध्वद्वम् से .. नहीं दुर्ध्व तच्च	अनुद्ध है, गेट है
१७०	टिप्पण ६	°वेग्नेरो°	°वेग्नेरो°
१७१	६	'द्व'	द्व'
१७१	१०	द्व	द्व
१७९	७	पुम्भद्व्	पुम्भद्व्
१७५	१६	अद्विगा-पाठ	अद्विगा-पाठ
१७६	१७	'दी'	'दी'
१८०	२८	'दि'	'दि'
१८५	३१	द्वर्ध्वनि	द्वर्ध्वनि

